भारतीय शिक्षा सिद्धान्त

डा० सुबोध अदावाल

गर्ग-ब्रदर्स, १, कटरा रोड, प्रयाग

प्रकाशक
गर्ग ब्रदर्स
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९५३
द्वितीय संस्करण : मार्च १९५५
तृतीय संस्करण : जनवरी १९५७
चतुर्थ संस्करण : अक्टूबर १९५९
पंचम संस्करण : जनवरी १९६२
मूल्य ८)

पूज्यवर 'बाबूजी' तथा 'भाभी'
के चरणों में
समर्पित

मुद्रक
आर० एन० गर्ग
गर्ग प्रेस, प्रयाग

लेखक की अन्य कृतियाँ :—

सामान्य शिक्षा-सिद्धान्त
सामान्य शिक्षा-मनोविज्ञान
स्वप्नलोक का रहस्योद्घाटन
शिक्षा-दर्शन
Teacher Education In The United Kingdom

आमुख

भारतीय शिक्षा सिद्धान्त के विषय पर किसी पुस्तक के प्रणयन के लिए कैफ़ियत देने की विशेष आवश्यकता नहीं। शिक्षा-सिद्धान्त का विषय अनेक जटिल सिद्धान्तों, दार्शनिक विचारधाराओं, शैक्षिक धारणाओं तथा मत-भिन्नता के जाल से आवृत है। ऐसे क्षेत्र में घुसकर सुरक्षित निकल आना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी, कुछ ऐसा ही प्रयास मैंने किया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था एवम् शिक्षण प्रणाली के विषय में अनेक भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ हमारे बीच फैली हुई हैं। इन धारणाओं के व्यापक होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि हम शिक्षा के मूल सिद्धान्तों से भली भाँति परिचित नहीं। प्रत्येक विषय के कुछ मौलिक सिद्धान्त एवम् तथ्य ऐसे होते हैं जिनके आधार पर ही हमारा चिंतन तथा कार्यक्रम समुचित रूप से प्रगति कर सकता है। उन सिद्धान्तों एवम् तथ्यों के ज्ञान के अभाव में हमारे विचारों तथा कार्यों का प्रासाद बिना नींव की इमारत के समान ही रहेगा। शिक्षा के इन्हीं मौलिक सिद्धान्तों का ज्ञान भारतीय नागरिकों और शिक्षाविदों के लिये समान रूप से आवश्यक है।

भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त के विषय पर कोई पुस्तक अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। हिन्दी में तो इस विषय की पुस्तक है ही नहीं। अंग्रेज़ी में भी जो पुस्तकें शिक्षा-सिद्धान्त के विवेचन का प्रयत्न करती हैं वे प्रारम्भ से ही अपना मार्ग छोड़ देती हैं। वे प्रायः शिक्षण अथवा अध्यापन सिद्धान्तों का विवेचन करती हैं, शिक्षा-सिद्धान्तों का नहीं। शिक्षा के सिद्धान्त जीवन के दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं। अतएव, किसी एक दार्शनिक विचारधारा के अनुसार शिक्षा के सिद्धान्तों का निरूपण एक पुस्तक में तो मिल जाएगा, परन्तु सभी सिद्धान्तों का एक स्थान पर सम्यक् विवेचन तथा संतुलित दृष्टिकोण से निष्कर्ष-प्राप्ति का प्रयत्न अभी नहीं हुआ है।

यह संतुलित दृष्टिकोण भारतीय शिक्षा-सैद्धान्तिकों के लिए तो और भी अधिक आवश्यक है। देश की राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षा के उद्देश्य क्या

हों ? उद्देश्य प्राप्ति के लिये किन शिक्षा-संस्थाओं को कितना योगदान करना है ? इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्या प्रयत्न किए जाएँ ? तथा उद्देश्य-प्राप्ति के प्रयास का परीक्षण किस आधार पर हो ? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर देने के लिये अत्यंत संतुलित विचारधारा तथा विशद दृष्टिकोण की आवश्यकता है । कोई भी प्रगतिशील राष्ट्र विचारधारा की प्रगतिशीलता एवम् संतुलन का परित्याग नहीं कर सकता । हमें भी संकुचित एवम् रूढ़िगत विचार-परिधि से निकलकर प्रवैगिक तथा प्रगतिशील शैक्षिक विचारधारा को अपनाना चाहिए ।

एक महती शक्ति जिसने शिक्षा के क्षेत्र में आज आशातीत परिवर्तन कर दिए हैं मनोविज्ञान है । अभी तक हमारे शिक्षा-सिद्धान्तों में मनोविज्ञान का प्रभाव अत्यन्त अस्पष्ट रहा है । कुछ विचारक शिक्षा में दर्शन तथा मनोविज्ञान को परस्पर विरोधी शक्तियाँ भी मानते हैं, परन्तु जिस भारतीय संस्कृति में समन्वय की भावना आदि से अन्त तक भरी हुई है उसकी शिक्षा-प्रणाली में दर्शन एवम् मनोविज्ञान का सामंजस्य भी सफलता के साथ संभव है । इसी आधार पर मैंने इस पुस्तक में दार्शनिक एवम् मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है ।

पुस्तक में शिक्षा-सिद्धान्त की मूल बातों का विवेचन होने के कारण अनेक विषयों में मेरा और अन्य शिक्षाविदों का मतैक्य होना स्वाभाविक है, परन्तु कुछ स्थानों पर मतभेद भी उतना ही स्वाभाविक होगा । फिर, सिद्धांतों के विषय में मेरे अपने कुछ विचार हैं और मुझे उन विचारों में विश्वास है । आशा है पुस्तक न केवल शिक्षा विषय के पाठकों को रोचक तथा लाभदायक सिद्ध होगी अपितु अनेक शिक्षाविदों को भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर पुनः नवीन दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा भी देगी । इसलिये मैंने स्थान-स्थान पर शैक्षिक सिद्धान्तों को भारतीय स्थिति तथा राष्ट्रीय व्यवस्था पर घटित करके अपने सुझाव भी स्पष्ट व्यक्त कर दिए हैं ।

हिन्दी में किसी पुस्तक के प्रणयन में सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दावली की होती है । शिक्षा का विषय भी अब विकसित तथा वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्ण हो जाने के कारण उसके निमित्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग अपेक्षित है । किसी भी विषय का उच्च स्तर पर विवेचन करने में तो अर्थ का अनर्थ बचाने तथा केवल वास्तविक भाव प्रगट करने के लिये शब्दों के चयन में अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है । इस पुस्तक की पारिभाषिक शब्दावली का निश्चय अत्यन्त विचार विमर्श एवम् आपसी वाद-विवाद के पश्चात् किया गया है । कुछ नये शब्द भी युक्त हुए हैं जिनका प्रयोग प्रथम बार संभवतः कुछ खटकेगा पर

आशा है कि धीरे-धीरे वे उन्हीं अर्थों के लिये प्रयुक्त होने लगेंगे जिनमें मैंने उन्हें प्रयुक्त किया है। कहीं-कहीं मुझे अङ्गेज़ी के एक ही शब्द के लिये हिन्दी के दोहरे शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है जिसमे भाषा में प्रवाह तथा अर्थबोध बना रहे।

पुस्तक की भाषा संभवतः कुछ पाठकों को क्लिष्ट प्रतीत हो, परन्तु कोई भी विषय यदि उच्च स्तर पर प्रतिपादित एवम् प्रस्तुत किया जाएगा तो भाषा का कुछ क्लिष्ट हो जाना अवश्यंभावी है। हम यह भूल जाते हैं कि जिस अंग्रेज़ी का प्रयोग हम उच्च स्तर के विषय-प्रतिपादन में करते हैं वह भी सरल अंग्रेज़ी नहीं होती। हिन्दी का विद्यार्थी होने के नाते मुझे अच्छी हिन्दी ही अच्छी लगती है।

इस पुस्तक के प्रणयन में मुझे अनेक मित्रों से सहायता एवम् उत्साहवर्द्धन मिला है। पुस्तक के परिशिष्ट में दिए गए नवीन परीक्षणपत्र का नमूना तथा शिक्षाविदों का संक्षिप्त परिचय डा० सुश्री कीर्ति देवी सेठ, एम० ए०, एम० एड्०, डी० फ़िल्० द्वारा लिखा गया है। पुस्तक की अनुक्रमणिका कुमारी निर्मला हंडू, एम० ए०, एम० एड्० ने बनाई है। मैं दोनों का हृदय से आभारी हूँ। पांडुलिपि तैयार करने में मेरे शिष्य गोपीकृष्ण मिश्र ने जो अथक परिश्रम किया है वह केवल उन्हीं के वश की बात थी। वे मेरे अपने विद्यार्थी हैं और भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार उन्हें धन्यवाद देना अनुचित होगा। पुस्तक में स्थान-स्थान पर भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षाविदों की कृतियों से मैंने जो उद्धरण दिए हैं उनके लिये कृतज्ञताज्ञापन अपना कर्तव्य समझता हूँ। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में जिन प्रधान कृतियों ने इस पुस्तक की विचारधारा को प्रभावित किया है उनकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

मेरे लिये यह आशा करना स्वाभाविक है कि हिंदी शिक्षा-साहित्य में विचारपूर्ण कृतियों के मध्य इस पुस्तक को भी योग्य स्थान प्राप्त होगा।

शिक्षा विभाग
विश्वविद्यालय, प्रयाग।
कार्तिक पूर्णिमा, २०१०

सुबोध अदावाल

फिर से—

भारतीय शिक्षा सिद्धान्त के अब तक चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। पाठकों, विशेषकर विद्यार्थी वर्ग ने पुस्तक को अपनाया और इससे उन्हें लाभ हुआ है यह जानकर पुस्तक के विषय में मेरे विश्वास को बल मिला है। अनेक शिक्षा-विद् मित्रों ने इसकी प्रशंसा कर मेरा उत्साह बढ़ाया है। यद्यपि पुस्तक में अनेक संशोधन तथा संपरिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव मैं प्रारंभ से ही करता आया हूँ परन्तु समयाभाव के कारण यह कार्य अभी तक न हो सका। अब पुनर्मुद्रण के समय इसका अवसर मिला है।

इस नए संस्करण में दो अध्याय नए जोड़े गए हैं—एक भारतीय शिक्षा सिद्धान्त के मूलाधार पर और दूसरा शिक्षा तथा जनतंत्रवाद पर। भारतीय शिक्षा सिद्धांत पर किसी भी पुस्तक में प्रथम विषय के विवेचन की अनिवार्यता तथा उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। वर्तमान समय में भारतीय शिक्षा सिद्धान्त के क्षेत्र में जनतंत्रवादी प्रभाव का महत्व भी कम नहीं। आशा है इन दो नए अध्यायों से पुस्तक की उपयोगिता अवश्य ही बढ़ेगी। पुराने संस्करण में अन्तिम दोनों अध्याय परीक्षा-प्रणाली विषयक थे; इसमें दोनों को मिला दिया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक एक प्रकार से दोहराई गई है और यथास्थान नई सामग्री तथा नवीन तर्क एवम् तथ्य जोड़ दिए गए हैं। उचित स्थलों पर तद्विषयक भारतीय परिस्थिति का भी उल्लेख कर दिया गया है।

एक बात मैं पाठकों तथा विद्यार्थी वर्ग से फिर कहना चाहूँगा। मैंने पुस्तक में जानकर स्थान-स्थान पर विशद विवेचन, विस्तार-वर्णन, और उदाहरणों की संख्या-वृद्धि से बचने का प्रयत्न किया है। इससे पुस्तक संभवतः कुछ विद्यार्थियों को कहीं-कहीं कुछ दुरूह लगे। परन्तु, मेरा अपना विचार है कि यदि किसी पुस्तक में हर एक बात पूरी तरह से समझा कर सारे विस्तार के साथ लिख दी जाएगी तो अध्यापक उसमें अपनी ओर से क्या जोड़ेंगे, और विद्यार्थी वर्ग क्या नई बात स्व-प्रयत्न से खोजेंगे? इस पुस्तक में बहुत सी बातें इसीलिए केवल संकेत करके छोड़ दी गई हैं कि अध्यापकगण के लिए उचित योगदान का मौक़ा रहे और विद्यार्थियों को भी अपनी ओर से कुछ मानसिक प्रयत्न का अवसर मिले। दोनों से यह मौक़ा छीनकर मैं उनके साथ अन्याय नहीं करना चाहता।

प्रस्तुत संस्करण की अनुक्रमणिका डा० प्रभा जौहरी ने बनाई है। पारिभाषिक शब्दावली अंग्रेज़ी से हिंदी में भी दे दी गई है, जो उन्हीं का योगदान है।

शिक्षा विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

विजया दशमी, २०१८।

सुबोध अदावाल

विषय सूची

भारतीय शिक्षा सिद्धान्त

अध्याय १

शिक्षा, उसका अर्थ तथा विस्तार

शिक्षा का प्रभाव समस्त संसार में स्पष्ट ही परिलक्षित है। अनन्तकाल से मनुष्य कुछ न कुछ सीखता आया है, और उसी परिवर्त्तन के परिणाम-स्वरूप आज सभ्यता के इस ऊँचे शिखर पर पहुँच पाया है। शिक्षा द्वारा मनुष्य के आचार-विचार परिवर्तित होते हैं, और परिवर्तन ही जीवन है। इसीलिए शिक्षा जीवन तथा उसकी उन्नति का आधार है। प्रत्येक बालक इस संसार में जन्म के समय असहाय अवस्था में होते हुए भी शिक्षा का आधार पाकर धीरे-धीरे पूर्ण विकसित सामाजिक प्राणी बन जाता है, तथा अपनी अर्जित योग्यता से प्रकृति तक पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

केवल मनुष्य ही नहीं समस्त प्राणी-समाज इसी शिक्षा के बल पर अपना अस्तित्व बनाए हुए है। बिल्ली जब अपने बच्चों को चूहे पकड़ने की सीख देती है, और चिड़ियाँ जब अपने नन्हे-मुन्ने को घोंसले से बाहर निकल कर दाना चुगने के लिए प्रेरित करती हैं तो शिक्षा का महत्व और उसकी व्यापकता समस्त पशु-पक्षी समाज पर स्थापित हो जाती है। बूढ़े दादा जब अपने पोते की उँगली पकड़ कर धीरे-धीरे चलना सिखाते हैं तब उनके तथा अन्य पशु-पक्षियों के प्रयत्न में शिक्षा के मूल-तत्व ही छिपे होते हैं।

शिक्षा का यह महत्व अनन्त-कालीन है क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध जीवन की अनन्तता के साथ है। जब से प्राणियों का अस्तित्व माना जाय तभी से शिक्षा का भी अस्तित्व मानना होगा। प्रत्येक समाज अपने बाद आनेवाले समाज को शिक्षा देता रहता है, तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी आदान-प्रदान की यह शृंखला अटूट चलती रहती है।

शिक्षा के बल पर ही सभ्यता और संस्कृति सुरक्षित है; उसी के कारण हम आज भी अपने पूर्वजों से सम्बद्ध हैं, उनके अंग बने हुये हैं। अजस्र गंगा की धारा की भाँति शिक्षा का प्रवाह निरंतर बहता रहता है। कभी-कभी तो शिक्षाप्रवाह की एक छोटी सी लहर ने ही समस्त संसार में महान परिवर्तन कर दिये हैं। बुद्ध, ईसा तथा मोहम्मद की शिक्षा का प्रभाव हम सभी को विदित है और इस बात की कल्पना करना तक कठिन है कि यदि ये महान शिक्षक पैदा न हुये होते तो आज संसार का रूप कैसा होता।

शिक्षा का अर्थ

शिक्षा का महत्व व्यापक तथा सर्वमान्य होते हुये भी उसका वास्तविक अर्थ निश्चित करना सरल नहीं। यह स्पष्ट है कि शिक्षा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। किन्तु, वास्तव में इन सब प्रयोगों को दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—व्यापक तथा संकुचित। महात्मा गाँधी को शिक्षक मानना शिक्षा के व्यापक अर्थ का द्योतक है, और पाठशाला के अध्यापक को शिक्षक कहना उसके संकुचित अर्थ का।

शिक्षा के व्यापक अर्थ के अनुसार यह समस्त संसार शिक्षा-क्षेत्र है और प्रत्येक व्यक्ति— बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी— शिक्षार्थी। वे सब जीवन पर्यन्त कुछ न कुछ सीखते रहते हैं। अतः व्यक्ति का सारा जीवन उसका शिक्षा-काल है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति जहाँ स्वयं दूसरों से कुछ सीखता है वहाँ वह दूसरों को भी कुछ न कुछ शिक्षा देता है। अतएव, इस दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक होने के साथ-साथ शिक्षार्थी भी है। मनुष्य मनुष्य से ही नहीं तमाम जीव-जन्तु तथा जड़ पदार्थों से भी शिक्षा प्राप्त करता है। छोटी चींटी हमें निरन्तर कार्यरत रहने की शिक्षा देता है तथा मधुमक्खी गुण-संचय की। राजा ब्रूस को अपने जीवन की महानतम शिक्षा एक मकड़ी से मिली थी। इस प्रकार शिक्षा का यह दृष्टिकोण शिक्षा-क्षेत्र, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षा-काल आदि सभी बातों में असीम तथा व्यापक है।

इसके विपरीत संकुचित अर्थ में शिक्षा पाठशाला अथवा विद्यालय की चहार-दीवारी में सीमित मानी जाती है। इस अर्थ के अनुसार केवल पाठशाला ही शिक्षा-प्राप्ति का स्थान मानी जा सकती है और केवल परीक्षा में उत्तीर्ण होना शिक्षित व्यक्ति का लक्षण। एक व्यक्ति-विशेष ही शिक्षक कहा जाता है और शिक्षार्थी भी केवल वही बालक माना जायेगा जो शिक्षा-प्राप्ति के उद्देश्य से संस्था-विशेष के कुछ निश्चित नियमों का पालन करके विद्यालय में आता है। उसका शिक्षा-प्राप्ति का काल भी निश्चित तथा सीमित होता है। इस संकुचित अर्थ में शिक्षा को अध्यापन अथवा निर्देश,

बालक को विद्यार्थी और शिक्षक को अध्यापक अथवा निर्देशक कहा जाता है। अध्यापन-स्थल को विद्यालय अथवा पाठशाला की संज्ञा दी जाती है।

व्यापकता तथा संकीर्णता के अतिरिक्त शिक्षा तथा निर्देश में अन्य कई भेद हैं। निर्देश में केवल एक ही चिर-स्थापित अध्यापन-विधि का प्रयोग होता है जिसमें अध्यापक आदेशात्मक ज्ञान देता चलता है और विद्यार्थी उसे ग्रहण करते चलते हैं, किन्तु शिक्षा अध्यापन के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी दी जा सकती है, यथा साहचर्य, उदाहरण, आदर्श प्रस्तुत करके, आदि। महात्मा गाँधी एक महान शिक्षक थे यद्यपि अध्यापक की भाँति कक्षा लगाकर उन्होंने कभी शिक्षा कार्य नहीं किया। शिक्षा जीवन के विभिन्न अंगों को पूर्ण रूप से विकसित करती है और परिणाम-स्वरूप व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास होता है, किन्तु अध्यापन द्वारा केवल एक अथवा निश्चित विषयों का ही ज्ञान कराया जाता है। बालक को ज्ञानार्जन कराकर ही उसका कृत्य पूरा हो जाता है।

निर्देश में बालक के प्रति भी अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण पाया जाता है। अध्यापक का सारा प्रयत्न यही होता है कि किसी न किसी प्रकार अपना ज्ञान बालक पर थोप दे, चाहे उस ज्ञान-गठरी का उपयोग बालक कभी कर पाए अथवा नहीं। विद्यार्थी इस जूठे ज्ञान को प्राप्त करके भी उसे आत्मसात् नहीं कर पाता और वह उस ज्ञान-गठरी को भावी संतान को बँधी-बँधाई ही सौंप देता है। उसका जीवन इस ज्ञान से अछूता ही रहता है। किन्तु वास्तविक शिक्षा में बालक स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करता है; वह ज्ञान की खोज स्वयं करता है और अपने प्रयत्न के बल पर ही उसे प्राप्त करता है। इस प्रकार वह जो भी थोड़ा-बहुत ज्ञान संचय करता है वह उसका अपना होता है और जीवन में आवश्यकता पड़ने पर उसके काम आता है। शिक्षक बालक को ज्ञान-प्राप्ति के स्व-प्रयत्न में सहयोग तथा सहायता देता है, अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करता है और बालक को अपने अनुभवों द्वारा शिक्षा प्राप्त करने देता है। वह निर्देशक की भाँति अपना ज्ञान उस पर बलपूर्वक ठूँसने का प्रयत्न नहीं करता।

अतएव, वास्तविक शिक्षा बालक-प्रधान होती है। शिक्षण की प्रक्रिया में बालक को प्रमुख स्थान प्राप्त है। शिक्षक, पाठ्यपुस्तकें, शिक्षालय आदि सभी उसके हितार्थ प्रयुक्त होते हैं। किन्तु अध्यापन अध्यापक-प्रधान होता है। सेना के नायक के समान सभी कुछ उसकी इच्छानुसार तथा आदेशानुसार किया जाता है। वह बालक पर भी ज़बरदस्ती कर सकता है। एकछत्र शासक की भाँति कक्षा में उसका शासन

दंड-विधान पर आधारित होता है तथा उसकी आज्ञा का उल्लंघन बालक कदापि नहीं कर सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अध्यापन अथवा निर्देश सीमित, संकुचित, एकांगी तथा एकतंत्रात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है, और दूसरी ओर शिक्षा बालक-प्रधान, व्यापक तथा बालक के सर्वाङ्गीण विकास की प्रेरक। शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके शब्दार्थ से भी यही ध्वनि निकलती है। अँग्रेज़ी का 'एडूकेशन' शब्द लेटिन भाषा के 'एडूकेटम' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है शिक्षित करना। 'ए' का अर्थ है 'अन्दर से' तथा 'डूको' का अर्थ है 'अग्रगति देना'। अतएव 'एडूकेशन' शब्द का अर्थ ही है अन्तर्निहित शक्तियों को बाहर की ओर विकासोन्मुख करना, पके-पकाए ज्ञान को बाहर से भीतर ठूँसना नहीं। "इसी आधार पर एडिसन ने 'एडूकेशन' शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है—'शिक्षा द्वारा मनुष्य के अन्तर में निहित उन शक्तियों तथा गुणों का दिग्दर्शन होता है जिनको शिक्षा की सहायता के बिना अन्दर से बाहर निकालना नितांत असंभव है'। "एक अन्य मत के अनुसार 'एडूकेशन' शब्द को विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवम् नैतिक शक्तियों के विकास व प्रादुर्भाव का पर्याय माना गया है।"

हमारे प्राचीन साहित्य में 'शिक्षा' वेदांगों में से एक का नाम है जिसमें वेदों के वर्ण, स्वर, मात्रा आदि का निरूपण है। शिक्षा शब्द 'शिक्ष' से बना है जिसका अर्थ है ज्ञान प्राप्त करना, विद्या ग्रहण करना। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा जड़ वस्तु न होकर एक प्रक्रिया है। शिक्षण-कार्य में शिक्षक तथा शिक्षार्थी के बीच आदान-प्रदान होता रहता है। इसी कारण ऐडम्स ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया कहा है; उसका एक अंग है बालक तथा दूसरा शिक्षक, और इन दोनों व्यक्तियों के बीच शिक्षा चलती रहती है। किन्तु यदि हम ऐडम्स के इस विचार को और आगे बढ़ाएँ तो शिक्षा अन्त में एकमुखी ही मानी जाएगी, क्योंकि शिक्षक बालक को उत्तरोत्तर इस योग्य बना देता है कि वह स्वयं अपनी देख-भाल कर सके तथा शिक्षक पर आश्रित न रहे। तब बालक स्वयं ही अपना शिक्षक हो जाता है।

कुछ भी हो, शिक्षा को गत्यात्मक मानना होगा। उसमें जड़ता अथवा स्थायित्व नहीं। बालक तथा शिक्षक के बीच की प्रक्रिया ही उसे गति नहीं देती अपितु शिक्षा-प्राप्ति द्वारा बालक के जीवन में स्वयं गति आती है; वह विकसित होकर आगे बढ़ता है। उसका जीवन प्रतिक्षण परिवर्तित तथा परिवर्द्धित होता चलता है। स्पष्ट है कि यह विकास ऊर्ध्वोन्मुख, उन्नयनकारी तथा उचित दिशा में होता है। अतएव

शिक्षा में वाह्य गति की अपेक्षा आन्तरिक विकास-गति का महत्त्व अधिक है, और इसीलिए उसकी गत्यात्मकता सर्वमान्य है।

शिक्षा की यह प्रक्रिया अनायास, अचेतनावस्था में नहीं होती। उसके लिए बालक तथा शिक्षक अपने समस्त प्रयत्न जान-बूझकर तथा विचारपूर्वक करते हैं। उन्हें शिक्षा के उद्देश्य तथा प्रयत्न का पूर्ण ज्ञान रहता है, उसकी चेतना रहती है। अन्यथा अचेतनावस्था में तो संसार के समस्त कार्य शिक्षा के अन्तर्गत आ जाएँगे। इसीलिए शिक्षा को विचारपूर्ण प्रक्रिया कहा जाता है।

जिस प्रकार एडम्स शिक्षा को एक प्रक्रिया मानते हैं उसी प्रकार प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षा शास्त्री डीवी भी उसे प्रक्रिया ही कहते हैं। उनके अनुसार शिक्षा के दो अंग वैज्ञानिक और सामाजिक हैं। शिक्षा का मनोवैज्ञानिक अंग वह है जिसमें बालक की मूल प्रवृत्तियों, शक्तियों आदि का अध्ययन किया जाता है। शिक्षा की प्रक्रिया बिना बालक की प्रकृति तथा उसके मनोविज्ञान को जाने संभव नहीं। परन्तु शिक्षा के सामाजिक अङ्ग को डीवी विशेष महत्व देते हैं। उनके अनुसार शिक्षा किसी सामाजिक वातावरण के अनुकूल ही दी जाती है और सामाजिक परिस्थितियों तथा आदर्शों के बिना शिक्षा-प्रक्रिया कीकल्पना ही नहीं की जा सकती। जहाँ हम बालक को शिक्षित करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ हम उसे शिक्षा द्वारा अपने सामाजिक जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना भी नहीं भूलते।

अतः परिभाषा-रूप में हम कह सकते हैं कि शिक्षा वह सविचार प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति के विचार तथा व्यवहार में परिवर्तन और परिवर्द्धन होता है— उसके अपने एवम् समाज के उन्नयन के लिए।

शिक्षा के रूप

शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा का वर्गीकरण तथा रूपनिर्धारण अनेक प्रकार से किया है। उसके दो रूप स्पष्ट देखने में आते हैं—अविधिक तथा सविधिक। 'अविधिक शिक्षा समाज में रहते हुए बालक अनायास ही ग्रहण करता रहता है। यह शिक्षा उसके लिए महत्वपूर्ण तथा स्वाभाविक होती है परन्तु व्यवस्थित नहीं।' अविधिक शिक्षा में व्यर्थ के आडम्बर तथा नियम नहीं होते। सहज, स्वाभाविक तथा अकृत्रिम रूप में जो शिक्षण-प्रक्रिया होती है उसे अविधिक कहा जाता है। किन्तु, सविधिक शिक्षा अपेक्षाकृत व्यवस्थित तथा विधिवत् होती है। उसमें उपयुक्त सामग्री, प्रविधि आदि के विधान का इतना आडम्बर खड़ा कर लिया जाता है कि शिक्षा कृत्रिम तथा अने-

सर्गिक हो जाती है। पाठशाला आदि में प्रायः सविधिक शिक्षा देखने में आती है, किन्तु यात्रा, साहचर्य आदि के द्वारा अविधिक शिक्षा प्राप्त होती है। तभी कहा गया है कि 'अपनी चरम स्थित में सविधिक शिक्षण के विषय जीवन के अनुभवों से रहित भी हो सकते हैं; इसके विषय-सूची के परिदृढ़ हो जाने की आशंका रहती है। इसीलिए डीवी ने हमें सविधिक शिक्षा के अन्तर्निहित इस भय से सावधान रहने का आदेश दिया है। यही नहीं, शिक्षक बालक के सम्बन्ध, शिक्षा-सामग्री के प्रयोग, शिक्षण-प्रणाली आदि में भी यथेष्ट कृत्रिमता तथा जीवन से दूरी आ जाती है।'

शिक्षा का एक सामान्य तथा दूसरा विशिष्ट रूप भी होता है। बालक को सामान्य जीवन के लिए मूल रूप में तैयार करने वाली शिक्षा सामान्य शिक्षा कहलाती है। इसे उदार शिक्षा भी कहा जाता है। इसके द्वारा बालक को किसी विशिष्ट व्यवसाय की शिक्षा न देकर केवल सफल जीवन की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है और उसे जीवन के सब विभागों के लिए समान रूप से थोड़ा-बहुत तैयार किया जाता है। परन्तु जो शिक्षा एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर बालक को एक निश्चित व्यवसाय के लिए तैयार करती है उसे विशिष्ट शिक्षा कहते हैं। सामान्य शिक्षा द्वारा बालक में 'तत्परता, परिस्थिति-उपयोजन की क्षमता एवम् उपयोजन-शीलता का प्रादुर्भाव' होता है, और विशिष्ट शिक्षा द्वारा उसे एक निश्चित क्षेत्र में दक्षता प्राप्त होती है।

बालक पर पड़ने वाले शिक्षक के प्रभाव के अनुसार भी शिक्षा के दो रूप हो जाते हैं जिन्हें परोक्ष तथा अपरोक्ष शिक्षा कहते हैं। 'शिक्षक के व्यक्तित्व का जो तत्कालीन प्रभाव शिष्यों पर पड़ता है उसे अपरोक्ष शिक्षा कहा जाता है। यह प्रभाव शिक्षक तथा शिष्य के परस्पर सम्पर्क द्वारा शिष्य पर पड़ता है। जब यह सम्पर्क-जनित शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव क्षीण हो जाता है अथवा जब शिष्यों को प्रभावित करने के लिए शिक्षक को किसी वाह्य साधन का आश्रय लेना पड़ता है तब शिक्षा परोक्ष कहलाती है।'

अस्त्यात्मक शिक्षा में शिक्षक बालकों पर निश्चित प्रयोगों द्वारा विशेष प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। शिक्षक यह जानता है कि बालक को कहाँ तक ले जाना है तथा इसके लिए वह निश्चयात्मक रूप से विशिष्ट प्रयत्न करता है। किन्तु जब शिक्षक बालक के विषय में बिना किसी पूर्व-निश्चित धारणा के केवल उसका मार्ग स्वच्छ करता चलता है तो उसे नास्त्यात्मक शिक्षा कहते हैं। इस प्रकार की शिक्षा में बालक अपनी इच्छा के अनुसार अपने व्यक्तित्व का प्रस्फुटन करता है। शिक्षक अपने इच्छानुसार उसे ढालने का प्रयत्न नहीं करता। रूसो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-सिद्धान्त इसी प्रकार के हैं।

शिक्षा एकांगी भी हो सकती है तथा सर्वाङ्गीण भी। एकांगी शिक्षा जीवन के किसी अङ्ग विशेष को ही छूती है और बालक को केवल कार्य-विशेष के लिए ही तैयार करती है। सर्वाङ्गीण शिक्षा जीवन के सभी अङ्गों को समान रूप से विकसित करती है। बालकों की संख्या के आधार पर व्यक्तिगत तथा सामूहिक शिक्षा नामक दो रूप और हो सकते हैं। व्यक्तिगत शिक्षा में एक अकेले बालक पर शिक्षा का प्रभाव केन्द्रित किया जाता है। उसमें बालक पर भली-भाँति ध्यान देने का समय एवम् अवसर मिल जाता है तथा उसकी रुचि, विकास आदि के आधार पर शिक्षा की योजना होती है। किन्तु कक्षा में अनेक बालकों को एक साथ शिक्षित करना सामूहिक शिक्षा कहलाएगी। इस प्रकार की शिक्षा में प्रत्येक बालक पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना कठिन होता है, और कक्षा के समस्त बालकों को समान स्तर पर एक जैसा मानकर एक ही ढंग से से शिक्षा दी जाती है। आजकल की पाठशालाओं में शिक्षण का यही रूप प्रायः दिखाई पड़ता है।

शिक्षा : विज्ञान अथवा कला ?

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शिक्षा विज्ञान है अथवा कला ? साधारणतया हम विज्ञान उसी को कहते हैं जिसमें कुछ निश्चित नियम होते हैं तथा उनमें समय, स्थान अथवा व्यक्ति-भेद से कोई अन्तर नहीं आता। दूसरी ओर कला वह है जिसमें व्यक्ति अपनी ओर से परिवर्तन करके नवीन वस्तु अथवा भाव पैदा कर सकता है। इस दृष्टि से शिक्षा को हम विज्ञान तथा कला दोनों ही कह सकते हैं। शिक्षा के कुछ नियम ऐसे हैं जो सर्वमान्य तथा सुनिश्चित हैं। उनका उल्लंघन करने से निश्चित हानि भी हो सकती है। किन्तु शिक्षा के ये नियम सर्वथा सत्य तथा दृढ़ नहीं। शिक्षा हम जीवित प्राणियों—बालक तथा शिक्षक—से सम्बन्ध रखते हैं, और उनके विषय में ऐसे कोई नियम नहीं बनाये जा सकते जो शत-प्रतिशत परिस्थितियों के लिए सही हों। इसीलिए शिक्षा विशुद्ध विज्ञान की श्रेणी में नहीं आती, उसे प्रयुक्तविज्ञान ही कहा जा सकता है। उसके नियम अधिकांश में मान्य हो सकते हैं, परन्तु सदैव, सब परिस्थितियों में लागू होंगे यह नहीं कहा जा सकता।

शिक्षा का कला पक्ष शिक्षण की वह प्रक्रिया है जिसमें अपने सम्पर्क से अध्यापक बालक को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। हम कह सकते हैं कि बालक के मस्तिष्क रूपी स्वच्छ पट पर शिक्षक अपनी कला अंकित करता है। वह अपने ढङ्ग से शिक्षण के लिए स्वतन्त्र होता है और प्रायः यह देखा भी जाता है कि प्रत्येक शिक्षक

का शिक्षण का अपना निजी ढङ्ग होता है। बालकों पर शिक्षण का प्रभाव बहुत कुछ शिक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इसीलिए कहा भी गया है कि शिक्षक पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। किन्तु, जैसे शिक्षा विशुद्ध विज्ञान नहीं उसी प्रकार उसे संगीत, मूर्तिकला आदि के समान विशुद्ध कला भी नहीं कहा जा सकता। बालक जीवित प्राणी होता है, उसकी अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ तथा सीमाएँ होती हैं। उसके मस्तिष्क की तुलना पूर्णतया स्वच्छ-पट से नहीं की जा सकती जिस पर शिक्षक जो चाहे चित्र अंकित कर दे। शिक्षण-प्रणाली अथवा शिक्षण-व्यवस्था के क्षेत्र में भी वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं; उसे कुछ सीमाओं तथा नियमों का बन्धन मानना ही पड़ता है।

शिक्षा के विज्ञान तथा कला पक्ष के आधार पर उसके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दो पक्ष हो जाते हैं। सैद्धान्तिक स्तर पर हम शिक्षा के सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों, उद्देश्यों आदि का विवेचन तथा निर्धारण करते हैं। इन सिद्धान्तों के आधार पर फिर उसका व्यावहारिक-पक्ष विकसित होता है, जिसके अन्तर्गत शिक्षण-प्रक्रिया आती है। वास्तव में शिक्षा के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक-पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। सिद्धान्तों का पालन व्यवहार में होता है और व्यावहारिक अनुभवों से सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। दोनों के क्षेत्र पृथक होते हुए भी एक दूसरे पर आधारित हैं। इस पुस्तक में मुख्यतया शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष का ही विवेचन किया गया है।

शिक्षा की आवश्यकता

मानव-जीवन के लिए शिक्षा की आवश्यकता सर्वमान्य है। व्यक्ति के विकास, उसके उन्नयन, जीवन-यापन की क्षमता तथा कार्य-पटुता आदि के निमित्त शिक्षा की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। बालक जन्म के समय कुछ मूल-प्रवृत्तियों तथा सुप्त शक्तियों की गठरी-मात्र होता है। शिक्षा उसकी इन शक्तियों का विकास तथा मूल-प्रवृत्तियों को उचित मार्ग-दर्शन कर उसे परिपक्वता प्रदान करती है। शिक्षा के प्रभाव से ही नितांत पराश्रित और अयोग्य शिशु धीरे-धीरे चलने, बोलने तथा कार्य करने योग्य बन जाता है।

'मनुष्य में जन्म से ही वातावरण के अनुकूल बनने की क्षमता होती है, परन्तु उसकी यह शक्ति मूल-रूप में क्षीण तथा अशिक्षित होती है। अस्तु, उसे शिक्षा की आवश्यकता है। क्योंकि प्राकृतिक, अनियन्त्रित शिक्षा मंदगामिनी होती है, किसी के नेतृत्व के अभाव में वह प्रायः व्यक्ति को विपथगामी भी बना सकती है, अस्तु मनुष्य को शिक्षा की आवश्यकता होती है। आधुनिक समाज इतना जटिल एवम् परिवर्तनशील

है कि उसमें अपना दायित्व सफलतापूर्वक वहन करने के लिए मनुष्य को अविलम्ब शिक्षित होने की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए शिक्षा की परम् आवश्यकता है।'

किन्तु वातावरण के अनुकूल बनने की शक्ति पशुओं में भी होती है। मानव केवल वातावरण के अनुकूल ही नहीं बनता, वह वातावरण तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का भी प्रयत्न करता है। उसके इस प्रयत्न के फलस्वरूप ही सभ्यता का विकास तथा मानव-जीवन के लिए उपयोगी अन्वेषणों अथवा उपयोजनाओं का दिग्-दर्शन होता है। वातावरण पर विजय प्राप्त करने की इस शक्ति का विकास भी बालक की शिक्षा पर आधारित है। शिक्षा द्वारा रचनात्मक शक्ति आदि विकसित होकर मानव को समाज में उपयोगी बनाती हैं।

सामाजिक जीवन तथा उन्नति के लिए शिक्षा की आवश्यकता कम नहीं। शिक्षित व्यक्ति से ही सामाजिक संगठन तथा उन्नयन होता है। 'उत्तरोत्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर समाज की मान्यताओं एवम् उसके रीति-रिवाजों तथा बालक के अपरिपक्व जीवन के मध्य जो बढ़ती हुई खाई है उसे भरने के लिए शिक्षा की परम आवश्यकता है। शिक्षा सामाजिक तन्तुओं का नव-निर्माण करती है तथा हमारी सामाजिक चेतना को जाग्रत करती है।' अतएव सामाजिक परम्पराओं की रक्षा तथा उन्हें आगामी पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है।

इन्हीं कारणों से शिक्षा तथा जीवन को अन्योन्याश्रित माना गया है। वास्तविकता तो यह है कि हम शिक्षा को जीवन से पृथक नहीं कर सकते। यदि प्रगति ही जीवन है तो शिक्षा इस प्रगति को उचित दिशा में नियंत्रित तथा संचालित करती है। यदि कर्मण्यता ही जीवन है तो शिक्षा कर्मण्य बनाती है। यदि व्यक्ति तथा समाज की उन्नति में जीवन का दर्शन होता है तो शिक्षा उसे प्राप्त कराने का प्रयत्न करती है। इन्हीं को हम शिक्षा के कृत्य भी कह सकते हैं।

शिक्षा के अंग

यदि शिक्षा को एक वृक्ष मान लिया जाए तो उसके तीन अंग हो सकते हैं। एक तो शिक्षा का उद्देश्य अथवा लक्ष्य, दूसरा शिक्षण-प्रकार्य और तीसरा शिक्षा के परिणाम तथा उनका मूल्यांकन। वास्तव में ये तीनों अंग एक दूसरे से सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित हैं। शिक्षा के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर ही समस्त शिक्षण-प्रकार्य क्रियान्वित होता है, शिक्षण-प्रकार्य की अच्छाई-बुराई पर शिक्षा के परिणाम निर्भर करते हैं और अंत में शिक्षा के परिणामों का मूल्यांकन करके ही उसके उद्देश्यों का

पुनः निर्धारण किया जाता है। शिक्षा के इन तीनों अंगों की कुशलता पर ही सम्पूर्ण शिक्षा की सफलता निर्भर है।

उपर्युक्त प्रत्येक अंग के कुछ उपांग भी होते हैं। शिक्षा के उद्देश्य में समाज, देश तथा जीवन के आदर्शों का ध्यान रखना होता है। उन पर विचार किये बिना उद्देश्य-निर्धारण का कार्य दोषयुक्त हो जाता है। शिक्षण-प्रकार्य में शिक्षक, शिक्षा-संस्था, शिक्षा-विधि तथा बालक को आवश्यक माना जाता है। इन्हें प्रायः शिक्षा की सामग्री भी कहा जाता है। समयानुसार इनमें से एक अथवा दूसरे पर औरों की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता रहा है, परन्तु आज का युग शिक्षा में सर्वत्र बालक का युग है और उसी को शिक्षा का केन्द्र माना जाता है। वास्तविकता भी यही है कि यदि और उपांग न हों तो शिक्षण-प्रक्रिया चल सकती है किन्तु यदि बालक न हो तो शिक्षा-कार्य पूर्णतया रुक जायगा। शिक्षा के परिणामों का मूल्यांकन परीक्षा-प्रणाली द्वारा किया जाता है। इसके उपांगों अथवा सामग्री के अन्तर्गत परीक्षक, परीक्षार्थी, परीक्षा-पत्र आदि आते हैं।

शिक्षा के अंगों का विश्लेषण अन्य प्रकार से भी किया जाता है। एक दृष्टि-कोण से शिक्षा के मुख्य अंग बालक, अध्यापक तथा पाठ्यक्रम हैं। पाठ्यक्रम सामाजिक ज्ञान तथा सामाजिक मन्यताओं का प्रतीक होता है। अतएव हम अध्यापक तथा पाठ्यक्रम को बालक का वातावरण कह सकते हैं। इस दृष्टि से बालक तथा उसका वातावरण ही शिक्षा के मुख्य अंग कहलाएँगे। कुछ भी हो, शिक्षा के उद्देश्य, उनकी प्राप्ति के प्रयत्न तथा परिणामों का मूल्यांकन ही शिक्षा-सिद्धान्त का विषय है।

अध्याय २

शिक्षा के उद्देश्य-निर्धारण की आवश्यकता तथा महत्व

शिक्षा का समस्त कार्य-संचालन उसके उद्देश्य को ही केन्द्र-विन्दु मानकर होता है। शिक्षण का कार्य प्रारंभ करने के पूर्व ही शिक्षक को यह जानने की आवश्यकता होती है कि उसे कहाँ पहुँचना है? किन लक्ष्यों की प्राप्ति करनी है? तथा शिक्षा के क्या परिणाम निकालने हैं? इन प्रश्नों का उत्तर निश्चित किए बिना उसका प्रयत्न प्रारंभ कर देना अस्थिरता तथा असफलता को जन्म देना है।

शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा प्रारंभ करने के पूर्व ही निश्चित तथा निर्धारित कर लेना अत्यंत आवश्यक है। उद्देश्यहीन शिक्षार्थी उस यात्री के समान है जो यह भी नहीं जानता कि मुझे कहाँ जाना है। 'उद्देश्य के ज्ञान के बिना शिक्षक उस नाविक के समान होता है जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं, तथा उसके शिक्षार्थी उस पतवार-विहीन नौका के समान हैं जो समुद्र की लहरों के थपेड़े खाती तट की ओर बहती जा रही हो।'

(वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति का सब से बड़ा दोष यही कहा जाता है कि उसमें उद्देश्यों को निश्चित् करने का प्रयत्न भलीभाँति नहीं किया गया। हमारी शिक्षा-व्यवस्था उद्देश्यहीन होने के कारण पंगु बनी रही, और उसके दुष्परिणाम अब स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। एक साधारण भारतीय विद्यार्थी आज यह नहीं जानता कि शिक्षा-प्राप्ति में उसका क्या उद्देश्य है, और न अध्यापक ही जानते हैं कि वे बालक को किस उद्देश्य से शिक्षा दे रहे हैं। ऐसी दशा में शिष्य और गुरु दोनों ही अंधकार में भटकते फिरते हैं)। लक्ष्यहीन भारतीय विद्यार्थी हवा में उड़ने वाली रुई के समान

जहाँ भी पहुँच जाते हैं उसी में संतोष मान लेते हैं। ऐसी शिक्षा के प्रति उनके मन में उदासीनता तथा विद्रोह की भावना होना स्वाभाविक ही है।

प्रारंभ में ही शिक्षा के उद्देश्य भलीभाँति निश्चित कर लेने से शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों अपने चरम लक्ष्य के विषय में जागरूक हो जाते हैं। फिर उन्हें अनेक उद्देश्यों के बीच इधर-उधर व्यर्थ भटकने का भय नहीं रहता और न बीच-बीच में अचानक उठ खड़े होने वाले गौण तथा निरर्थक उद्देश्य ही उनका ध्यान आकर्षित करके उन्हें अपने चरम लक्ष्य से विरत कर सकते हैं। चरम सीमा का पूर्व-निश्चय मन में दृढ़ता एवम् आत्मबल जाग्रत करता है और मनुष्य एकाग्र होकर अपने कार्य में संलग्न होता है। लक्ष्यहीन व्यक्ति अपनी बहुत सी शक्ति व्यर्थ में इधर-उधर अनावश्यक प्रयास करने में नष्ट कर देता है। अनपेक्षित, गौण उद्देश्यों की प्राप्ति में क्षय होने वाली इस शक्ति को बचाकर यदि पूर्व-निर्धारित चरम उद्देश्य की प्राप्ति में लगाया जा सके तो उससे मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति तो सहज होती ही है, आत्म-तुष्टि के साथ सफलता से प्राप्त होने वाला आत्मबल भी बढ़ता है। डीवी का कथन है कि 'जो कार्य लक्ष्य का ज्ञान करके किया जाता है वह सार्थक होता है। उन्हीं अर्थों के आधार पर कार्यकर्त्ता अन्य वस्तुओं में अर्थ खोजता है। पूर्व-लक्षित उद्देश्य क्रिया को उचित दिशा में ले जाते हैं। यह एक अकर्मण्य दर्शक का केवल तुच्छ दृश्यमात्र नहीं है, अपितु लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उठने वाले प्रत्येक पग का नेतृत्व करता है।' इसी आधार पर शिक्षा को एक 'सोद्देश्य प्रक्रिया' माना गया है।

शिक्षा के उद्देश्यों का निश्चय हो जाने पर उनकी प्राप्ति का उपाय भी सरलता पूर्वक अपनाया जा सकता है। पर्वत की किस चोटी पर हमें पहुँचना है इस बात का निश्चय हो जाने पर ही हम यह निश्चित् कर सकेंगे कि उसके लिए सब से सुगम, निरापद तथा जल्दी पहुँचाने वाला मार्ग कौन सा है। शिक्षा की उपयुक्त प्रणाली, साधन एवम् विषयों का प्रयोग शिक्षक तभी कर सकता है जब उसे अपने कार्योद्देश्य का पूर्ण ज्ञान हो। उद्देश्यों की अनिश्चितता तथा अस्थिरता के कारण अनुपयोगी शिक्षण-पद्धति के पालन का भय बहुत अधिक बढ़ जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः अधिकांश देशों में शिक्षा के उद्देश्यों पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया है। अध्यापकगण भी अधिकतर शिक्षण-प्रक्रिया की ओर ही अभिमुख रहे हैं, वे शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों को प्रायः भूले रहे। परिणामस्वरूप शिक्षण-प्रकार्य तो बहुत कुछ विकसित तथा उन्नत हो गया, परन्तु उसका प्रयोग किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाए इस विषय पर समुचित विचार तथा चिंतन नहीं

हुआ। भारत में वर्तमान शिक्षा की उद्देश्य-हीनता से सभी अवगत हैं। इसी कारण जीवन के उद्देश्य तथा शिक्षा के प्राप्त परिणामों में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता।

शिक्षा के उद्देश्य सर्वथा व्यक्तिनिष्ठ नहीं होते। कोई भी व्यक्ति उन्हें मनमाने ढंग से नहीं बना लेता। वास्तव में अध्यापक उन्हें सामाजिक आदर्शों की पृष्ठभूमि में बालकों के साथ अपने शैक्षिक अनुभवों द्वारा प्राप्त करता है। शिक्षण-कार्य में प्रति-पल होने वाले अनुभवों से शिक्षा के आदर्श संपरिवर्तित तथा पुष्ट होते रहते हैं, और फिर उनका प्रभाव पुनः शिक्षण-पद्धति आदि के प्रवरण में परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षण प्रारम्भ करने से पूर्व सर्वप्रथम उसके उद्देश्य निर्धारित कर लेना अत्यन्त आवश्यक एवम् लाभदायक है। इसके लिए यथेष्ट विचार-विनिमय तथा चिंतन अपेक्षित है। शिक्षा का उद्देश्य-निर्धारण उतना सरल कार्य नहीं जितना समझा जाता है। शिक्षा तथा जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण उसके उद्देश्यों का निर्धारण जीवन के उद्देश्य निश्चित करने के समान है; और मानव-जीवन का उद्देश्य क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। युग-युग से प्रयत्न करने पर भी आज तक इस प्रश्न का उत्तर सफलतापूर्वक नहीं दिया जा सका है। साथ ही उद्देश्य-निर्धारण का प्रयत्न सतत् होते रहना आवश्यक है क्योंकि जीवन की आवश्यकता तथा जीवन के उद्देश्य समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। समस्त बाल-समूह के भविष्य का प्रश्न होने के कारण शिक्षा के उद्देश्य-निर्धारण का कार्य अत्यन्त उत्तरदायित्व-पूर्ण है। इसीलिए इसके विषय में समुचित विचार करने की आवश्यकता है। शीघ्रता में दोष-पूर्ण तथा अनुचित उद्देश्य निर्धारित कर लेने से न केवल एक व्यक्ति की हानि है अपितु सम्पूर्ण समाज की। शैक्षिक प्रयत्नों का जो अपव्यय होगा वह अलग। उस ग़लती को ठीक करने में भी एक-दो पीढ़ी का समय गुज़र जाएगा और राष्ट्र को बहुत काल तक हानि उठानी पड़ेगी।

शिक्षा में उद्देश्य-निर्धारण की आवश्यकता का अनुभव तथा प्रयत्न समाज में प्रारम्भ से ही कुछ न कुछ अवश्य होता रहा है। किन्तु यह प्रयत्न दार्शनिकों, राज-नीतिज्ञों तथा शासकों ने अधिक किया है, स्वयं शिक्षा-शास्त्रियों ने कम। 'इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा के उद्देश्यों का निरूपण अधिकतर उन लोगों ने किया है जिनका शिक्षा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था।' दार्शनिकों ने जीवन का उद्देश्य कोई अत्यन्त महान् तथा असाध्य लक्ष्य के रूप में निर्धारित कर दिया और शिक्षकगण बालकों को बलपूर्वक उसी ओर खींचने लगे या फिर, हिट्लर आदि के समान एकाधिपतियों ने शिक्षा का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से निश्चित कर दिया, और शिक्षक बिना

कुछ सोचे-समझे बालकों को उसी के अनुसार ढालने लगे। परिणाम-स्वरूप शिक्षा के लक्ष्य प्रायः वैज्ञानिकता एवम् बाल-हित की भावना से हीन रहे। शिक्षक बिना समझे और विचार किए दूसरों द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति में अपनी समस्त शक्ति लगाते रहे, और शिक्षा स्वयम् अपने पैरों पर कभी खड़ी न हो सकी। शिक्षकों ने अधिकार पूर्वक कभी भी इस बात पर बल नहीं दिया कि शिक्षा का क्षेत्र उनका अपना है और वे ही उसके उद्देश्य समुचित रूप में निर्धारित करने की क्षमता रखते हैं। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि बालक तथा शिक्षा-सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर इन उद्देश्यों का समुचित ढंग से निरूपण किया जाए। तभी ये उद्देश्य वैज्ञानिक तथा लाभप्रद हो सकते हैं।

साधारणतया यह अवश्य देखने में आता है कि प्रत्येक विद्यार्थी शिक्षा-प्राप्ति का अपना कोई छोटा-मोटा उद्देश्य लिए होता है। कोई केवल पत्र लिख-पढ़ लेने भर की योग्यता चाहता है, दूसरा इतनी कि पाँचवीं पोथी पढ़ ले, तीसरा विद्वान बनना चाहता है और चौथा केवल सीमित विषयों में पूर्ण पारंगत। एक ही कक्षा के अनेक विद्यार्थी भिन्न-भिन्न उद्देश्य लेकर अध्ययन करते हैं। किन्तु इन उद्देश्यों को शिक्षा का चरम लक्ष्य कहना शिक्षा के प्रति अन्याय होगा। इन्हें तो व्यक्तिगत, साधारण, सीमित तथा गौण उद्देश्य ही कहा जा सकता है। चरम लक्ष्य वास्तव में अधिक महान एवम् गंभीर होना चाहिए। उसमें जीवन के प्रति उच्च दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह समाज के अधिकांश व्यक्तियों पर लागू होता है और एक से अधिक व्यक्ति उन उद्देश्यों द्वारा प्रेरित एवम् संचालित होते हैं।

अध्याय ३

शिक्षा के उद्देश्यों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि

शिक्षा के उद्देश्यों पर जीवन की दार्शनिक विचार-धाराओं का विशेष प्रभाव पड़ता है। दार्शनिक का उद्देश्य जीवन को उचित दिशा में विकसित करने का रहता है। मानव-जीवन को ऊपर उठाना तथा उसे सद्गति देना ही उसका कृत्य है। अपने इस प्रयास में उसे शिक्षा से यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति दार्शनिक होता है वह आगे चलकर शिक्षा-शास्त्री तथा शिक्षा-सिद्धान्ती भी बन जाता है। वह स्पष्ट देखता है कि शिक्षा का उपयोग उसे अपने विचारों के प्रसार में विशेष लाभदायक है। प्लेटो आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। अतएव शिक्षा के उद्देश्यों की समस्या भलीभाँति समझने के लिए उन दार्शनिक विचारधाराओं का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है जिन्होंने शिक्षा को विशेष रूप से प्रभावित किया है।

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद की विचारधारा को रूसो (सन १७१२-१७७८ ई०) ने नया बल देकर शिक्षा में एक महती शक्ति बना दिया। यद्यपि प्रकृतिवाद की स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी तथापि रूसो द्वारा उसे नया जीवन तथा नई स्फूर्ति प्राप्त हुई। उनके अनुसार प्रकृतिवाद का प्रधान गुण है समस्त सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करना। स्वयं रूसो के प्रकृतिवाद ने तत्कालीन कृत्रिम शिक्षा-प्रणाली, कोरे पुस्तकीय ज्ञान, अव्यावहारिक ज्ञान-संचय आदि के विरोध में अपनी आवाज़ उठाई।

साधारणतया प्रकृतिवाद के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति के निकट तथा उसके सम्पर्क में लाने की आवश्यकता है। सभ्यता तथा सामाजिक विकास के कारण मनुष्य प्रकृति से विलग हो गया है। संसारिक कृत्रिमता तथा भौतिक मायाजाल ने उसे पूर्णतया

आवृत कर रखा है। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य का त्राण इसी में है कि उसे इस भौतिक एवम् कृत्रिम जीवन से हटाकर सरल, स्वाभाविक एवम् प्राकृतिक जीवन की ओर उन्मुख किया जाए। यह तभी सम्भव है जब मानव-प्रकृति कृत्रिमता का आवरण हटाकर नैस र्गिक वाह्य-प्रकृति से अपना सम्पर्क तथा तादात्म्य स्थापित करे।

प्रकृतिवाद में प्रकृति शब्द का वह सामान्य अर्थ नहीं लिया जाता जो हम सब समझते हैं। उसमें प्रकृति शब्द को तीन भिन्न तथा विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त किया गया है:—(१) किसी वस्तु की अन्तःप्रकृति, (२) किसी वस्तु का प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक रूप, तथा (३) प्रकृति का ब्राह्मांडिक रूप जिसके अन्तर्गत कण-कण के समस्त पारस्परिक सम्बन्ध एवम् गतिशीलता सम्मिलित है।

प्रकृति सतत गतिमान एवम् परिवर्तनशील है। बालक एवम् वाह्य प्रकृति अर्थात् उसके प्राकृतिक वातावरण के बीच निरन्तर क्रिया तथा प्रतिक्रिया होती रहती है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यही बालक की शिक्षा है। किन्तु उनकी इस पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के विषय में समुचित ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि बालक की अन्तःप्रकृति तथा उसके वाह्य प्राकृतिक वातावरण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर लिया जाए। अतएव बालक की शिक्षा-प्रक्रिया को भली भाँति समझने के लिए बालक के मनोविकास तथा प्राकृतिक वातावरण के नियमों, क्रियाओं तथा विशेषताओं आदि का अध्ययन आवश्यक है।

प्रकृतिवाद के अनुसार बालक को प्रकृति द्वारा, उसकी प्रकृति के आधार पर, प्राकृतिक ढङ्ग से, शिक्षित करना ही वास्तविक शिक्षा है। प्रकृतिवादी बालक के स्वाभाविक तथा नैसर्गिक विकास में कभी हस्तक्षेप नहीं करता। वह बालक को जन्म से शुद्ध तथा पवित्र मानता है और इसीलिये उसके आन्तरिक गुणों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। रूसो का कथन है कि बालक प्रकृति के निर्माता—ईश्वर—के हाथ से निर्मित होने के कारण जन्मतः शुभ तथा पवित्र होता है। बाद में वह समाज के बीच उसके दूषित प्रभावों में पड़कर बिगड़ जाता है। अतएव, प्रकृतिवादी बालक को समाज में रखकर शिक्षा देने के पक्ष में नहीं। उनके विचार में प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है, अध्यापक तो मानव-समाज का अङ्ग होने के कारण स्वयम् दूषित है। प्रकृतिवादियों की शिक्षा इसी कारण पाठशालाओं तथा पुस्तकों पर आधारित नहीं। यह शिक्षा वस्तुतः बालक के जीवन से अनुभवों के रूप में स्वतः प्राप्त होती है। रूसो के शब्दों में "शिक्षा कोई अध्ययन की वस्तु नहीं। वह तो मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति के निर्माण—उसके शरीर, चरित्र तथा मस्ति[illegible] के उत्तरोत्तर विकास—का प्रयत्न है"।

अतएव, प्रकृतिवादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है—बालकों को अपनी प्रकृति अथवा नैसर्गिक गुणों के अनुसार स्वतः विकसित होने में सहायता देना। कोई अनुभव अथवा ज्ञान उस पर बाहर से न ठूँसा जाए। रूसो के कथनानुसार बालक को कुशल शिल्पकार, वैद्य आदि तो बाद में बनाया जायगा, पहले उसे एक उत्तम पशु ही बनने देना चाहिये। वयस्कों की धारणायें तथा आदर्श उस पर न लादे जाएँ। इस प्रकार की शिक्षा को नास्त्यात्मक शिक्षा कहा गया है क्योंकि इसमें बालक को एक पूर्व निश्चित मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न नहीं किया जाता, केवल सामान्य रूप में अनुकूल परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत निर्माण करके बालक को स्वयम् अपने अनुभवों से शिक्षा प्राप्त करने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस स्वानुभव के प्रयास में प्रकृति स्वयम् बालक को आनन्द प्रदान कर पुरस्कृत तथा उत्साहित करती है, और कष्ट देकर दंड की व्यवस्था करती है। इन्हीं नियमों के आधार पर बालक प्रकृति से सामंजस्य-स्थापन की शिक्षा प्राप्त करता है।

कतिपय आलोचकों ने प्रकृतिवाद के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है। उनके विचार से प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त साधारण है। उसमें न तो महानता है और न कोई आकर्षण। मनुष्य के सम्मुख अच्छा पशु बनने का उद्देश्य-रखना हास्यास्पद सा लगता है। नास्त्यात्मक शिक्षा के भी अनेक दोष हैं। बालक को आत्मविकास की स्वतन्त्रता एक सीमा के बाहर नहीं दी जा सकती और न उसे प्राकृतिक दंड-विधान पर ही पूर्ण रूप से छोड़ा जा सकता है। कभी-कभी प्राकृतिक दंड बड़ा गम्भीर हो सकता है और प्रकृति द्वारा प्रदत्त आनन्द ग़लत रास्ते पर भी ले जा सकता है। दूसरे, जो ज्ञान मानव जाति ने अनादि काल से संचय किया है, उसका प्रकृतिवाद के अनुसार कोई महत्व नहीं। बालक को फिर से वही ज्ञान स्वयम् अपने अनुभव से प्राप्त करना पड़ता है जिससे व्यर्थ समय का व्यय होता है। इन्हीं बातों को लेकर रस्क का कथन है कि, "हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रकृति-वाद मानव-क्रियाओं का कारण भूतकाल में खोजता है, जो वस्तु जिस दशा में हैं उसे वैसे ही स्वीकृत करके उसका यथा-संभव उपयोग करता है, सामाजिक सहयोग के स्थान पर व्यक्तिगत दृढ़ता को महत्व देता है, तथा समाज के प्रगतिशील रूप के स्थान पर पुरातन, प्रचलित पद्धति को ही चलाता है। शिक्षा में यह न तो अन्तःकरण के प्रति आदर ही जाग्रत कर पाता है और न सामाजिक उपयोगिता के लिये कुछ उत्साह ही। मनुष्य की उच्चतम आकांक्षाएँ इसकी दृष्टि में मिथ्या हैं और अपने महान् प्रयत्नों

द्वारा विश्वात्मा की इच्छा-पूर्ति में सहायक होने की भावना से उद्भूत मनुष्य के आत्म-विश्वास को प्रकृतिवाद क्षीण बना देता है।"

किन्तु यह होते हुये भी प्रकृतिवाद का प्रभाव वर्तमान शैक्षिक विचार-धारा पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बालक के अध्ययन तथा मनोविज्ञान पर शिक्षा को आधारित करने का महत्व आज हम सभी स्वीकार करते हैं। उसके शारीरिक स्वास्थ्य तथा शक्ति-संवर्द्धन, नैसर्गिक गुणों के विकास का प्रयत्न तथा व्यावहारिक ज्ञान की महत्ता प्रकृतिवाद की ही देन है। पाठ्य-विषयों में प्रकृति-निरीक्षण आदि का सम्मिलन भी उसी के प्रभाव का द्योतक है। बालक को निजी प्रयत्नों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने, तथा उस पर पके-पकाये ज्ञान को ठूँसने की प्रवृत्ति का अधिकाधिक विरोध, प्रकृतिवाद के कारण है। इसी के प्रभाव के फलस्वरूप अब कक्षा में अध्यापक का प्रभुत्व कम होता जा रहा है और शिक्षा बाल-प्रधान हो रही है।

आदर्शवाद

आदर्शवाद की दार्शनिक विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। शिक्षा पर भी उसका प्रभाव प्रारम्भ से चला आया है। वर्तमान शिक्षा में पेस्तलात्सी (सन् १७४६-१८२७ ई०) तथा फ्रॉयबल (सन् १७८२-१८५२ ई०) ने आदर्शवादी सिद्धान्तों पर बल देकर उसे नवजीवन प्रदान किया है। आदर्शवाद के अनुसार समस्त ब्रह्मांड का आध्यात्मिक रूप ही सत्य है। उसके अन्तर्गत आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत अपना अस्तित्व रखते हैं। आध्यात्मिक तत्वों का मूल आत्मा है जो मानव की विशेषता है। हिन्दू आदर्शवादी तो आत्मा का अस्तित्व समस्त प्राणि-मात्र में मानते हैं। इन आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत में क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होती रहती है तथा उसी के परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण ब्राह्मांडिक रूप की रचना होती है।

आदर्शवाद के अनुसार भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत अधिक उन्नत तथा प्रमुख है। वास्तव में सभी वास्तविकता का रूप आध्यात्मिक अधिक है, भौतिक कम। अतएव उसके अनुसार आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक परम्पराओं एवम् मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अक्षुण्ण रखना तथा उनका विकास करना शिक्षा का उद्देश्य है। इस दृष्टि से शिक्षा सदैव गतिशील क्रिया है, कोई निश्चल वस्तु नहीं। आदर्शवाद भौतिक विज्ञान की अपेक्षा धर्म, कला साहित्य आदि के अध्ययन को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। शिक्षा में चिरंतन सत्य तथा आदर्शों की प्रतिष्ठा तथा उनकी प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है। आदर्शवाद में मानव विभूतियों तथा उनके विकास पर

बल दिया जाता है। आत्म-बोध तथा व्यक्तित्व के उन्नयन का उसमें विशेष स्थान है। आदर्शवाद सामाजिक भावना को भी महत्व देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयत्नशील होकर दूसरों के प्रति सहयोग एवम् सौहार्द्र की भावना से ओत-प्रोत होता है, तथा स्वयम् अपने में समान गुणों की प्रतिष्ठा करता है। इसी से मानव समाज में अनेकता में एकता प्राप्त होती है।

आदर्शवाद जिन चिरंतन सत्यों को आदर्श-रूप में स्वीकृत करता है वे सत्य शिव तथा सुन्दर हैं। इनका आधार भी आध्यात्मिक है क्योंकि इन्हें ईश्वरीय विभूति माना गया है। इनकी प्राप्ति एक प्रकार से ईश्वर की प्राप्ति है। इस प्रकार आदर्शवाद शिक्षा में निश्चित एवम् दृढ़ उद्देश्यों की व्यवस्था करता है। प्रकृतिवाद के समान वह बालक को निरुद्देश्य आत्मविकास के लिये प्रेरित नहीं करता। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अनुभूति द्वारा व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त करता है। इसी अनुभूति में उसका मानसिक, भावनात्मक तथा चारित्रिक विकास निहित है। इस प्रकार शिक्षा में जितने महान् तथा निश्चित उद्देश्यों की प्रतिष्ठा आदर्शवाद करता है उतना कोई अन्य दार्शनिक विचार-धारा नहीं।

आदर्शवाद मनुष्य को निरे पशु रूप में नहीं मानता। मानव पशु से ऊँचा है क्योंकि वह सांस्कृतिक एवम् आध्यात्मिक वातावरण की रचना कर सकता है। वह पशु के सदृश अपने को वातावरण के अनुसार ही नहीं ढालता अपितु स्वयम् वातावरण तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का भी प्रयत्न करता है। अतएव आदर्शवाद के अनुसार मानव-समाज की सांस्कृतिक निष्पत्ति का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति को इस सांस्कृतिक निष्पत्ति में योगदान करना आवश्यक है, और यह आत्मबोध एवम् आत्म-विकास द्वारा ही हो सकता है।

आदर्शवाद शिक्षा में गुरु का स्थान प्रकृतिवाद के समान निरर्थक नहीं मानता। उसके अनुसार अध्यापक बालक के वातावरण का एक प्रमुख अंग होता है। वह सचेत, क्रियाशील तथा प्रभावशाली है, निर्जीव वस्तुओं की भाँति जड़ नहीं। अतएव, उसका प्रभाव बालक पर विशेष रूप से पड़ता है; परन्तु वह बालक के व्यक्तित्व पर अपना भार अनावश्यक रूप में नहीं डालता और न बालक के आत्मविकास में स्वयं ज़बरदस्ती घुसता है। उसका स्थान तथा कार्य सुनिश्चित है, किन्तु आवश्यकता से अधिक नहीं। वास्तव में शिक्षक स्वयम् आत्मबोध का साधक है। उसमें तथा बालक में जो अन्तर है वह केवल यह कि बालक की अपेक्षा उसका अनुभव एवम् साधना अधिक विस्तृत तथा गम्भीर होती है और इसी कारण उसे बालक के मार्ग-प्रदर्शन

का अधिकार होता है। शिक्षा द्वारा वह अपनी अनुभूति को बालक की अनुभूति से मिलाकर एकाकार कर देता है, और तब दोनों आत्म-बोध के पथ पर सहयोगी बनकर आगे बढ़ चलते हैं। इसीलिए आदर्शवाद में शिक्षक को बालक का मित्र, दार्शनिक तथा पथ-प्रदर्शक कहा जाता है।

फ्रॉयबल ने बालक को एक पौदे के समान माना है और शिक्षक को उपवन के माली के सदृश। जिस प्रकार पौदा स्वयं अपनी शक्ति तथा गुणों से बढ़ता है, उसी प्रकार बालक का भी आत्म-विकास होता है। किन्तु एक अच्छे उपवन में पौदों को उच्छृंखल रूप में बढ़कर झाड़-झंखाड़ नहीं बनने दिया जाता, उन्हें काट-छाँट कर सुन्दर रूप प्रदान किया जाता है। इस कार्य के लिए माली की आवश्यकता होती है जो पौदों की उचित देख-भाल कर उन्हें हरा-भरा रखता है। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक भी यही कार्य सम्पादित करता है। इसीलिए उसका समस्त कार्य बालक के प्रति स्नेह तथा कर्त्तव्य की भावना से ओत-प्रोत रहता है। तभी शिक्षक को बालक का शुभचिंतक माना गया है।

आदर्शवाद आशावाद पर आधारित है। उसे प्रत्येक बालक की क्षमता तथा दैवी गुणों में विश्वास होता है। शिक्षा द्वारा इन्हीं दैवी गुणों तथा आध्यात्मिक अनुभूति का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति मानव-समाज की आध्यात्मिक उन्नति में अपने सामर्थ्य के अनुसार योगदान कर सके। किसी भी बालक को अयोग्य मान कर छोड़ नहीं दिया जाता। इसी कारण आदर्शवाद के अनुसार आधुनिक मनोविज्ञान को शिक्षा का सम्पूर्ण आधार नहीं माना जा सकता। आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्ति में आध्यात्मिक अनुभूति की सत्ता नहीं मानता और न विशद चारित्रिक विकास की कल्पना ही करता है। इसी कारण आदर्शवाद को शिक्षा का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पूर्णतया मान्य नहीं।

आदर्शवाद के विरोधी अध्यात्मवाद को यथार्थ से विलग मानते हैं। इनके अनुसार मनुष्य की वास्तविक तथा दिन प्रतिदिन की समस्याओं को सदैव आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न भुलावा मात्र है। साथ ही आदर्शवाद उद्देश्य निर्धारण में तो बहुत उच्च स्तर पर हमें उठा ले जाता है किन्तु उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोई सहज सुलभ मार्ग नहीं बताता। कुछ ल ग तो सब समय तथा सब परिस्थितियों के लिए एक ही उद्देश्य की कल्पना मात्र का विरोध करते हैं। उनके अनुसार मानव जीवन के उद्देश्य चिरंतन नहीं होते, वे समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

प्रयोजनवाद

प्रयोजनवाद नवीनतम दार्शनिक विचारधारा है, यद्यपि बीजरूप में उसका अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन माना जा सकता है। अंग्रेज़ी का 'प्रैग्मेटिज़्म' शब्द ग्रीक 'प्रैग्मेटिकोस' से निकला है जिसका अर्थ है 'व्यावहारिक' अथवा 'व्यवहार्य'। सुकरात, लॉक, बर्कले, ह्यूम आदि दार्शनिकों ने भी इसका प्रयोग किया है किन्तु आधुनिक समय में ही प्रयोजनवाद एक शक्तिशाली दार्शनिक विचारधारा के रूप में स्वीकृत हुआ है। इसका श्रेय अमरीकी शिक्षा-शास्त्री जॉन डीवी (सन् १८५६-१९५२ ई०) को है।

यदि एक ओर प्रयोजनवाद का विरोध आदर्शवाद से है तो दूसरी ओर प्रकृतिवाद से भी। वह आदर्शवाद के समान किसी चिरंतन आदर्श की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। प्रयोजनवाद के अनुसार जीवन के आदर्श स्वयं प्रयोगावस्था में हैं ; वे एक बार सब समय तथा सब परिस्थितियों के लिए निश्चित नहीं किये जा सकते। अतः विभिन्न समस्याओं का सामना कर समय-समय पर नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करनी होती है, परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर उनका पुनः परीक्षण किया जाता है तथा उनमें परिवर्तन करना होता। आदर्शों की खोज तथा उनके निमित्त किया गया प्रयोग ही शिक्षा है। पूर्व-निश्चित तथा चिरंतन आदर्शों का पालन शिक्षा नहीं कहला सकता। किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो अपने आदर्शवाद के इस विरोध में प्रयोजनवाद एक आदर्श तो मानना ही है और वह है 'शिव' अथवा उपयोगिता का। समस्याओं तथा परिस्थितयों का समाधान करने में जो आदर्श सफल होते हैं उन्हें वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है। प्रकृतिवाद बालक के आगे कोई भी आदर्श अथवा वाह्य लक्ष्य नहीं रखता। उसमें तथा प्रयोजनवाद में यह मुख्य भेद विशेष है।

प्रयोजनवाद अपने प्रयोग के आधार पर आदर्शवादी सत्यम् तथा सुन्दरम् की भी सत्ता स्वीकार करने को प्रस्तुत है, किन्तु आँख मूँद कर बिना जाँच-परीक्षण किए नहीं। किसी भी आदर्श के प्रति न उसका आकर्षण है और न विद्रोह, उसे तो वही आदर्श स्वीकृत हैं जो प्रयोग द्वारा उपयोगी सिद्ध हो सकें। प्रयोजनवाद के अनुसार दर्शन तथा आदर्श जीवन की क्रियाशीलता से प्रादुर्भूत होते हैं, किन्तु आदर्शवाद के अनुसार जीवन आदर्शों के पालन का प्रयत्न है। बालक शिक्षा द्वारा इन आदर्शों की रक्षा करता तथा अनुभूति प्राप्त करता है— यही जीवन है। प्रयोजनवाद के अनुसार बालक जीवन के प्रयोग तथा क्रियात्मकता द्वारा स्वयं नवीन आदर्शों की खोज

तथा प्रतिष्ठा करता है। प्रयोजनवाद सोद्देश्य क्रिया में विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी उद्देश्य होता है तथा उसकी प्राप्ति एवम् आवश्यकताओं की पूर्ति उसे संतुष्टि प्रदान करती है। यही संतुष्टि उसका लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति में सहायक समस्त साधन उसके लिए उपयोगी हैं।

व्यावहारिक उपयोगिता की मान्यता के कारण प्रयोजनवाद ने शिक्षा में एक नवीन चेतना तथा उत्साह संचारित कर दिया है। पुरातन, अव्यक्त तथा परम्परागत आदर्श अब व्यक्ति पर बलपूर्वक लादे नहीं जाते, उनका बंधन ढीला हो चुका है। अब प्रत्येक बालक स्वयम् अन्वेषक बन गया है तथा शिक्षा में उसका महत्व बढ़ गया है। कोरे सिद्धान्तों का मनन करते रहना ही शिक्षा नहीं। अब प्रयोग, क्रियाशीलता, व्यावहारिक उपयोग ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है। इसी कारण प्रयोजनवाद ने प्रयोगात्मक तथा योजनात्मक पद्धतियों का प्रचलन किया है जिनके द्वारा प्रत्येक विषय वास्तविक समस्याओं के समाधान के प्रयत्न द्वारा पढ़ाया जाता है।

प्रयोजनवाद की शक्ति ही संभवतः उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। रस्क के शब्दों में "प्रयोजनवाद द्वारा व्यावहारिकता पर अत्यधिक बल देने में भय इस बात का है कि कला हस्तकार्य की दासी बन जाएगी, विशुद्ध विज्ञान उपेक्षित हो जाएगा और कविता योजनाओं का आभूषण मात्र रह जाएगी।" समस्त आदर्शों एवम् मान्यताओं को केवल उपयोगिता की कसौटी पर कसना उनके अपने महत्व को भुला देना है।

यथार्थवाद

शिक्षा में यथार्थवाद की भावना कोरे पुस्तकीय एवम् शब्द-जाल-पूर्ण ज्ञान के विरोध में प्रस्फुटित हुई। पश्चिमी देशों में मध्ययुग में मृत भाषाओं एवम् पुस्तकीय तथा अव्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति ही शिक्षा का एकमात्र ध्येय हो गया था। फल-स्वरूप शिक्षा तथा वास्तविक जीवन के बीच भेद बढ़ता गया और शिक्षालयों का वातावरण अवास्तविक तथा अव्यावहारिक हो गया। बेकन (सन् १५६१—१६२६ ई०), लॉक (सन् १६३२—१७०४ ई०), कोमेनियस (सन् १५९२—१६७० ई०) तथा बाद में स्पेन्सर (सन् १८२०—१९०३ ई०) ने शिक्षा में यथार्थवाद का प्रणयन किया।

यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा में 'शब्दों' के स्थान पर 'वस्तुओं' का महत्व होना चाहिए। वास्तविक जीवन में व्यक्ति के सम्मुख जीविकार्जन की समस्या प्रमुख होती है, अतएव उसे कला-कौशल तथा व्यवसाय की शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक

है। यथार्थवादियों के अनुसार पाठ्यक्रम में कोरे साहित्यिक तथा कलात्मक विषयों के स्थान पर व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक विषयों को प्रधानता दी जानी चाहिए। प्राचीन मृत भाषाओं के स्थान पर बालक की मातृभाषा का महत्व अधिक यथार्थ एवम् आवश्यक है। यथार्थवादी शिक्षण विधियों में भी यात्रा, प्रयोग, प्रदर्शन आदि को महत्व देते हैं, कोरे शाब्दिक आदान-प्रदान को उचित नहीं मानते।

इस प्रकार यथार्थवाद द्वारा शिक्षा में उन नवीन उद्देश्यों का प्रादुर्भाव हुआ जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हम वर्तमान शिक्षा पर देखते हैं। बालक के भावी जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उसे उनके लिए तैयार करना यथार्थवादी दृष्टिकोण है। वह बालक को पुरानी परम्परा तथा असत्य मानसिक जगत से उठाकर वास्तविक एवम् प्रगतिशीलता के पथ पर लाकर खड़ा कर देना चाहता है। उसके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य मूर्त्त तथा वास्तविक जीवन का स्पर्श करने वाले होने चाहिए।

इसके अतिरिक्त अन्य कई दार्शनिक विचारधाराओं ने भी समय-समय पर शिक्षा में नवीन उद्देश्यों का संचार तथा पुराने उद्देश्यों का संपरिवर्तन किया है। मानववाद ने शिक्षकों का ध्यान पुस्तकों पर से उठाकर बालक तथा उसके मानवीय गुणों के विकास पर केन्द्रित कर दिया। प्रगतिवाद ने शिक्षा में समय-समय पर अवरोध पैदा करने वाली जड़ता तथा रूढ़िवादिता पर कठोर प्रहार किया, और शिक्षा के उद्देश्यों को जीवन के साथ प्रगति करते रहने की प्रेरणा दी। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों ने स्वयम् नवीन उद्देश्यों का सुझाव न देकर भी मनुष्य की विचारधारा तथा शिक्षा के प्रति हमारे दृष्टिकोण को बहुत कुछ परिवर्तित कर दिया है। शिक्षा के उद्देश्यों में यह परिवर्तन व्यक्ति की विचारधारा के परिवर्तन के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे होता रहा है। इस परिवर्तन की ऐतिहासिक धारा पर हम आगामी अध्याय में दृष्टिपात करेंगे।
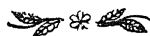
अध्याय ४

शैक्षिक उद्देश्यों की ऐतिहासिक धारा

शिक्षा को प्रभावित करने वाली विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन करने से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण का प्रयत्न अनवरत रूप से होता आया है। समय-समय पर तत्कालीन प्रमुख विचारधारा के आधार पर जीवन-निर्माण की आवश्यकता समझ कर शिक्षा-शास्त्री उपयुक्त उद्देश्यों द्वारा अपना मार्ग-प्रदर्शन करते रहे हैं। इस परम्परा की अनेक धाराएँ आज हमारे शिक्षा-क्षेत्र में स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। आज के हमारे अनेक उद्देश्य इस प्रकार की ऐतिहासिक विशेषताओं से मंडित हैं। अतएव शिक्षा के इतिहास में उद्देश्यों की प्रगति का थोड़ा-बहुत अनुमान लगा लेना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। आज शिक्षा के उद्देश्य क्या हों? इस प्रश्न का यथोचित उत्तर तभी दिया जा सकता है जब हम पहले इस दिशा में किए गए पूर्व-प्रयत्नों पर दृष्टिपात कर लें।

यूरोप में

यूरोप में शिक्षा के उद्देश्यों का ऐतिहासिक दिग्दर्शन अत्यंत रोचक तथा ज्ञातव्य विषय है। प्राचीन यूनान में आक्रमणकारियों से अपने राज्य की रक्षा के हितार्थ राज्य को सतत् सजग एवम् प्रयत्नशील रहना पड़ता था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि उनकी शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक शक्ति, शौर्य, विनय तथा संगठन हो। स्पार्टा में 'राज्य अथवा शिक्षा का ध्येय नागरिक में अदम्य उत्साह, धैर्य, सहनशीलता, देशभक्ति, आज्ञापालन, बड़ों के प्रति सम्मान तथा समयानुकूल व्यवहार करने की क्षमता उत्पन्न करना था। अतः उनका उद्देश्य केवल सैनिक तैयारी था। पारस्परिक सहानुभूति तथा कोमल भावनाओं को कहीं भी स्थान न दिया गया।'

जीवन की कठोरता से टक्कर लेने के लिए शारीरिक तथा मानसिक दृढ़ता, चारित्रिक गठन तथा शक्ति-संचय ही शिक्षा के सर्वमान्य उद्देश्य माने गये।

स्पार्ता की शिक्षा-प्रणाली के इन उद्देश्यों से एथेन्स में प्रचलित शिक्षा के उद्देश्य कुछ भिन्न थे। राज्य की सेवा करने तथा उसे सुदृढ़ बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में नागरिकता के मूल गुणों की अपेक्षा की जाती थी। परन्तु, व्यक्ति को अपने निज के विकास की पूर्ण भी स्वतंत्रता थी। स्वास्थ्य, शारीरिक सौन्दर्य, चारित्रिक गुण तथा सौन्दर्यानुभूति का विकास एथेन्सवासियों के लिए शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य थे। 'शारीरिक शक्ति व साहस उत्पन्न करने के साथ ही शिक्षार्थियों में आज्ञापालन, सत्य, सहिष्णुता एवम् सौन्दर्य-बोध उत्पन्न करना, तथा जीवन में सुख प्राप्त करने की भावना जाग्रत करना भी उनका लक्ष्य था। एथेन्स की शिक्षा-प्रणाली में व्यक्ति का यथेष्ठ महत्त्व था परन्तु फिर भी व्यक्तिगत उन्नति व निष्पत्ति को राज्य के समक्ष गौण ही समझा जाता था।' विद्वानों का कथन था कि धर्म को पारिवारिक, आर्थिक एवम् राजनैतिक विषयों से पृथक नहीं किया जा सकता। इसलिए वे धर्म को शिक्षा के पृथक उद्देश्य के रूप में नहीं मानते थे।

बाद में यूनान को सामाजिक ह्रास के दिन देखने पड़े। तर्कवादियों के अनुसार दैहिक सुख ही सर्वप्रधान माना जाने लगा। उनके लिए व्यक्ति का हित राज्य-हित से बढ़कर था। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान-प्राप्ति था। 'अनेक विषयों का ज्ञाता, वाद-विवाद में कुशल, वाक्‌युद्ध में चतुर तथा तर्क करने में कुशल व्यक्ति ही शिक्षित समझा जाता था।' इसके विपरीत इसी युग में यूनान के विख्यात विद्वान सुक़रात, प्लेटो तथा अरस्तू ने शिक्षा के नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक उद्देश्यों को समान महत्व प्रदान किया, यद्यपि उनका प्रभाव तत्कालीन समाज पर अपेक्षाकृत कम ही पड़ा।

रोमन आदर्श यूनानियों से भिन्न था। रोमवासी अपने जीवन में अधिकार तथा कर्त्तव्य को विशेष स्थान देते थे। व्यक्ति एवम् राज्य का सम्बन्ध भी इन्हीं नियमों पर आधारित था। उनकी शिक्षा व्यावहारिक तथा सुखकर थी। 'देवभक्ति, माता-पिता की आज्ञा का पालन, युद्ध तथा कष्ट के समय साहस, अपने पारिवारिक तथा निजी प्रबंध में चतुरता, गाम्भीर्य तथा आत्म-सम्मान को रोमन चरित्र के प्रधान गुणों में गिनते थे।' कालान्तर में रोम साम्राज्य का ह्रास होने लगा तथा रोमन शिक्षा की अनुपयोगिता अधिकाधिक प्रकट हो चली। ईसाई धर्म के प्रचार ने भी शिक्षा के उद्देश्यों में नवीन परिवर्तन का सूत्रपात किया।

मध्य युग

ईसा मसीह के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक तथा नैतिक था। अतएव ईसाई मत के प्रचलन के बाद से शिक्षा एवम् धर्म का सम्बन्ध निरन्तर बढ़ता गया। शैक्षिक संस्थाएँ गिरजाघरों से सम्बद्ध होने के साथ ही बालकों को प्रारंभ से धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न करने लगीं। धर्म के इस अत्यधिक प्रभाव के कारण समस्त यूरोप पर पोप का आधिपत्य बढ़ गया तथा धार्मिक शिक्षा का प्राधान्य हो गया। इसी कारण शिक्षा में धार्मिक तथा नैतिक उद्देश्यों की प्रधानता भी दिखाई पड़ती है। उस समय संयम, आत्म-त्याग, शरीर को अनेकानेक कष्ट देकर आध्यात्मिक उन्नति, धार्मिक वाद-विवाद की कुशलता, धर्मशास्त्र तथा कुछ उदार कलाओं की शिक्षा आवश्यक समझी जाती थी। किन्तु समयान्तर से धार्मिक विशदता एवम् उदारता का अंत होने लगा और धार्मिक शिक्षा केवल अंधविश्वास तथा कर्म-कांड में ही सीमित हो गई।

मार्टिन लूथर (सन् १४८३—१५४६ ई०) ने सर्वप्रथम इस धर्मान्धता के विरुद्ध आन्दोलन किया, तथा धर्म एवम् भौतिक जीवन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह बालकों में धार्मिक अंधविश्वास की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टिकोण पैदा करना चाहते थे। कोरे बुद्धिवाद से भी उनका वैर था। वह 'बाइबिल के आदेशों द्वारा ही सब बातों की सत्यता प्रमाणित करना चाहते थे। उनके अनुसार शिक्षा द्वारा व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ ईसाई समाज के स्थायित्व में योग दे सके।'

आधुनिक काल

मध्य-काल में धार्मिक तथा अन्य संस्थाओं के अत्यधिक प्रभाव के कारण शिक्षण में बालक के व्यक्तित्व को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। शिक्षा द्वारा ठोक-पीट कर उसे संस्था के अनुकूल एवम् नियम-बद्ध कर लिया जाता था। व्यक्ति पर किए गए इन असह्य अत्याचारों के विरोध में प्रथम महान् राजनीतिक आन्दोलन फ्रांस की क्रान्ति के रूप में प्रकट हुआ। इसके पूर्व कोमेनियस (सन् १५९२—१६७० ई०) ईश्वर-भक्ति, चरित्र-विकास तथा व्यक्ति के जीवन की सफलता को शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित कर चुके थे। जॉन लॉक (सन् १६३२—१७०४ ई०) बालक के व्यक्तित्व की संरक्षा तथा विकास के समर्थक थे। उसके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक उत्थान में ही लॉक के शिक्षादर्श निहित थे।

रूसो (सन् १७१२—१७७८ ई०) के अनुसार बालक के नैसर्गिक गुणों का प्राकृतिक ढंग से विकास ही शिक्षा का चरम उद्देश्य हो सकता है। बालक के स्वाभाविक कार्यों में योग देकर उसके प्राकृतिक विकास का अवसर देना ही शिक्षा का कर्त्तव्य है। वह बालक को स्वतंत्र वातावरण में, प्रकृति द्वारा प्राकृतिक ढंग से शिक्षा देना चाहते हैं, सामाजिक बन्धनों के बीच रूढ़िगत शिक्षा नहीं। उनकी शिक्षा का उद्देश्य है अंगों, इन्द्रियों तथा विभिन्न शक्तियों का विकास करके पूर्ण प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना। शिक्षा ही जीवन है। भावी जीवन की तैयारी का लक्ष्य कृत्रिम तथा सामाजिक रूढ़िवादिता का द्योतक है, वैज्ञानिक शिक्षा का नहीं।

शनैः शनैः वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं के अनुसार शिक्षा में बालक का महत्व स्वीकार किया जाने लगा। बालक का उचित अध्ययन करके उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों तथा गुणों के अनुसार उसे विकसित करने का उद्देश्य शिक्षा में व्यापक रूप से माना जाने लगा। पेस्तलॉत्सी (सन् १७४६—१८२७ ई०), फ्रॉयबल (सन् १७८३—१८५२ ई०), आदि शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के उद्देश्यों को बालक के व्यक्तित्व पर आधारित किया। वैज्ञानिकों ने शिक्षा में मूर्त्त, व्यावहारिक तथा जीवनोपयोगी उद्देश्यों को मान्यता दी। स्पेन्सर (सन् १८२०—१९०३ ई०), हक्सले (सन् १८२५—१८९५ ई०) आदि ने शिक्षा में विज्ञान तथा व्यावसायिक उद्देश्यों को महत्व दिया। हरबार्ट (सन् १७४६—१८४१ ई०) ने अवश्य शिक्षा में चरित्र-निर्माण का उद्देश्य प्रमुख माना था, किन्तु इनका प्रभाव सर्वव्यापी न हो पाया।

वर्तमान समय में उद्योगों के यान्त्रीकरण, वैज्ञानिक उन्नति तथा व्यावसायिक प्रसार के कारण शिक्षा द्वारा व्यक्ति को किसी व्यवसाय-विशेष के लिए तैयार करने का उद्देश्य अत्यन्त प्रमुख हो गया है। विशिष्ट व्यावसायिक शिक्षा तथा एक क्षेत्र में उच्चतम प्रशिक्षण द्वारा निपुणता प्राप्त करना इसका स्वाभाविक परिणाम है। आज स्पष्ट ही शिक्षा का उद्देश्य अव्यावहारिक, सैद्धान्तिक तथा कोरी ज्ञान-प्राप्ति में निहित न होकर व्यावहारिक व्यावसायिक दक्षता की ओर झुक रहा है। प्रयोजनवाद के प्रभाव ने शिक्षा के परम्परागत उद्देश्यों की मान्यता के स्थान पर नवीन उद्देश्यों तथा मूल्यों की खोज के लिए प्रयोग पद्धति का प्रचलन कर दिया है। यद्यपि यान्त्रीकरण की प्रगति तथा संकुचित व्यावसायिक निपुणता के लक्ष्य के कारण बालक के व्यक्तित्व की थोड़ी-बहुत उपेक्षा अवश्य हुई है, तथापि मनोविज्ञान और व्यावसायिक निर्देश आदि ने शिक्षा में बालक के व्यक्तित्व का महत्व भी कुछ सीमा तक अक्षुण्ण बनाए रखा है।

डीवी (सन् १८५६—१६५२ ई०) के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण तैयार करने में है जिसमें व्यक्ति मानव-जाति की सामाजिक जाग्रति में सफलतापूर्वक भाग ले सके। प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार समान अवसर मिलना चाहिए। पाठशाला के सामाजिक वातावरण में बालक को स्वयम् अपनी क्रियाशीलता तथा अनुभव से शिक्षा प्राप्त होती है, और व्यक्ति अपना आत्मविकास कर सम्पूर्ण समाज को स्थायित्व प्रदान करता है। डीवी के उपयोगितावाद के इन सिद्धान्तों का प्रभाव अमरीका तथा यूरोप में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

दूसरी ओर, वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप की शिक्षा में राष्ट्रीय भावना तथा देश के लिए त्याग का उद्देश्य व्यापक हो गया था। जर्मनी, इटली, फ्रांस, इङ्गलैंड आदि सभी देशों में देश-प्रेम के गाने गाए जाते थे तथा अपने देश को दूसरों से अच्छा सिद्ध किया जाता था। इसी संकुचित राष्ट्रीयता के कारण समस्त विश्व को दो महायुद्धों की अग्नि में जलना पड़ा। अतएव, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् शिक्षा में संकुचित नागरिकता तथा स्वदेश-प्रेम के स्थान पर विश्व-बन्धुत्व एवम् विश्व-नागरिकता का उद्देश्य प्रमुख हो चला है। यह माना जाने लगा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का सफल नागरिक होते हुए भी विश्व-नागरिकता की भावना से ओत-प्रोत हो सकता है। जनतन्त्रवाद के प्रभाव के कारण समाज एवम् व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध में दोनों ओर से उत्तरदायित्व की भावना संचरित हो रही है। नागरिकता की शिक्षा अब व्यक्ति को राज्य का दास बनाने में नहीं मानी जाती ; व्यक्ति के स्वतंत्र तथा सम्पूर्ण विकास में ही समाज का उन्नयन निहित है।

शिक्षा के वर्तमान उद्देश्यों में किसी एक उद्देश्य-विशेष की प्रधानता नहीं। उनमें पिछले सभी उद्देश्यों का समावेश दीख पड़ता है। मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सामाजिक आदि सभी भावनाओं का समन्वय करने की परिपाटी शिक्षा में प्रचलित है। बैगले के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य मनुष्य को सफल नागरिक बनाना है, और सफल नागरिक वही है जो अपना पूर्णतम विकास करते हुए भी समाज-हित के लिए स्वार्थ-त्याग कर सके। बटलर के अनुसार "शिक्षा का अभिप्राय व्यक्ति को जाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति के अनुकूल बनाना है"। इसके अन्तर्गत साहित्यिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा धार्मिक—सभी उद्देश्य आ जाते हैं।

भारतीय उद्देश्यों की परम्परा

भारतीय जीवन प्रारंभ से ही धार्मिक भावनाओं से मंडित रहा है। व्यक्ति

तथा समाज का सम्पूर्ण जीवन धार्मिक आदर्शों की प्रतिष्ठा तथा धार्मिक कृत्यों की गुरुता पर आधारित था। धर्म का अर्थ भी अत्यन्त विशद एवम् आदर्श-रूप में लिया जाता था जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के चारित्रिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी व्यापार माने जाते थे। वैदिक शिक्षा में दैनिक कृत्यों, यज्ञ आदि में समुचित भाग लेना ही जीवन की प्रधान आवश्यकता थी। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य वेदों का ज्ञान, यज्ञों में भाग लेने की क्षमता तथा दैनिक कृत्यों का कुशल सम्पादन था। पारिवारिक गुरु इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर परिवार के सब सदस्यों को शिक्षा प्रदान करते थे।

ब्राह्मण काल में धर्म तथा शिक्षा का पूर्ण समन्वय था। उसके अनुसार धार्मिक जीवन, आध्यात्मिक उन्नति तथा ईश-प्राप्ति ही शिक्षा के उद्देश्य माने जाने लगे। धार्मिक जीवन के अन्तर्गत नैतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्य दोनों ही आ जाते थे। अतएव 'आज्ञापालन, सत्यवादिता, सहिष्णुता आदि नैतिक गुणों का उद्रेक करना ही उनकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। साथ ही उसमें नियम परायणता, कर्तव्यनिष्ठा, जाति तथा धर्म की मर्यादाओं का पालन, धर्म व नीति की शिक्षा भी सम्मिलित थी।' वर्णानुसार औद्योगिक शिक्षा का उद्देश्य भी मान्य था, यद्यपि यह स्पष्ट है कि जीवन में केवल भौतिक सुखों की प्राप्ति, शारीरिक सुख, धन-संचय आदि को हेय समझा जाता था। बालक को शिक्षा द्वारा इन उद्देश्यों से पराङ्मुख करके उसे आध्यात्मिक सुख की ओर प्रेरित किया जाता था। 'संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पवित्रता का प्रसार, हृदय-शोधन, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिकता तथा सामाजिकता का ज्ञान, राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा तथा भौतिक उन्नति ब्राह्मणीय शिक्षा के उद्देश्य थे।'

धीरे-धीरे समाज में जातीय बंधन कठोर होते गए तथा प्रत्येक जाति के व्यक्तियों के कृत्य भी पूर्णतया निश्चित एवम् परिदृढ़ हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के उद्देश्य सम्पूर्ण समाज के लिए समान न रहकर जाति के अनुसार निर्धारित होने लगे। इस प्रकार जाति-गत व्यावसायिक उद्देश्य द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उस क्षेत्र के लिए तैयार किया जाता था जिसमें उसे आगे चलकर कार्य करना हो। इससे प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र-विशेष में दक्षता प्राप्त कर लेता था। किन्तु जीवन के एक सीमित क्षेत्र में ही व्यक्ति को शिक्षित करना, तथा वह भी केवल जाति के आधार पर, बालक के सर्वाङ्गीण विकास की उपेक्षा करना था।

अतएव, ब्राह्मण-काल में शिक्षा के इन सीमित उद्देश्यों के कारण समाज का

सुसंगठित विकास थम गया। सामाजिक दशा उत्तरोत्तर गिरती गई। इस काल में हम व्यक्तिगत दक्षता तो बहुत पाते हैं किन्तु उदार सामाजिक भावना का अत्यंत अभाव। इस सामाजिक ह्रास में ब्राह्मणों की संकुचित परलोक भावना ने भी अत्यधिक योग दिया। प्रत्येक बालक जीवन में सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा परलोक सुधारने के उद्देश्य से शिक्षित किया जाने लगा। इस भावना के कारण भारतीय समाज में क्रियाशीलता और उद्यम के स्थान पर दार्शनिक चिन्तन तथा अकर्मण्यता ने आधिपत्य स्थापित कर लिया। सामाजिक आचरण तथा व्यवहार एवम् चारित्रिक गुणों की न्यूनता भी इस काल में बहुत कुछ दिखाई पड़ती है।

इस सामाजिक ह्रास को रोकने तथा व्यक्ति एवम् समाज से उत्थान के लिये जो शक्तिशाली आन्दोलन देश में हुआ वह बौद्ध मत के रूप में था। धार्मिक संकुचितता तथा चारित्रिक पतन से उबारने के लिये बौद्ध शिक्षा में शुद्धाचरण, चारित्रिक विकास एवम् दृढ़ता, मानवीय एकता तथा व्यापक धार्मिकता शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किये गये। समस्त देश में शिला-लेखों के रूप में शुद्धाचरण के आदेश बौद्ध धर्म में उसकी प्रमुखता स्पष्ट दर्शाते हैं। इस आन्दोलन के फलस्वरूप जहाँ व्यक्तिगत जीवन नियन्त्रित तथा उन्नत हुआ वहाँ समाज में भी सुव्यवस्था तथा दृढ़ता आई।

क्रमशः बौद्ध शिक्षालयों और विहारों में भी मूल आदर्शों तथा शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन होने लगा। 'इसमें भी अब व्यावसायिक गन्ध समा गई तथा धर्म-निरपेक्षता आने लगी, और शिक्षा राजकीय तथा अन्य उच्च पद प्राप्त करने का साधन बन गई।' समाज पर ब्राह्मण-शिक्षा के उद्देश्यों का प्रभाव भी निरन्तर बना रहा और परिणामस्वरूप सामाजिक अव्यवस्था एवम् अपूर्णता वृद्धि पाने लगी। 'ब्राह्मण तथा बौद्ध शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य इहलोक की उपेक्षा करके परलोक को अधिक महत्त्व देने लगे। इस भौतिक जीवन को असत् तथा संसार को भ्रम मानकर वे आत्मा को बन्धन में बाँधने वाले जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने की आकांक्षा करने लगे।' ऐसी भावना से प्रेरित होने वाला समाज उन विदेशी आक्रमणों का सामना किस प्रकार कर सकता था जो यवनों द्वारा इस काल में हुए!

मध्यकाल

मध्यकाल में भी भारतीय शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक जीवन-यापन ही रहा। जातियों के भेद-प्रभेद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त अनम्य हो गये। जाति-बन्धन के कारण व्यवसाय-पालन में व्यक्तिगत रुचि का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

बढ़ई के बालक को जन्म से अपने पैतृक व्यवसाय में ही शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। इसी प्रकार कुम्हार, लोहार आदि के बालकों की शिक्षा का उद्देश्य उनकी जाति के अनुसार पूर्व-निश्चित था।

पाठशालाओं के समान मकतब, मदरसों आदि में भी धार्मिक उद्देश्य प्रधान था। ये शिक्षालय धार्मिक संस्थाओं के अंग होते थे तथा उनकी संरक्षता में अपना कार्य-संचालन करते थे। धर्म-ग्रंथों के पाठ के अतिरिक्त कुछ प्रारंभिक शिक्षा भी बालकों को प्राप्त थी। धर्म से पृथक अन्य विषयों, यथा गणित, ज्योतिष, व्याकरण, भूगोल आदि को भी उच्च शिक्षालयों में पढ़ाया जाता था। 'मुग़लों के राज्य काल में शिक्षा के उद्देश्यों में किंचित् परिवर्तन कर दिया गया। धर्म की अपेक्षा नैतिकता को अधिक महत्व दिया जाने लगा।' सफलता-विफलता को समदृष्टि से देखने, वातावरण के अनुकूल बनने, तथा अपने लिये जीविकोपार्जन की क्षमता प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के गुण माने जाने लगे। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यकाल में धार्मिक जीवन, चारित्रिक विकास एवम् व्यावसायिक निपुणता ही शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य थे। कुछ व्यक्ति ज्ञानार्जन तथा विद्वत्ता के लिए भी शिक्षा प्राप्त करते थे।

'इसलामी शिक्षा की सब से बड़ी विशेषता उसकी धार्मिक व सांसारिक शिक्षा का एकीकरण है। इसलाम परलोक अथवा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को नहीं मानता, अतः इसमें सांसारिक वैभव अथवा इसी लोक की सम्पदाओं का विशेष महत्त्व है। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान शिक्षा-शास्त्रियों ने जीवनोपयोगी शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया।...फीरोज, अकबर और औरंगज़ेब ने सांसारिक शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया।...मकतबों में जहाँ कुरान व हदीस इत्यादि का अध्ययन कराया जाता था और ईश-प्रार्थनाएँ होती थीं, वहाँ सांसारिक शिक्षा भी प्रदान करके जीवन में एक साम्य लाने का प्रयास तत्कालीन शिक्षा ने किया।'

आधुनिक काल

आधुनिक काल के प्रारंभ में भी भारत में शिक्षा तथा धर्म का सम्बन्ध बहुत-कुछ चलता रहा। किन्तु, साधारण जनता के जीवन में भोजन-वस्त्र की समस्या प्रधान बनी रही। अतएव, बालकों की शिक्षा का उद्देश्य या तो कोई व्यवसाय अथवा हस्त-कौशल सीखना था, या फिर कहीं नौकरी ढूँढना। अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य तो प्रारंभ में स्पष्ट ही लोगों को दफ्तरों मे नौकरी दिलाना था। शिक्षा का यह संकीर्ण पेट-पालन का उद्देश्य आज भी भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में प्रमुख है। इसके अतिरिक्त जात्या-

नुसार विहित कर्म करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए भी बालकों को शिक्षा दी जाती थी। किन्तु, व्यावसायिक शिक्षा का कोई सविधिक तथा व्यवस्थित प्रबन्ध नहीं था। प्रायः बालक घरों में रहकर ही अपने सीमित क्षेत्र में साधारण योग्यता प्राप्त कर लेते थे। शिक्षा-संस्थाओं में केवल धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन तथा कोरा सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करने का प्रबंध था। परिणामस्वरूप शिक्षा जीवन की सत्यता से अछूती एवम् अनभिज्ञ रही।

पिछले कुछ वर्षों से देश में विभिन्न पाश्चात्य विचारधाराओं का निरन्तर प्रभाव पड़ रहा है। शिक्षा में बालक तथा उसके व्यक्तित्व की प्रधानता उत्तरोत्तर मानी जाने लगी है। देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन ने भी जनता का ध्यान वर्तमान शिक्षा के दोषों एवम् उसके संकुचित उद्देश्यों की ओर आकर्षित किया। जीवन और शिक्षा के बीच का बढ़ता हुआ भेद भी अनुभव किया गया। वर्तमान शताब्दी में कुछ ही वर्षों के भीतर दो महान् विश्व-व्यापी युद्धों ने मानव-जाति की परम्परागत विचारधारा को बुरी तरह झकझोर दिया है, और नवीन आदर्शों तथा मूल्यों की खोज की ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ है। अमरीका तथा अन्य देशों की औद्योगिक एवम् भौतिक उन्नति ने भी हमारे विचारों को इस दिशा में उन्मुख किया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश का उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। दूसरों के प्रति इस उत्तरदायित्व को निबाहने के पूर्व उसे स्वयम् अपने प्रति भी महान् उत्तरदायित्वों को पूरा करना है। यह कार्य शिक्षा ही कर सकती है। अपने राष्ट्र की आन्तरिक तथा सम्पूर्ण विश्व की इस नवीन परिस्थिति में शिक्षा को अपना अमूल्य योगदान देकर भविष्य का स्वर्णकाल निर्मित करना है। विभिन्न पंचवर्षी योजनाओं में शिक्षा-विकास की रूपरेखा इसी दिशा में एक प्रयास है। किन्तु हमारा यह प्रयत्न सफल तभी हो सकता है जब देश की नवीन परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा में नवीन एवम् महान् उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की जाए।

अध्याय ५

शिक्षा के उद्देश्य : व्यावसायिक तथा संस्कृतिक उन्नयन

शिक्षा के व्यावसायिक उद्देश्य के मूल में व्यक्ति का जीविकार्जन का लक्ष्य निहित है। इसीलिए कुछ लोग इसे जीविकार्जन अथवा दाल-रोटी का उद्देश्य भी कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में उपार्जन द्वारा अपनी उदर-पूर्ति करनी होती है और उसके निमित्त वह उपयुक्त व्यवसाय में रत होता है। जीविकार्जन के हेतु ही वह विशिष्ट शिक्षा एवम् प्रशिक्षण प्राप्त करता है तथा हस्त-कौशल एवम् कार्य-कुशलता के लिए प्रयत्नवान होता है। अतएव, जीविकार्जन का उद्देश्य ही व्यक्ति को व्यावसायिक क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करता है।

जीविकार्जन का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में प्रारंभ से ही विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। सर्वसाधारण यह मानते हैं कि शिक्षा द्वारा बालक स्वावलम्बी बनता है। वह शिक्षा निरर्थक है जो व्यक्ति को उपयोगी कार्य में लगा कर उसे अपनी जीविका अर्जन करने योग्य न बना सके। इस विचार के समर्थकों का कथन है कि मनुष्य का जीवन शारीरिक भित्ति पर ही आधारित है। अतएव, शरीर-रक्षा की आवश्यकता सर्वप्रथम है। भोजन, वस्त्र, घर आदि के बिना तो जीवन चलना ही असम्भव है। अतः जीवन के आदर्श चाहे जितने उच्च हों, सर्वप्रथम तो भोजन-प्राप्ति का आदर्श ही स्वीकार करना होगा। यह जीवन का कठोरतम सत्य है। दर्शन एवम् कोमल भावनाओं का स्थान तथा उपयोग तो बाद की बात है पहले तो जीवित रहना तथा आराम से रहना आवश्यक है। यदि हम शिक्षा द्वारा जीवन की समस्याओं का हल चाहते हैं तो भोजन की समस्या से अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन सी समस्या होगी जिसका समाधान शिक्षा कर सके?

इस दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा स्वयम् अपने में साध्य नहीं, वह जीविकार्जन का साधन है। अतएव, बालकों को यथोचित व्यावसायिक शिक्षा प्रदान कर उन्हें उद्योगशील बनाने में ही उपयुक्त उद्देश्य की पूर्ति होती है। अमरीका में वर्तमान समय में शिक्षा के इस व्यावसायिक उद्देश्य पर विशेष बल दिया जाता है, और वहीं से इसे प्रमुखता भी प्राप्त हुई है।

शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को कार्य-कुशल बनाने पर बल देना है। प्रत्येक नागरिक को स्वयम् अपने तथा अपने आश्रित व्यक्तियों के भरण-पोषण हेतु यथेष्ट अर्जन करना आवश्यक है। अपनी उदर-पूर्ति के अतिरिक्त बच्चों, परिवार के अन्य सदस्यों आदि के लिए भी धनार्जन करना होता है। इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो धन बच रहता है उसका भी शारीरिक सुख तथा सामाजिक लाभ के रूप में यथेष्ट उपयोग है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् भी रुकता नहीं, अधिकाधिक धनोपार्जन करता चलता है और उससे अपने तथा दूसरों के सुखोपभोग का अवसर एवम् साधन प्रस्तुत करता है। किसी भी स्वस्थ नागरिक को केवल दूसरों पर निर्भर रहकर जीवन-यापन करने का अधिकार नहीं। कोई भी देश केवल निष्क्रिय तथा उपभोक्ताओं का देश बनकर उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक नागरिक का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि अधिकाधिक धनोपार्जन कर अपने तथा समाज के लिए भौतिक सुखों की उपलब्धि करे। उपार्जन में संलग्न नागरिक ही अपनी क्रियाशीलता तथा रचनात्मकता द्वारा देश को धनवान, समृद्धिशाली तथा शक्तिमान् बना सकता है।

स्वयम् प्रकृति भी प्रत्येक व्यक्ति को क्रियाशील एवम् कर्त्तव्य-रत देखना चाहती है। बेकार तथा निष्क्रिय व्यक्ति को प्रकृति अपने आप ही नष्ट कर देती है। अपने और समाज के हित में कर्मशील बने रहना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। नन्हा शिशु जन्म लेते ही क्रियारत हो जाता है; जीवन में कुछ करने, विजय पाने तथा सफल होने की उसकी आकांक्षा महान् बलवती होती है। इस स्वाभाविक प्रवेग के सम्मुख जो लोग निष्क्रियता का बाँध बनाकर मनुष्य को अकर्मण्य बना देना चाहते हैं वे प्रकृति के नियम का विरोध करते हैं। उपार्जन में रत व्यक्ति अपने बल तथा सामर्थ्य की वृद्धि करता है। बेकार और कमाऊ व्यक्ति के बीच भावनाओं, चेतना, उत्साह, उमंग, यहाँ तककि संपूर्ण व्यक्तित्त्व में जो महान् अन्तर होता है वह हम स्पष्ट ही अनुभव करते हैं। एक नैराश्य तथा गहन चिन्ता में अपना जीवन व्यतीत करता है, दूसरा आशा और उत्फुल्लता में। अतएव, मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण में

उसकी उपार्जन-सामर्थ्य महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उससे साहस, आत्मविश्वास, दृढ़ता तथा आत्मनिर्भरता आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

इस उद्देश्य के समर्थकों का कथन है कि शिक्षा में व्यावसायिक उद्देश्य को स्वीकार कर लेने पर देश में बेकारी, भुखमरी तथा आवश्यक वस्तुओं की कमी समाप्त हो जाती है। प्रत्येक युवक व युवती व्यावसायिक तथा वस्तु-उत्पादन का दृष्टिकोण लेकर कार्यक्षेत्र में उतरते हैं। इससे देश में कला-कौशल, व्यवसाय, यांत्रीकरण, उत्पादन आदि की असाधारण वृद्धि होती है; नागरिकों में काम करने की रुचि जाग्रत होती है और वे अवकाश का समय व्यर्थ तथा हानिपूर्ण मनोरंजन में नहीं बिताते। उनका प्रत्येक कार्य-व्यस्तता में व्यतीत होता है। इससे उनका ध्यान बुराइयों की ओर नहीं जाने पाता। अधिकाधिक धनार्जन करके व्यक्ति भौतिक सुखों की विविध सामग्री जुटाने में समर्थ होता है। आज विज्ञान ने शारीरिक आराम तथा सुख-प्राप्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर दिए हैं और धनोपार्जन द्वारा वे सामान्यतः सभी के लिए सुलभ भी हैं। उनसे सुख तथा संतोष की प्राप्ति होती है।

अमरीका इसी उद्देश्य के बल पर धनवान तथा समृद्धिशाली हुआ है। अमरीकी शिक्षा का ध्येय ही उत्पादन-वृद्धि करना है। स्वयम् शिक्षा को वे उत्पादक क्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति केवल उपभोक्ता बन कर नहीं रहना चाहता, वह अपनी सामर्थ्यानुसार उत्पादनरत भी होना चाहता है। इसीलिए अधिकाधिक उत्पादन के ध्येय में लग्न वहाँ का प्रत्येक नागरिक कुशल कारीगर तथा सफल व्यवसायी बन गया है। इससे न केवल व्यक्तिगत सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है अपितु समस्त समाज एवम् राष्ट्र भी धनवान् तथा समृद्धिपूर्ण बन गया है। आज के युग में समृद्धिशाली राष्ट्र ही शक्तिशाली राष्ट्र समझा जाता है, और आज संसार के अनेक छोटे-मोटे राज्य जिस प्रकार अमरीका से भोजन-वस्त्र की याचना करते हैं उसे देखकर स्पष्ट ही शिक्षा में व्यावसायिक उद्देश्य का महत्त्व मान्य हो जाता है।

परन्तु, शिक्षा में व्यावसायिक उद्देश्य के पक्ष में उपर्युक्त सभी विचारों के होते हुए भी उसे शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मान लेने पर अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। यह सत्य है कि मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य शरीर धारण करना तथा उसे स्वस्थ एवम् सुरक्षित रखना है, और इस हेतु, भोजन अथवा जीविका का प्रबंध करना उसका प्रथम कर्तव्य हो जाता है। मनुष्य भी पशु है और प्रत्येक पशु की भाँति उसे भी भोजन की समस्या हल करना आवश्यक है। किन्तु इस चिंतन में हमारी कठिनाई तब आरंभ होती है जब हम यह विचारते हैं कि मनुष्य केवल पशु नहीं, वह पशु के अतिरिक्त अथवा उससे बढ़कर कुछ और भी है। उसे पशु की भाँति केवल जीवित भर ही नहीं

रहना है, अपितु समाज, संस्कृति, सत्कर्म, उच्चादर्श, धर्म, आध्यात्मिक उन्नयन आदि की ओर भी तो ध्यान देना है। वस्तुतः भोजन-वस्त्र की समस्या हल हो जाने के उपरान्त उसके यही क्रियाकलाप मनुष्य के लिए प्रमुख हो जाते हैं। अनेक महात्माओं ने तो भोजन को भी इन उच्च आदर्शों के सम्मुख गौण माना है और स्वयम् अपने जीवन के उदाहरण द्वारा भोजन तथा शारीरिक सुख को हेय सिद्ध कर दिया है। वास्तव में शरीर धारण किए रहना स्वयं अपने में कोई ध्येय नहीं, वह तो अनेक शुभ कर्मों का साधन-मात्र है। हम पशुओं की भाँति केवल शरीर-रक्षा को अपना लक्ष्य नहीं बना सकते। अतः यदि शिक्षा का ध्येय केवल उदरपूर्ति ही निर्धारित किया जाए तो वह चाहे पशु-समाज के उपयुक्त भले ही हो, मानव-समाज में अत्यंत तुच्छ उद्देश्य माना जाएगा। शिक्षा का उद्देश्य मानव-जाति के हित में उच्च तथा महान् होना चाहिए; केवल जीवित रहना नहीं।

शिक्षा को जीविकार्जन का साधन-मात्र मान लेना उसे सर्वथा महत्वहीन बना देना है। शिक्षा का महत्व स्वयम् अपने में भी बहुत कुछ है। यदि शिक्षा केवल उदरपूर्ति का साधन मात्र होती तो फिर धनवान् तथा समृद्धिशाली व्यक्ति क्यों शिक्षा प्राप्त करते? 'शिक्षा शिक्षा के लिए'—इस कथन में भी कुछ सत्य अवश्य है।

यह मान्य है कि जीविकार्जन का उद्देश्य स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति तथा राष्ट्र की समृद्धि बढ़ सकती है और व्यावसायिक तथा औद्योगिक उन्नति एवम् यान्त्रीकरण भी संभव है। किन्तु इसके साथ-साथ जिन बुराइयों को प्रश्रय मिलता है उनसे भी हम विमुख नहीं हो सकते। यान्त्रीकरण तथा औद्योगिक विकास के साथ-साथ श्रमिक वर्ग का शोषण एवम् उपेक्षा स्वाभाविक है। उनके भोजन, वस्त्र, घर आदि का स्तर निम्नतम रहता है तथा पूँजीपति और मिल-मालिक अधिकाधिक धनवान् बनते चले जाते हैं। इससे राष्ट्र की समस्त पूँजी कुछेक धनिकों के हाथ में एकत्रित हो जाती है और सर्वसाधारण समृद्धिशाली नहीं हो पाते। यान्त्रीकरण तथा व्यावसायिक केन्द्रत्व के इन्हीं दोषों की ओर महात्मा गाँधी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। इसके अतिरिक्त जीविकार्जन का ही एकमात्र उद्देश्य रखने वाले व्यक्ति आपस में प्रतिद्वन्द्विता, स्पर्द्धा एवम् विद्वेष करने लगते हैं। प्रत्येक का यही प्रयत्न होता है कि मैं किसी न किसी प्रकार दूसरों की अपेक्षा अधिक धन अर्जित करके अधिकाधिक सौख्य-साधन एकत्रित कर लूँ। इस भावना से अनेक दूषित प्रवृत्तियों को जन्म मिलता है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप वे दूसरों का गला काटने, झूठ बोलने, बेईमानी करने तथा चोर-बाज़ारी आदि के लिए तत्पर हो जाते हैं। प्रतिस्पर्द्धा की इस दौड़ में जो लोग शक्तिहीन अथवा असहाय होने के कारण पीछे छूट जाते हैं उनसे न

तो कोई सहानुभूति ही प्रदर्शित करता है और न रुक कर उनका हाथ पकड़ उन्हें अपने साथ चलने को सहारा देता है। धन की लालसा में प्रत्येक व्यक्ति अपनी धुन में लगा रहता है और अपने मार्ग में आने वाले किसी भी व्यक्ति को ठोकर मारने से नहीं चूकता। सहानुभूति, दया, सद्भावना आदि मानवीय गुण धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं। अतएव, ऐसे दुर्गुणों को प्रश्रय देने वाले जीविकार्जन के उद्देश्य को शिक्षा में हम कहाँ तक स्वीकार कर सकते हैं, यह विचारणीय है।

जीविकार्जन के उद्देश्य का विरोध करने वालों का यह भी मत है कि मनुष्य का जीवन परिश्रम और आराम दोनों के सन्तुलन पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति का कार्य-काल एवम् अवकाश-काल निर्धारित रहता है, और वास्तव में एक व्यक्ति थोड़े समय ही जीविकार्जन के हेतु परिश्रम करता है। उसका अधिकांश समय आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा, शयन आदि में ही व्यतीत होता है। कार्य-काल में परिश्रम करके अर्जित धन द्वारा वह अपने अवकाश-काल के लिये सुख-सामग्री एकत्रित करता है। अतएव, यदि हम केवल जीविकार्जन की शिक्षा देते हैं तो जीवन के एक सीमित अंग के लिये ही बालक को तैयार करते हैं। उचित आमोद-प्रमोद तथा अवकाश-काल का सदुपयोग करने के लिये उसे तनिक भी तैयार नहीं करते। परिणामस्वरूप, व्यक्ति परिश्रम से कमाये धन का अवकाश-काल में दुरुपयोग ही करता है। वर्तमान भारतीय समाज में यह स्थिति अत्यंत स्पष्ट है। हम बालकों को अध्ययन-कार्य तथा परिश्रम के लिये तो नेतृत्व प्रदान करते हैं किन्तु अपने अवकाश का समय वे किस प्रकार स्वस्थ आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा तथा खेल-कूद में व्यतीत करें इसकी तनिक भी व्यवस्था नहीं करते। परिणामस्वरूप, वे शैशवावस्था से ही अपना अवकाश-काल अनुपयोगी ढंग से व्यतीत करने की आदत डाल लेते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीविकार्जन के उद्देश्य द्वारा व्यक्ति का एकांगी शिक्षण हो पाता है और इस दृष्टि से यह उद्देश्य सीमित तथा अयथेष्ट कहा जा सकता है।

जीविकार्जन ही सम्पूर्ण जीवन नहीं है—यह इसी से स्पष्ट है कि मनुष्य की विशेषता उसकी आध्यात्मिक रुचि एवम् विकास में है। जीविकार्जन के उद्देश्य को लेकर शिक्षा प्राप्त करने से मनुष्य को चाहे समस्त भौतिक सुख प्राप्त हो जाएँ परन्तु उनसे आध्यात्मिक सुख एवम् शान्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अनेक धनवान् तथा समृद्धिशाली व्यक्ति आध्यात्मिक शान्ति की खोज में भटकते फिरते हैं। अनेक महान् आत्माओं ने भूख-प्यास तथा शारीरिक भोग-विलास का सर्वथा त्याग कर आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति में जीवन व्यतीत किया, और यह स्पष्ट सिद्ध किया कि मनुष्य की विशेषता आत्मिक सुख की प्राप्ति में ही है। फिर हम शिक्षा में भौतिक सुखों

तथा धनार्जन को ही अपना लक्ष्य कैसे बना सकते हैं? सर्वसाधारण के लिये भी आध्यात्मिक उन्नति का थोड़ा बहुत उद्देश्य मानव की विशेषता-स्वरूप रखना ही पड़ेगा। किसी भी स्वस्थ शिक्षा का उद्देश्य पैसे की लालसा तथा उस पर आधारित सुख संभोग की पिपासा बढ़ाना नहीं हो सकता। ऐसी शिक्षा मनुष्य के लिये पतनोन्मुख होगी। यह स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक होते हुए भी उन्नायक एवम् महान् होना अत्यावश्यक है।

जो लोग अमरीका की समृद्धि तथा धन-सम्पत्ति का कारण शिक्षा के इसी उद्देश्य में निहित मानते हैं वे यह भी जानते हैं कि अमरीकावासी स्वयम् असीम भौतिक सुख-साधनों के होते हुए भी पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं। धनोपार्जन की लालसा में उनकी वास्तविक शान्ति नष्ट प्राय हो गई है और कोई भी अमरीकी व्यक्ति मानसिक सुख तथा आध्यात्मिक शान्ति के प्रकाश की एक किरण-मात्र के लिए अपने बहुत से भौतिक सुखों को त्यागने को तैयार हो जाएगा।

अतः शिक्षा में एकमात्र जीविकार्जन का उद्देश्य सीमित, तुच्छ, एकांगी तथा हानिकारक है। शिक्षा को जीविकार्जन में सहायता देनी चाहिए और उसके द्वारा भौतिक सुखों की प्राप्ति भी संभव होनी आवश्यक है, यह हम अवश्य मानेंगे। किन्तु, केवल इतना ही नहीं। शिक्षा को मनुष्य को और भी बहुत कुछ देना है और केवल जीविकार्जन का उद्देश्य वह सब कुछ नहीं दे सकता। मनुष्य को संसार में केवल जीविकार्जन ही नहीं करना है। उसे सामाजिक, राष्ट्रीय, भावनात्मक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि सभी दिशाओं में क्रियाशील होना है। अतः यदि शिक्षा व्यक्ति को जीवन के लिए तैयार करती है तो उसके द्वारा बालक को इन सभी क्षेत्रों तथा समस्याओं के लिए तैयार करना होगा तभी शिक्षा पूर्ण कहला सकेगी।

सांस्कृतिक उद्देश्य

शिक्षा के व्यावसायिक उद्देश्य के विपरीत उसका सांस्कृतिक उद्देश्य है जिसके समर्थकों की संख्या कम नहीं। जीविकार्जन का उद्देश्य प्राण-रक्षा करके जीवन की नींव तैयार करता है, और उसके उपरान्त सांस्कृतिक उद्देश्य मनुष्य का ध्यान सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् कलात्मक अनुभूति की ओर प्रेरित करता है जो मानव-समाज की विशेषता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाना उसका एक महान् उद्देश्य माना गया है। सभी देशों में सुसंस्कृत व्यक्ति सुशिक्षित व्यक्ति माना जाता है। इस उद्देश्य के समर्थकों के अनुसार वह शिक्षा किस काम की जो बालक को परिष्कृत एवम् सुसंस्कृत न बना सके।

साधारणतया निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने से उच्च वर्ग की संस्कृति को आदर की दृष्टि से देखते तथा उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उच्च वर्ग की उच्चता चाहे धन, सत्ता अथवा जाति आदि किसी बात पर आधारित हो, वही वर्ग अन्य व्यक्तियों के लिए सांस्कृतिक उन्नति का मापदंड स्थिर करता है। भारत में किसी समय उच्च वर्ग के व्यक्तियों के संस्कृत ज्ञान ने सांस्कृतिक माप-दंड स्थिर किया था। उसी प्रकार आज के उच्च वर्गीय व्यक्तियों की अंग्रेजी संस्कृति से जन-साधारण प्रेरणा प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, उच्चवर्गीय व्यक्ति भी सर्वसाधारण को अपनी संस्कृति द्वारा प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और परिणामस्वरूप निम्न वर्गों के व्यक्ति इन सांस्कृतिक प्रभावों को सहर्ष स्वीकार करते चलते हैं। प्रायः शिक्षा संस्थाएँ इस कार्य में विशेष हाथ बटाती हैं और इसी से शिक्षा में सांस्कृतिक उन्नयन के उद्देश्य का सूत्रपात होता है।

शिक्षा में सास्कृतिक उद्देश्य का क्या रूप तथा स्थान हो यह तब तक निश्चित नहीं किया जा सकता जब तक कि यह न जान लिया जाए कि संस्कृति वास्तव में है क्या, उसका अर्थ क्या है तथा उसका क्या तात्पर्य समझा जाए? वास्तव में लोग उसका अर्थ भलीभाँति निश्चित किए बिना ही निरर्थक वाद-विवाद में पड़ जाते हैं। परिणामस्वरूप, शब्दजाल का एक ऐसा दूषित चक्र बन जाता है कि उसमें से निकल पाना असंभव हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम संस्कृति का वास्तविक अर्थ जानकर ही अपने विवेचन में आगे बढ़ें।

'संस्कृति' शब्द अत्यन्त अस्पष्ट तथा भ्रामक है। उसका कोई एक सुनिश्चित अर्थ मस्तिष्क में नहीं आता। भिन्न व्यक्ति 'संस्कृति' का भिन्न अर्थ लगाते हैं और भिन्न अभिप्राय से उसका प्रयोग करते हैं। संस्कृति से एक व्यक्ति जो समझता है वह दूसरा नहीं। वास्तव में संस्कृति का भाव तथा रूप व्यक्ति, देश अथवा काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। अनेक देशों में संस्कृति के नाम पर केवल ज्ञानार्जन को महत्व दिया जाता था। इंग्लैंड में कुछ समय पूर्व फ्रेंच तथा लैटिन भाषाओं का ज्ञान सुसंस्कृत व्यक्ति का विशेष गुण माना जाता था। आज भी वहाँ कुछ हद तक ऐसा ही है। भारत में भी प्राचीन काल में सुसंस्कृत व्यक्ति संस्कृत भाषा का पंडित होता था। मध्यकाल में अरबी-फारसी, तथा अंग्रेज़ों के राज्य में अंग्रेज़ी का ज्ञान सुसंस्कृत व्यक्ति की ख़ास निशानी थी। भाषा-ज्ञान के अतिरिक्त कभी-कभी विशेष आचार-व्यवहार एवम् आमोद-प्रमोद के ढंग को भी 'संस्कृति' मान लिया जाता है। नवाबों के समय में तीतर-बटेर पालना, मुर्गों व मेढ़ों की लड़ाई, पतंग लड़ाना आदि ही सुसंकृत व्यक्ति के गुण थे। आदिवासियों की अपनी अलग ही संस्कृति होती है। एक ही प्रकार का आचरण जहाँ एक देश में सांस्कृतिक कृत्य माना जाता है वहाँ दूसरे में सर्वथा असांस्कृतिक तथा

घृणित। उदाहरणार्थ, जापान में हाराकीरी (आत्महत्या) उनकी संस्कृति की एक उच्च निशानी है किन्तु दूसरे देशों में इसे पाप माना जाता है।

अतएव, व्यक्ति, समय तथा स्थान के भेद से सांस्कृतिक विचारों का भेद एक ऐसा नग्न सत्य है जिसकी ओर से हम पराङ् मुख नहीं हो सकते। इससे सांस्कृतिक परिवर्तन तथा गतिशीलता का बोध होता है। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा द्वारा किन सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया जाए यह गंभीर प्रश्न उठ खड़ा होता है। बहुत से सांस्कृतिक प्रदर्शन केवल दिखावा-मात्र होते हैं। शील, स्वच्छता, प्रसन्न-मुद्रा, कलात्मक रुचि आदि बनावटी रूप में भी अंगीकार किए जा सकते हैं और इन बातों के ऊपरी दिखावे मात्र से वास्तविक संस्कृति के विषय में धोखा हो सकता है। व्यक्ति इन सांस्कृतिक कृत्यों में भाग लेते हुए भी अन्तर में पूर्णतया भिन्न हो सकता है। यदि पुराने सांस्कृतिक आदर्शों को त्याग कर केवल वर्तमान संस्कृति के सफल तत्त्वों का ही प्रतिपादन किया जाए तो भी मार्ग स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि संस्कृति के नाम पर आज जिन कृत्यों को स्वीकृत किया जाता है वे हैं सिग्रेट पीना, ताश खेलना, क्लबों की सदस्यता, डांस, इत्यादि। शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्य का तात्पर्य क्या इन्हीं बातों की शिक्षा देना होगा ?

वास्तव में 'संस्कृत' शब्द का अर्थ है परिष्कृत, परिमार्जित, पक्व, अर्थात जो अधकचरा, अपक्व न हो। अपनी वास्तविक मूल स्थिति से उठकर जो व्यक्ति परिष्कृत हो जाता है वह सुसंस्कृत व्यक्ति कहलाता है। अतः संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति का अपना निज का गुण अथवा परिष्कार है। वह उसका अपना व्यक्तिगत ढंग तथा उसके विचार एवम् व्यवहार का अपना निजी तरीका है। यह संस्कृति का व्यक्तिगत रूप है। परन्तु अनेक व्यक्तियों की संस्कृति में पाए जाने वाले समान तत्त्वों से मिलकर संस्कृति का समष्टि रूप भी निर्धारित किया जाता है। इसी को हम सामाजिक संस्कृति, जातीय संस्कृति, अथवा राष्ट्रीय संस्कृति भी कहते हैं।

संस्कृति का रूप चाहे व्यष्टिगत हो अथवा समष्टिगत, यह सभी मानते हैं कि उसका प्रभाव उन्नायक एवम् कल्याणकारी होना चाहिए। व्यक्ति का विचार अथवा व्यवहार स्वयम् अपने में परिसीमित नहीं होता—वह दूसरों के विचार अथवा व्यव-हार के प्रति होता है। अतः मानवीय भावना के आधार पर ही संस्कृति का आरोपण संभव है। इस प्रकार, किसी, व्यक्ति के सांस्कृतिक विचार अथवा व्यवहार उसी सीमा तक अच्छे व प्रशंसनीय समझे जाएँगे जहाँ तक कि वे दूसरों के लिए कल्याणकारी एवम् सुखद होंगे। किसी संस्कृति को अच्छा या बुरा कहने की केवल यही एक कसौटी हो सकती है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पतंगबाज़ी की अपेक्षा संगीतकला

अधिक उच्च संस्कृति की द्योतक है। अन्यथा, एक व्यक्ति की संस्कृति दूसरे की संस्कृति से न तो नीची कही जा सकती है और न ऊँची।

प्रायः लोगों की प्रवृत्ति अपनी संस्कृति को अच्छा तथा दूसरों की संस्कृति को बुरा समझने की होती है। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं। यदि उपर्युक्त निर्धारण के अनुसार व्यक्ति तथा समाज के लिए उपयोगिता की दृष्टि से परीक्षा की जाए तो स्वयम् हमारी संस्कृति में बहुत सी बुरी बातें निकल आएँगी और दूसरों की संस्कृति में बहुत सी अच्छी बातें मिल जाएँगी। अतएव, अन्य संस्कृतियों की विशेषताओं को समझने की चेष्टा करना, उनकी अच्छाइयों को ग्रहण करना तथा केवल अपनी ही संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति दूर करना, हम सबका प्रयत्न होना चाहिए। यह अवश्य है कि सुसंस्कृत व्यक्ति में परिष्कार की न्यूनाधिकता हो सकती है। एक व्यक्ति दूसरे से अधिक परिष्कृत व सुसंस्कृत हो सकता है, किन्तु इसी कारण किसी की संस्कृति को बुरा नहीं कहा जा सकता। परिष्कार की सीढ़ी पर प्रत्येक व्यक्ति ऊपर उठना चाहता है और वह अधिकाधिक सुसंस्कृत होने का प्रयत्न करता है। जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह कि व्यक्ति के इस सांस्कृतिक उन्नयन में सामाजिक उपयोगिता के आदर्श को दृष्टि से परे नहीं होने देना चाहिए।

परन्तु यह ग़लती लोगों ने प्रायः की है। प्रत्येक देश के इतिहास में राष्ट्रीय त्यका एक ऐसा युग आता है जब व्यक्तियों के सांस्कृतिक विचार एवम् कार्य सामाजिक कल्याण तथा उपयोगिता को भूल कर उच्छृङ्खल हो उठते हैं। ऐसी दशा में सांस्कृतिक क्रिया-कलाप आत्म-संतुष्टि के साधन तथा व्यक्तिगत आभूषण मात्र बन कर रह जाते हैं। ये व्यक्ति ऐसे ढंग अपनाते हैं जिनसे स्वयम् को तो आनंद अवश्य प्राप्त होता है परन्तु अनेकों का आनन्द छिन भी जाता है। यह उस युग-विशेष की सांस्कृतिक कमज़ोरी ही कही जाएगी। अतएव, हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि तीतर-बटेर लड़ाने के स्थान पर कला, काव्य, गान-विद्या के सांस्कृतिक कार्यों का महत्त्व व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित में अधिक है।

संस्कृति का मूल व्यक्ति के विचार तथा व्यवहार में होने के कारण उसकी परिवर्तनशीलता भी स्वाभाविक है। कोई संस्कृति सदैव एकरूप नहीं रह सकती। नित्य चारों ओर से पड़ने वाले नवीन विचारों के थपेड़े प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र के विचारों को प्रभावित कर संपरिवर्तित करते रहते हैं। अतएव मूल सांस्कृतिक रूप को सदैव अपनाए रहना, उन्हें अपरिवर्तित तथा अनम्य बनाए रखने का प्रयत्न करना, तथा उनमें प्राकृतिक परिवर्तन को बुरा समझना रूढ़िवादिता तथा हठधर्मी के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह दृष्टिकोण भावनात्मक अधिक है, वैज्ञानिक एवम् बुद्धिमत्तापूर्ण कम।

समय-समय पर अनेक प्रभावों के कारण स्वयम् भारत की संस्कृति आज बहुत कुछ परिवर्तित तथा विकसित हो चुकी है। भविष्य में सम्भवतः देश-देश की संस्कृतियाँ पृथक न रहकर बहुत-कुछ समानता ग्रहण कर लें और एक विश्व-संस्कृति को जन्म दें। अतः संस्कृति की प्रयोगिकता के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने की और भी अधिक आवश्यकता है।

संस्कृति के विषय में उपर्युक्त विचारों तथा दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि तैयार कर लेने के पश्चात् अब हमारे लिए यह संभव है कि शिक्षा में उसके उपयुक्त स्थान का निर्णय कर सकें। यदि शिक्षा में सांस्कृतिक उन्नयन का उद्देश्य माना जाए तो यह स्पष्ट है कि हम उन्हीं सांस्कृतिक विचारों एवम् कार्यों को मान्यता प्रदान कर सकते हैं जो व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी हैं। सिग्रेट, शराब, पतंगबाज़ी इत्यादि को हम शिक्षा का अंग नहीं बना सकते। ललितकलाओं, कविता आदि की ओर बालक को उन्मुख करना यदि सांस्कृतिक उद्देश्य के अन्तर्गत आता है तो यह हमें अवश्य मान्य होगा। साथ ही, सब के लिए सांस्कृतिक विचार तथा क्रियाओं की एक-रूपता संभव नहीं। सब बालकों को एक सांस्कृतिक साँचे में ढालना अप्राकृतिक एवम् अनुचित है। सांस्कृतिक विचार और व्यवहार में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करना शिक्षा का कर्त्तव्य है। शिक्षा के लिए यह उचित नहीं कि वह सांस्कृतिक परिवर्तन की धारा को रोकने का प्रयत्न करे। अपितु, शिक्षा द्वारा नवीन सांस्कृतिक विचारों का विवेचन, विभिन्न संस्कृतियों के गुण-दोष का अध्ययन, अपनी संस्कृति की न्यूनताओं एवम् कमज़ोरियों की आलोचना तथा उपयुक्त सांस्कृतिक मूल्यों एवम् आदर्शों की प्रतिष्ठा अत्यावश्यक है। शिक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन की धारा को उचित दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करे। कोरी भावुकतावश पक्षपात करना शिक्षित व्यक्तियों का गुण नहीं।

इस प्रकार कलात्मकता तथा सांस्कृतिक उन्नयन शिक्षा का उद्देश्य हो सकता है। परन्तु उसे शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं, तथा हानियों की संभावना भी है। जीवन केवल कला तथा संस्कृतिमय नहीं। मनुष्य-जीवन को व्यावसायिक, चारित्रिक, सामाजिक आदि अन्य दिशाओं में भी प्रेरित करना आवश्यक है। महान् से महान् सुसंस्कृत व्यक्ति भी बिना रोटी-दाल की समस्या हल किए नहीं रह सकते। हम पिछले पृष्ठों में यह देख आए हैं कि मनुष्य का सम्पूर्ण समय दो भागों में बँटा हुआ होता है: कार्य-काल तथा अवकाश-काल। सांस्कृतिक क्रिया-कलाप प्रधानतया अवकाश-काल में होते हैं। अतः सांस्कृतिक उन्नयन का उद्देश्य बालक को केवल अवकाश-काल के लिए ही शिक्षित करेगा, जीवन-यापन के निमित्त

किसी कार्य में जुटने की शिक्षा उसे नहीं मिल पाएगी। इस प्रकार केवल सांस्कृतिक उन्नयन का उद्देश्य एकांगी ही कहा जाएगा। आवश्यकता इस बात की है कि न तो व्यावसायिक उद्देश्य ही शिक्षा का एकमात्र ध्येय हो और न सांस्कृतिक उन्नयन ही। दोनों उद्देश्यों में एक प्रकार का सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है। एक की उपेक्षा और दूसरे को अत्यधिक महत्त्व देने पर जीवन के एकांगी बन जाने का दोष उठ खड़ा होता है।

अनेक कलाकार अपनी कला को जीविका का साधन भी बना लेते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि वे ऐसा मजबूर होकर ही करते हैं। रोटी-कपड़े की समस्या के दबाव में आकर वे कला को केवल आनंद प्राप्ति अथवा आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रख पाते। ऐसी दशा में उनकी कलात्मक-क्रियाएँ भी उनके लिए ज़बरदस्ती का काम बन जाती हैं। किसी बड़े आदमी के कहने पर पैसे के लोभ में चित्र बनाना एक बात है, और आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर स्वतः अपनी रुचि से चित्र बनाना दूसरी बात। यह निश्चित है कि पैसे पर बिकने वाली कला वास्तविक कला नहीं रह जाती। और यही बात संस्कृति के लिए भी सत्य है।

शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य पर आवश्यकता से अधिक बल देने से इस बात का भी भय है कि लोग केवल दिखावे के लिए उसे ऊपरी ढंग से अपना लें और उनका वास्तविक सांस्कृतिक उद्बोधन तनिक भी न हो। प्रायः यह देखने में आता है कि समाज में सुसंस्कृत कहलाए जाने की अभिलाषा में धनवान लोग अपने पैसे के बल पर अनेक सांस्कृतिक कृत्य एवम् सामग्री अपना लेते हैं, किन्तु वास्तव में, अन्तर मन में उनका तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। बहुत से चतुर लोग केवल सुसंस्कृत समझे और कहलाए जाने के लिए ही अनेक पुस्तकें, भाव-चित्र आदि एकत्रित कर लेते हैं तथा अभिमानपूर्वक दूसरों के आगे उनका प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार के सांस्कृतिक प्रदर्शन में कृत्रिमता तथा धोखेबाज़ी ही रहती है वास्तविकता तनिक भी नहीं। यह निश्चय है कि ऐसे बनावटी सांस्कृतिक प्रदर्शन को शिक्षा का उद्देश्य कदापि नहीं माना जा सकता। उसमें हृदय की अनुभूति तथा उसकी सत्यता आवश्यक है।

फिर भी, शिक्षा द्वारा राष्ट्र की संस्कृति के कल्याणकारी तत्त्वों को प्रोत्साहन देकर पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखना है—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। अपने राष्ट्र के नव-जागरण के प्रथम प्रहर में शिक्षा को हमारे सांस्कृतिक उत्थान में जो क्रियात्मक सहयोग देना है उसे नहीं भुलाया जा सकता। परन्तु इस सांस्कृतिक उत्थान

के प्रति हमें जो वैज्ञानिक एवम् प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। जीवन में सुन्दरम् की सम्यक् अनुभूति के साथ ही साथ उसके प्रति सत्य तथा शिव का दृष्टिकोण अपनाना भी आवश्यक है। इसीलिए शिक्षा के उद्देश्य में जीविकार्जन के उपयोगी तथा आवश्यक उद्देश्य के साथ-साथ सौन्दर्यानुभूति का सांस्कृतिक उद्देश्य भी समन्वित कर सकते हैं। तभी मनुष्य जीवन के दोनों आवश्यक अंगों की संतुलित शिक्षा भी संभव है।
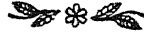
अध्याय ६

शिक्षा के उद्देश्य : ज्ञानार्जन तथा शारीरिक विकास

ज्ञानार्जन

शिक्षा में ज्ञानार्जन के उद्देश्य का महत्त्व साधारण व्यक्ति तथा शिक्षाविद् समान रूप से मानते हैं। शिक्षा द्वारा मनुष्य कुछ न कुछ सीखना चाहता है। इस सीखने का तात्पर्य प्रायः ज्ञानार्जन से लिया जाता है। साधारणतया लोगों का विचार है कि जिस शिक्षा द्वारा मनुष्य ज्ञान-संचय न कर सके और उसे थोड़ी-बहुत ज्ञान-राशि प्राप्त न हो वह शिक्षा व्यर्थ है।

प्राचीन समय में ज्ञान तथा कर्म को पृथक नहीं माना जाता था। भारत और यूनान दोनों देशों में ज्ञान तथा कर्म का पूर्ण समन्वय एवम् सामंजस्य स्थापित कर लिया गया था। व्यक्ति के जीवन में ज्ञान, तर्क अथवा सिद्धान्तों, तथा कर्म एवम् आचरण दोनों का समान महत्त्व था। वास्तव में आचरण से ही सिद्धान्त उपजते हैं तथा यही सिद्धान्त पुनः भविष्य के आचरण को प्रभावित करते हैं। उस काल में लोगों को यह भलीभाँति ज्ञात था कि यदि ज्ञान का प्रभाव आचरण पर नहीं पड़ता तो वह ज्ञान कुंठित है। परन्तु यह स्थिति बहुत काल तक नहीं रही। विश्व के इतिहास में ऐसा युग भी आया जब स्पष्ट ही ज्ञान और आचरण में अन्तर पड़ गया, ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया जाने लगा तथा आचरण पर उसका प्रभाव बहुत कम हो गया। ऐसी दशा में लोग अधिकाधिक ज्ञान-संचय में तो प्रवृत्त हुए, किन्तु सदाचरण के लिए विशेष प्रयत्नवान नहीं रहे। ऐसे लोगों का अनुमान था कि यदि मनुष्य सद्ज्ञान से परिपूर्ण है तो वह अवश्य ही बिना किसी प्रयत्न के सदाचरण में अनुरक्त होगा और

अच्छे कर्म करेगा। अतः सद्ज्ञान के कोष की वृद्धि के लिए ही समस्त प्रयत्न होना चाहिए, आचरण स्वतः उस ज्ञान के अनुसार ढल जाएगा। परन्तु, यह तर्क तथा अनुमान कितना भ्रमपूर्ण है यह हम सभी जानते हैं। अत्यंत ज्ञानवान अथवा पंडित व्यक्ति अवश्य ही सदाचारी हों यह आवश्यक नहीं। सत्य बोलने का महत्त्व किसको ज्ञान नहीं ? परन्तु कितने व्यक्ति अपने दैनिक व्यवहार में इस ज्ञान का समावेश कर पाते हैं ! बालकों का मस्तिष्क निरन्तर धर्म एवम् सच्चरित्रता की शिक्षा से भर देने पर भी उनका आचरण उसके अनुरूप संतोषजनक सीमा तक नहीं हो पाता। नीति के सैकड़ों दोहे मौखिक रूप से याद कर लेने वाले लोग जीवन में प्रायः उन शिक्षाओं के विपरीत ही कार्य करते पाए जाते हैं।

अतएव, वर्तमान समय में यह आवश्यक है कि ज्ञान तथा कर्म का यह सह-सम्बन्ध पुनः दृढ़ बनाया जाए। इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि अर्जित ज्ञान केवल मानसिक सौन्दर्य-वृद्धि का ही साधन न होकर व्यक्ति के आचरण को भी उन्नत करे। अमरीका में तो कोरे सैद्धान्तिक एवम् अव्यावहारिक ज्ञान को बहुत कम महत्त्व दिया जाता। वहाँ ज्ञानार्जन का मूल्य केवल उसकी व्यावहारिकता में है। रूस में भी बहुत-कुछ ऐसा ही है। यहाँ हम यह अवश्य कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा करना भी उचित नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों में उचित सन्तुलन तथा सम्बन्ध स्थापित किया जाए।

शिक्षा में ज्ञानार्जन का महत्त्व सर्व-विदित है। पाठशाला में प्रत्येक विद्यार्थी कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करने आता है और शिक्षा की अच्छाई-बुराई भी उसके प्राप्त-ज्ञान के आधार पर ही निश्चित की जाती है। ज्ञानी सर्वत्र सम्माननीय होता है। शिक्षा में ज्ञानार्जन का उद्देश्य प्रारंभ से ही प्रमुख रहा है और कभी-कभी तो शिक्षा से केवल मानसिक उद्बोधन का ही अर्थ लिया जाता है। यदि व्यापक रूप से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि ज्ञानार्जन की क्रिया सतत जारी रहती है, वह कभी रुकती नहीं। प्रत्येक मनुष्य प्रतिपल कुछ न कुछ ज्ञान-प्राप्ति करता रहता है। वास्तव में ज्ञानार्जन जीवन का एक ऐसा सत्य है जो अवश्यम्भावी है। अतएव, बालक को ज्ञानार्जन तो करना ही है और इसलिए शिक्षा में उसे स्थान भी देना होगा। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि शिक्षा द्वारा किस प्रकार का ज्ञान प्रदान किया जाए ? ज्ञानार्जन के उद्देश्य का क्या रूप तथा कितना महत्त्व हो ? तथा, ज्ञान-प्राप्ति का लाभदायक ढंग क्या है ?

मनुष्य की ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य क्या होता है ? हम कोई ज्ञान क्यों प्राप्त करते हैं ? ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। स्पष्ट ही हमारे ज्ञानार्जन के दो कारण होते हैं :

एक तो जीवन में ज्ञान की उपयोगिता तथा दूसरे उससे आनन्द की प्राप्ति। आज का अर्जित ज्ञान व्यक्ति को आगे आने वाली समस्याओं को सुलझाने तथा जीवन की कठिनाइयों को पार करने में सहायक होता है। इसीलिए कहा जाता है कि शिक्षा व्यक्ति को आगामी जीवन के लिए तैयार करती है। छोटा बालक कक्षा में गिनती और पहाड़े इसलिए याद करता है, भाषा इसलिए पढ़ता है, तथा भूगोल का ज्ञान इसलिए प्राप्त करता है कि भविष्य में अवसर पड़ने पर वह उनकी सहायता से अपना मार्ग सरल बना सके। किन्तु उपयोगिता के अतिरिक्त ज्ञान-प्राप्ति स्वयम् अपने आप में भी आनंददायी है। ललित कलाओं, साहित्य आदि का ज्ञान उपयोगी होने के साथ-साथ आनन्ददायी भी है। उनसे हार्दिक सुख तथा सन्तोष की प्राप्ति होती है।

यदि ज्ञानार्जन का उद्देश्य उसकी उपयोगिता एवम् आनन्द-प्राप्ति से सम्बद्ध है तो यह भी सत्य है कि समस्त ज्ञान उपयोगी एवम् आनन्ददायी है। ऐसा कौन-सा ज्ञान है जो अनुपयोगी हो, अथवा जो किसी न किसी समय व्यक्ति के काम न आ सके? फिर, व्यक्ति समस्त ज्ञान-भांडार का संचय करने का प्रयत्न क्यों न करे? यदि हम सम्पूर्ण संसार का समस्त ज्ञान संचित कर लें तो अवश्य ही जीवन में भविष्य की सभी कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना करने योग्य हो जाएँगे। तर्क की सीमा के भीतर तक तो यह विचार ठीक जान पड़ता है, परन्तु कठोर सत्य यह है कि क्षुद्र मानव के लिए अपने एक जीवन के थोड़े से समय में समस्त ज्ञान-भांडार तो क्या उसका एक छोटा सा अंश भी संचित कर पाना संभव नहीं। मनुष्य की शक्ति सीमित है और ज्ञान निस्सीम। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति, समय, धन तथा समाज की आवश्यकता के अनुसार विश्व के समस्त ज्ञान-भांडार में से उसका कुछ अंश चुन लेना पड़ता है जो संभावित रूप में उसके भावी जीवन में काम आ सके, तथा जिसके प्रति उसके मन में अधिकतम रुचि हो। इसी आधार पर पाठशालाओं आदि में विभिन्न बालक अपने अध्ययन के विषयों का प्रवरण करते हैं। निम्न तथा उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम का नियोजन भी इसी आधार पर होता है।

इस प्रवरण किए हुए ज्ञान के अंश को चाहे लाभ की दृष्टि से संचित किया जाए अथवा केवल आनन्द-प्राप्ति के लिए, यह स्पष्ट है कि उसकी उपयोगिता उसके स्थायित्व में है। आज का प्राप्त ज्ञान यदि कल विस्मृत हो जाता है तो न उसकी प्राप्ति में विशेष आनन्द है और न वह आवश्यकता पड़ने पर हमारे काम ही आ सकता है। फूटे बर्तन में भरे जाने वाले जल के समान यह ज्ञानार्जन व्यर्थ जाता है। अतएव, यह आवश्यक है कि अर्जित ज्ञान केवल ऊपरी सतह पर न रहकर मनुष्य के व्यक्तित्व में पूर्णतया व्याप्त हो जाए। वह व्यक्ति का अभिन्न अंग बनकर उसे इस

प्रकार संपरिवर्तित कर दे कि समय तथा परिस्थिति के अनुसार वह उसी अर्जित ज्ञान के आधार पर व्यवहार कर सके। व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बनकर उसके जीवन भर स्थायी रहने वाला ज्ञान तभी अर्जित हो सकता है जब उसकी प्राप्ति में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का पालन किया जाए। ये सिद्धान्त मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :—

(१) समस्त ज्ञान व्यक्ति के स्वानुभव द्वारा अर्जित हो।

(२) ज्ञानार्जन में व्यक्ति के अभिप्राय-विशेष को जाग्रत करके उसका उचित उपयोग किया जाए।

(३) समयान्तर से अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति हो। तथा,

(४) ज्ञानार्जन की क्रिया के बीच-बीच छोटी-मोटी सफलताओं तथा सुखद परिणामों द्वारा व्यक्ति का उत्साह-वर्द्धन किया जाए।

इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के मूल में यह तथ्य निहित है कि वास्तविक तथा [illegible] ज्ञानार्जन मनुष्य और वाह्य संसार की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ही संभव है। संसार की वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा विचारों से प्रतिक्रियास्वरूप जो अनुभव अथवा विचार प्राप्त होते हैं उनका प्रभाव हमारे भावी कार्यों में परिलक्षित होता है। इसी क्रिया-प्रतिक्रिया का नाम जीवन है और इसीलिए ज्ञानार्जन का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होना आवश्यक है। जब ज्ञान केवल सैद्धान्तिक अथवा अव्यावहारिक हो उठता है तभी वह खोखला, जीवन-हीन तथा व्यर्थ हो जाता है। ऐसा ज्ञान जड़ वस्तु की भाँति मस्तिष्क में एकत्रित होता रहता है—उसका विकास नहीं होता। उद्धव की ज्ञान-गठरी के समान वह केवल अहंकार अथवा शोभा की सामग्री बन जाता है, हार्दिक अनुभूति तथा लाभ के योग्य नहीं रहता। इसीलिए कुछ दार्शनिकों ने 'ज्ञानार्जन' के स्थान पर 'मानसिक विकास' का ध्येय अधिक उपयोगी माना है। इससे थोथे ज्ञान संचय के अनेक दोषों का भी परिहार हो जाता है।

ज्ञानार्जन तथा मानसिक विकास के अर्थों में वही अन्तर है जो ज्ञानी तथा बुद्धिमान व्यक्ति में होता है। कोई भी व्यक्ति ज्ञान का कोष-मात्र बनकर जीवित नहीं रह सकता। उसे तो निरन्तर बुद्ध्यात्मक सजगता रखनी होगी, अपने मस्तिष्क के सारे रोशनदान खुले रखने पड़ेंगे, जिससे उसके मानसिक तथा भौतिक जगत में निरन्तर आदान-प्रदान होता रहे। इसी से मनुष्य का मानसिक विकास होता चलता है, और इस मानसिक उन्नति में शिक्षा द्वारा योग देने से मनुष्य में विचारशक्ति का विकास होता है तथा बुद्धि को तीक्ष्णता एवम् क्रियात्मकता प्राप्त होती है। मानसिक सजगता द्वारा वाह्य तथा आन्तरिक संसार के बीच सामंजस्य स्थापित होता है। सांसा-

रिक तथ्यों से संसर्ग स्थापित किए रहने से विचारों के लिए विषय प्राप्त होते हैं और तथ्यों का विचारपूर्ण दिग्दर्शन हमारे कार्यों को शुद्ध तथा समीचीन बनाता है। मानव-मस्तिष्क से सम्पर्क स्थापित करने का यही ढङ्ग है तथा इसी पर सत्य की वैज्ञानिक खोज आधारित है।

'मानसिक विकास' स्वयम् अपने में अचल पद नहीं। मानसिक विकास सदैव, निरन्तर होता रहता है, कभी रुकता नहीं। इस दृष्टि से भी मानसिक विकास का उद्देश्य ज्ञानार्जन की अपेक्षा अधिक मान्य है। मानसिक विकास में अवरोध होना उचित नहीं, अपितु इस विकास को अधिक तीव्र एवम् विशद बनाने की आवश्यकता है। शिक्षा का यही कृत्य है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को मानसिक मृत्यु से बचाना है, कूपमंडूकता से उसकी रक्षा करनी है। प्रत्येक व्यक्ति को वाह्य संसार के प्रति जागरूक रहकर मानसिक सजगता बनाए रखना आवश्यक है। समाज से तादात्म्य स्थापित करके ही व्यक्ति दूसरों के प्रति उपकारी बन सकता है। अतः ज्ञानार्जन केवल आत्म-संतुष्टि तथा आत्म-लाभ के लिए ही नहीं होना चाहिए। जो ज्ञान निरन्तर समाज के सम्पर्क से उद्भूत हो और पुनः उसी के लाभ के लिए प्रयुक्त हो वही वास्तविक ज्ञान है।

आज हमारा ज्ञानार्जन इस दृष्टिकोण से नहीं होता। अधिकांश व्यक्तियों का ज्ञान जीवन की वास्तविकता से अछूता तथा अव्यावहारिक होता है। ज्ञान को शोभा तथा सौन्दर्यवृद्धि का साधन मानकर अनेक ज्ञानी उसके बल पर अभिमान करने लगते हैं। मानसिक अहम्, ज्ञान का अहंकार, सर्वसाधारण से पृथकता, और कृत्रिम दिखावे की भावना लेकर अनेक विद्वान तथा ज्ञानी हमारे बीच आज भी उपस्थित हैं। ऐसा ज्ञान न तो समाज के काम आता है और न व्यावहारिकता की सिल पर रगड़ कर उसकी धार पैनी हो पाती है। इसलिये हमारे देश में उपयोगी और व्यावहारिक ज्ञान की साधारणतया कमी पाई जाती है, यद्यपि सैद्धान्तिक ज्ञान का भार इतना अधिक है कि व्यक्ति से उठाए नहीं उठता। अतएव, इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम शिक्षा में कोरे ज्ञानार्जन के उद्देश्य को हटाकर उसके स्थान पर मानसिक विकास का उद्देश्य रखकर ही आगे पग बढ़ाएँ।

निश्चय ही कोरे ज्ञानार्जन को हम शिक्षा का उद्देश्य नहीं बना सकते। कोई भी प्रगतिशील तथा उपयोगी शिक्षा थोथे ज्ञान और सिद्धान्तों को ही अपनी प्रक्रिया का लक्ष्य नहीं मान सकती। जहाँ तक मानसिक विकास के उद्देश्य का सम्बन्ध है, वह अवश्य उपयोगी हो सकता है और उसकी मान्यता स्वीकार की जा सकती है। परन्तु, मानसिक उन्नति का ध्येय उच्च एवम् उपयोगी मान लेने पर भी उसे शिक्षा

का एकमात्र उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता। प्रथम तो मनुष्य के जीवन में केवल मानसिक उन्नति ही सब कुछ नहीं। प्रायः ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं जो अति विकसित मस्तिष्क लेकर भी जीवन की अन्य दिशाओं में नितान्त कोरे तथा असफल सिद्ध होते हैं। यदि हमें व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन के लिये शिक्षा देनी है तो उसकी शारीरिक, आध्यात्मिक, चारित्रिक, भावनात्मक उन्नति की अवहेलना नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा में हमें मनुष्य-जीवन के सभी अंगों को शिक्षित करना होगा, केवल मानसिक क्षेत्र को ही नहीं। केवल मानसिक विकास का उद्देश्य स्वीकार कर लेने पर बालक की शिक्षा एकांगी ही बनी रहेगी।

ज्ञानार्जन अथवा मानसिक विकास पर आवश्यकता से अधिक बल देने से जो विविध दोष उत्पन्न हो सकते हैं उनसे भारतवासी भली भाँति परिचित हैं। अन्य देशों की भाँति हमारे देश में भी ज्ञान-संचय अथवा मानसिक विकास को प्राचीन काल से ही प्रमुखता दी जाती रही है। कालान्तर में उस पर अत्यधिक बल दिया गया और परिणाम-स्वरूप शिक्षा में बालक के स्वास्थ्य, सांसारिक ऐश्वर्य, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि को गौण समझा गया, यहाँ तक कि वर्तमान समय में तो बालक के चारित्रिक, आध्यात्मिक विकास आदि पर भी आवश्यक ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिए हमारे आज के सुशिक्षित व्यक्ति चलते-फिरते विश्व-कोष तो हैं परन्तु जीवन की वास्तविकता से उनका सामंजस्य नहीं। वे पुस्तकों तथा अध्यापकों से प्राप्त कोरा ज्ञान-संचय कर लेते हैं और परीक्षाओं में भी उच्च स्थान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं किन्तु अपना संतुलित एवम् सर्वांगीण विकास नहीं कर पाते। दूसरों द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा निष्कर्ष वे स्वयं अपना लेते हैं परन्तु परिश्रम करके स्वयम् ज्ञान की खोज का प्रयत्न नहीं करते। अध्ययन, तर्क, अनुभूति तथा निष्कर्ष—कुछ भी उनका अपना नहीं होता। इसीलिए ज्ञानार्जन के उद्देश्य से प्रेरित विद्यार्थियों का ज्ञान न तो वास्तविक जीवन के अनुभव से उपजता है और न उसे प्रभावित ही करता है।

ज्ञानार्जन का एकमात्र उद्देश्य स्वीकार करने के कारण शिक्षण-पद्धति में भी अनेक दोष उत्पन्न हो गए हैं। ज्ञान की खोज में स्वयम् प्रयत्नशील होने के स्थान पर दूसरों का दिया हुआ पका-पकाया ज्ञान बिना सोचे-समझे स्वीकृत कर लेने की दोषपूर्ण परिपाटी जड़ पकड़ गई है। परिणाम-स्वरूप व्यक्ति में स्वानुभव एवम् स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान का सर्वथा अभाव है। विद्यार्थी स्वयम् विचार विश्लेषण, तर्क तथा निष्कर्ष प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते। तोता-रटाई की प्रणाली ने उन्हें बुरी तरह ग्रस लिया है। बाज़ार में बिकने वाली पाठ्य-पुस्तकें तथा उनकी कुंजियाँ इस संकुचित मनोवृत्ति का स्पष्ट प्रमाण हैं। बिना स्वयम् देखे, सुने, समझे और जाने किसी बात

को इस प्रकार ग्रहण कर लेना अंधविश्वास की अति ही कहा जाएगा। इसी कारण हमारी शिक्षा में व्यावहारिक ज्ञान के स्थान पर पुस्तकों एवम् पुस्तकीय ज्ञान का महत्त्व सर्वव्यापी हो गया है। बहुत से लोगों का तो यह विश्वास है कि पुस्तकों के बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव ही नहीं। ऐसी दशा में लोगों का ज्ञान सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक मात्र रह जाना आश्चर्यजनक नहीं।

इसी कारण रूसो ने बालक की शिक्षा में पुस्तकों के प्रयोग का घोर विरोध किया। उनका कथन था कि "मुझे बालक को ज्ञान प्राप्त नहीं कराना है, अपितु उसे इस बात की शिक्षा देनी है कि वह ज्ञान की खोज कैसे करे।" कोमेनियस के अनुसार भी "दूसरों का देखा, सुना और खोजा हुआ जूठा ज्ञान बालकों को पुस्तकों में नहीं पढ़ना चाहिए। उन्हें तो जल, थल, आकाश, सभी में ज्ञान की खोज स्वयम् करनी चाहिए।"

और, यदि यह मान भी लिया जाए कि ज्ञानार्जन ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है और सभी को शिक्षा द्वारा ज्ञानी बना दिया जाए तो कल्पना की जा सकती है कि उस समय सारे संसार की क्या दशा हो जायेगी। तब तो सर्वत्र ज्ञानी ही ज्ञानी दिखाई पड़ेंगे जो केवल तर्क करेंगे, विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करेंगे तथा पुस्तकों में से लम्बे-लम्बे उद्धरण दे सकेंगे। न कोई खिलाड़ी होगा, न कोई संगीत का राग अलापेगा और न कोई हँसे-मुस्करायेगा। ऐसा संसार क्या रहने योग्य संसार रह जाएगा? संसार का समस्त आनन्द एवम् आकर्षण व्यक्तियों की विभिन्नता में है। अस्तु, ज्ञानार्जन अथवा मानसिक विकास को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी हम उसे शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं बना सकते। शिक्षा में वही सब कुछ नहीं।

शारीरिक विकास

बहुत से लोग शिक्षा में शारीरिक विकास का उद्देश्य प्रमुख मानते हैं। भारत ही नहीं प्रायः सभी देशों में मनुष्य की शारीरिक शक्ति का ह्रास इस सीमा तक पहुँच गया है कि लोगों का ध्यान बरबस इस ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक है। मनुष्य की शारीरिक दुर्बलता के लिये प्रायः वर्तमान शिक्षा-पद्धति को ही दोषी ठहराया जाता है, क्योंकि उसका समस्त प्रयत्न बालक के मानसिक विकास में ही केन्द्रित रहता है। हमारी शिक्षा में स्वास्थ्य एवम् शक्तिवर्द्धन पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिये कुछ शिक्षा-मर्मज्ञों का विचार है कि हमारी शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक विकास होना चाहिये जिससे इस न्यूनता की पूर्ति की जा सके।

प्राचीन समय में बालक की शिक्षा में उसके शारीरिक विकास पर यथेष्ट ध्यान दिया जाता था। पुरानी ग्रीक शिक्षा में खेल-कूद, व्यायाम आदि के द्वारा सुन्दर, सुडौल तथा बलिष्ठ शरीर बनाने के लिए बालकों को उत्साहित किया जाता था। प्लेटो ने अपनी शिक्षा-पद्धति में भी शारीरिक स्वास्थ्य एवम् शक्तिवर्धन पर विशेष बल दिया है। इसके परिणामस्वरूप अनेक प्राचीन ग्रीक मूर्तियाँ स्वास्थ्य की आदर्श प्रतिमा के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं जिन्हें आज भी शारीरिक सौन्दर्य के चरम उत्कर्ष का प्रतीक माना जाता है। प्राचीन भारत में भी शारीरिक स्वास्थ्य एवम् बलिष्ठता पर काफ़ी ज़ोर दिया जाता था। विद्यार्थियों के लिए सात्विक जीवन, स्वास्थ्य-नियमों का पालन, नियमित जीवनचर्या तथा ब्रह्मचर्य आदि का विधान इसीलिए था कि वे प्रारम्भ से ही शक्तिशाली तथा स्वस्थ बनें और संयम से रहें। वेदों के अनेक मन्त्रों में शारीरिक स्वास्थ्य एवम् बल के लिये देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं। दीर्घ आयु तथा स्वस्थ शरीर धारण करना उस काल में सभी का लक्ष्य था।

मध्यकाल में सभी देशों में शारीरिक शक्ति एवम् स्वास्थ्य का ह्रास पाया जाता है। लोग स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना करने लगे तथा भोग-विलास और आलस्य की वृद्धि के साथ-साथ शारीरिक पतन होता गया। शिक्षा में भी शारीरिक विकास की उपेक्षा होने लगी तथा केवल ज्ञानार्जन ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य रह गया। शिक्षा की यह एकांगिता आज भी चली आ रही है। परिणामस्वरूप, आज का शिक्षित-वर्ग मानसिक क्षेत्र में तो अत्यन्त विकसित हो रहा है किन्तु शारीरिक दृष्टि से नितांत पंगु एवम् क्षीण बना हुआ है। अनेक व्यंग्य चित्रों में ज्ञानी व्यक्तियों का बड़ा भारी सर तथा छोटे-छोटे हाथ-पैर बना कर इस सत्य को अत्यन्त रोचक ढंग से प्रदर्शित किया जाता है। जीव-विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार भी आज का मनुष्य शारीरिक दृष्टि से प्राचीन मनुष्य की अपेक्षा बहुत-कुछ क्षीण एवम् दुर्बल हो गया है। इस सब का कारण यही है कि उसके शारीरिक विकास का समुचित प्रयत्न नहीं किया जाता।

रूसो ने अपनी शिक्षा-योजना में बालक के शारीरिक विकास को यथेष्ट महत्त्व दिया है। उसके अनुसार जीवन की प्रारंभिक अवस्था में बालक को केवल शारीरिक विकास तथा स्वास्थ्य-लाभ ही करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने प्रकृति के मध्य खुली हवा में विचरण, खेल-कूद, व्यायाम आदि का सुझाव दिया। उनका कथन है कि बालक को सर्वप्रथम अच्छा पशु बनाना चाहिए—और पशु का आवश्यक गुण है स्वास्थ्य तथा शक्तिशाली शरीर।

बालक की शिक्षा में शारीरिक उन्नति के पक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। शरीर को स्वस्थ एवम् निरोग बनाए रखना उसकी प्रथम आवश्यकता है। एक बार स्वास्थ्य नष्ट हो जाने पर पुनः उसे प्राप्त करना कठिन होता है। बाल्यावस्था में शरीर को सुदृढ़ एवम् पुष्ट बना लेने पर जीवन पर्यन्त शारीरिक नींव मज़बूत बनी रहती है। उसके बाद भी शक्ति-वर्द्धन तथा स्वास्थ्य के प्रति निरन्तर जागरूक रहने की आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर व्यक्ति को स्फूर्ति एवम् क्रियाशक्ति प्रदान करता है। व्यक्ति चाहे जिस व्यवसाय में रत हो अथवा वह चाहे जो कार्य करे स्वस्थ रहकर ही उसमें सफलता प्राप्त कर सकता है। अतएव शिक्षा में बालक के शारीरिक विकास पर समुचित ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है।

पहले लोगों का विचार था कि यदि मनुष्य को एक दिशा में अधिक विकसित किया जाए तो अन्य दिशाओं में उसका अर्द्ध-विकसित रह जाना अवश्यम्भावी है। साथ ही, यदि कोई व्यक्ति एक दिशा में कुंठित है तो दूसरी दिशा में उसका विकास अधिक हो जाएगा। इस पूर्तीकरण के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के एक अंग की क्षतिपूर्ति दूसरा अंग कर लेता है। अंधे की श्रवणशक्ति तीव्र हो जाना, पहलवानों का बुद्धिहीन होना, विद्वानों की शारीरिक दुर्बलता आदि के उदाहरण देकर इस सिद्धान्त को पुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। इसी आधार पर शिक्षा द्वारा बालक का मानसिक विकास तो किया गया किन्तु उसके शरीर को अस्वस्थ तथा क्षीण बना रहने दिया, शिक्षा द्वारा उसके स्वास्थ्य की उन्नति का प्रयत्न तनिक भी न किया गया। आज यह विचारधारा पूर्णतया अमान्य है। अब यह संभव ही नहीं अपितु आवश्यक भी माना जाता है कि बालक के स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क विद्यमान हो। यह विचार सर्वथा निराधार है कि स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मस्तिष्क एक साथ नहीं हो सकते। अतएव शिक्षा में बालक के शारीरिक विकास को उतना ही महत्त्व देना आवश्यक है जितना आज मानसिक विकास को दिया जाता है।

व्यक्ति का मानसिक अथवा शारीरिक अंग अपने में आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र नहीं होता। एक की दशा का प्रभाव दूसरे पर अवश्य पड़ता है। अस्वस्थ मस्तिष्क शरीर को और भी अस्वस्थ बना देता है, तथा शारीरिक दौर्बल्य विविध प्रकार की मानसिक व्याधियाँ खड़ा कर सकता है। इसीलिए आज के मनोविज्ञानवेत्ता एवम् शिक्षा-शास्त्री बालक के एकांगी विकास को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व के लिए हानिकारक मानते हैं।

व्यक्ति के शारीरिक विकास तथा शक्तिवर्द्धन से केवल उसी का हित नहीं, अपितु उसकी शक्ति तथा बल से राष्ट्र को शक्ति और बल मिलता है। स्वस्थ एवम्

बलशाली राष्ट्र आज की महान् आवश्यकता है। शारीरिक उन्नयन से उत्साह, शौर्य तथा दृढ़ता आती है, और चारित्रिक गुणों का विकास होता है। यह भी स्पष्ट है कि बालक के शारीरिक विकास के प्रति हमारी उपेक्षा ने राष्ट्र को शक्तिहीन तथा दुर्बल बना रखा है; अल्प-आयु, शिशु-मृत्यु, बलहीनता, रोग-वृद्धि आदि देश को बुरी तरह जकड़े हुए हैं। हमारे नवयुवकों में निस्तेज, निरुत्साह तथा आत्महीनता की भावना इसी का परिणाम है। अतएव बालकों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने की आवश्यकता व्यक्ति एवम् राष्ट्र दोनों की दृष्टि से अत्यधिक है।

शारीरिक विकास का महत्त्व स्वीकार कर लेने पर यह कहना भी आवश्यक है कि केवल उसी को शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मान लेना अनुचित होगा। बालक के विविध अंगों के समुचित विकास को रोक कर केवल उसका शारीरिक विकास करना न तो संभव है और न उचित। रूसो की शिक्षा-पद्धति की भाँति प्रारंभिक अवस्था में केवल शारीरिक विकास पर ध्यान देना वैज्ञानिक आयोजना नहीं। हम राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को पहलवान नहीं बनाना चाहते। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ तथा शक्तिमान हो, पर उसके शारीरिक तथा मानसिक उन्नयन में एक संतुलन तथा सामंजस्य होना आवश्यक है।

शारीरिक बल एवम् व्यायाम आदि पर आवश्यकता से अधिक बल देने से व्यक्ति में पाशविक वृत्तियों का उत्कर्ष भी बहुत कुछ संभव है। अत्यधिक ओज, उत्साह, तथा शारीरिक शक्ति वाले मनुष्य प्रायः लड़ते और मारपीट करते पाए जाते हैं। जर्मनी, इटली आदि में युद्धपूर्व शिक्षा पद्धति में शारीरिक विकास, व्यायाम, सैन्य-शिक्षा आदि पर जो अत्यधिक बल दिया जाता था उसका परिणाम स्पष्ट ही महायुद्ध की विभीषिका के रूप में संसार के सम्मुख आया। अतएव शारीरिक विकास के साथ-साथ जो महत्त्वपूर्ण बात प्रायः विस्मृत कर दी जाती है वह है आत्म-संयम। व्यक्ति में शक्ति का विकास हो किन्तु सर्वप्रथम उसका उपयोग अपनी पाशविक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए किया जाना चाहिए।

इस दृष्टि से ही शारीरिक विकास का उद्देश्य शिक्षा के अन्य उद्देश्यों के मध्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसे शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता और न अन्य आवश्यक उद्देश्यों को उसके समक्ष गौण ही कहा जा सकता है।
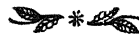
अध्याय ७

शिक्षा के उद्देश्य : निजत्व का विकास तथा नागरिकता की शिक्षा

निजत्व का विकास

शिक्षा में निजत्व के विकास का उद्देश्य समाज में व्यक्ति की प्रमुखता से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति के गुण-विशेष का ध्यान रखते हुए उसे उचित रूप से विकसित करना केवल वर्तमान युग की विशेषता नहीं। प्राचीन समय में ग्रीस में भी व्यक्ति का महत्त्व भली भाँति समझा जाता था और उसे अपनी रुचि के अनुसार विशेष दिशा में उन्नति करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। यद्यपि पूर्णतया उन्नत व्यक्ति का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि आवश्यकता पड़ने पर वह अपने को राज्य की सेवा में अर्पित कर दे, किन्तु फिर भी उसकी शिक्षा तथा विकास में राज्य कोई बाधा उपस्थित नहीं करता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने निज के विचारानुसार पूर्ण उन्नति करने का अधिकार तथा स्वतंत्रता थी।

भारत में भी उस काल में व्यक्तिगत शिक्षा की प्रधानता थी। गुरुकुलों में न तो अधिक विद्यार्थी होते थे और न कोई गुरु अपनी सामर्थ्य से अधिक संख्या में विद्यार्थी स्वीकृत ही करता था। बौद्ध विहारों तथा विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या सहस्रों तक पहुँच जाने पर भी प्रत्येक गुरु के लिए छः से अधिक विद्यार्थियों को अपने संरक्षण में न लेने का नियम बन गया था। इस नियम के कारण अधिक विद्यार्थियों के होते हुए भी शिक्षक प्रत्येक पर व्यक्तिगत ध्यान दे सकता था, उसकी कठिनाइयों को समझकर उनका समाधान कर सकता था, और उसकी रुचि के अनुसार पाठ्य-विषयों का निर्धारण कर सकता था।

संसार के इतिहास में मध्य-युग व्यक्ति तथा उसके निजत्व के प्रति अनादर तथा अवहेलना का काल है। व्यक्ति को समाज अथवा संस्था के ऊपर सहर्ष बलि कर दिया जाता था। यूरोप में धर्म के नाम पर अनेक संस्थाओं तथा दलों ने किस प्रकार व्यक्तियों पर अमानुषिक अत्याचार किए यह इतिहास के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं। संस्थाएँ तथा दल जैसा चाहते नियम बनाते और सदस्यों से कठोरता-पूर्वक उनका पालन कराते थे; व्यक्ति को अपना निजी विचार प्रगट करने का तनिक भी अधिकार नहीं था। मार्टिन लूथर आदि सुधारकों ने इस टोली-वाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई तथा फ्रांस की क्रान्ति ने प्रत्येक व्यक्ति की आवाज़ को ऊँचा उठने का अवसर प्रदान किया। भारत में भी मध्य-युग में हिंदू-मुसलमानों की धार्मिक संस्थाओं ने कम अत्याचार नहीं किए। हिन्दू धर्म के अन्दर ही अनेक धार्मिक गुट, मतमतांतर, बौद्ध-ब्राह्मण विद्वेष, शैव-शाक्त मतभेद और इनके परिणामस्वरूप परस्पर अत्याचार आदि के विषय में हम सभी जानते हैं। शिक्षा पर इस भावना का विशेष प्रभाव पड़ा। कक्षा में अनेक विद्यार्थियों का जमाव, तथा सबके लिए शिक्षण की एक ही प्रणाली का प्रयोग देखकर यही निष्कर्ष निकलता है कि उसमें बालक के निजत्व, उसकी निजी सीमाओं तथा शक्तियों, रुचि आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। उसके निजत्व की अवहेलना तथा तिरस्कार शिक्षा में साधारण बात थी।

हमारे देश में सामूहिक शिक्षण की यह प्रणाली आज भी प्रचलित है। बड़ी-बड़ी कक्षाएँ, शिक्षक तथा शिक्षार्थी का न्यूनतम सम्पर्क, बालक के निजत्व की अवहेलना, उसकी आवश्यकताओं तथा गुण-विशेष की उपेक्षा, शिक्षा को व्यक्ति के अनुसार ढालने के प्रयत्न का अभाव आदि उसकी विशेषताएँ हैं। मध्ययुग की कृत्रिमता आज भी हमारी शिक्षा में वर्तमान है। संसार के अन्य देशों की शिक्षा की भी बहुत-कुछ यही दशा है, परन्तु अब कुछ देशों में व्यक्ति का आदर करने की भावना जाग्रत हो चुकी है। आधुनिक जनतंत्रवाद ने इस भावना को विकसित होने में विशेष सहायता पहुँचाई है।

वर्तमान युग में रूसो ने सर्वप्रथम शिक्षा में व्यक्ति का महत्त्व स्थापित किया। उनके अनुसार शिक्षा-व्यवस्था बालक के अनुरूप होनी चाहिए। उनके एमील की शिक्षा उसके व्यक्तिगत गुणों पर आधारित थी और बालक को केन्द्रबिन्दु मान कर उसकी आयोजना की गई थी। रूसो के बाद पेस्तलॉत्सी ने बालक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर विशेष बल दिया तथा शिक्षा को बालक की नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर आधारित करने का सुझाव दिया। इसके पश्चात् मनोविज्ञान, व्यक्तिवाद, जनतंत्रवाद

आदि के प्रभाव के कारण शिक्षा में निजत्व के विकास का उद्देश्य उत्तरोत्तर प्रमुखता प्राप्त करता गया।

सामूहिक शिक्षा-प्रणाली के प्रचलन का मुख्य कारण व्यक्तिगत शिक्षा की महँगाई थी। आदर्श स्थिति तो वह है जिसमें प्रत्येक शिक्षक के पास विद्यार्थियों की संख्या न्यूनतम हो और इस प्रकार वह प्रत्येक पर पूरा ध्यान दे सके। 'प्राइवेट ट्यू-टर' लोग इसीलिए लगाते हैं। परन्तु इस व्यवस्था में बालक की शिक्षा असाधारण रूप से महँगी हो उठती है, और सब बालकों के लिए अलग-अलग अध्यापक नियुक्त करना असंभव होता है। अतः शिक्षा को सस्ता एवम् सर्व-सुलभ बनाने के लिए ही उसमें सामूहिक अध्यापन का प्रचलन हुआ जो बड़ी-बड़ी कक्षाओं के रूप में आज पाठ-शालाओं में व्याप्त है। प्राचीन समय में जनसंख्या कम थी और कम विद्यार्थी संस्थागत शिक्षा प्राप्त करते थे। उस समय समस्त राष्ट्र अथवा जनता को शिक्षित करने का प्रचलन नहीं था। आज की परिवर्तित अवस्था में शिक्षा की अत्यधिक माँग तथा अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण न केवल सामूहिक प्रणाली अधिक कठोर हो गई है अपितु कक्षाओं में बालकों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

शिक्षा में व्यक्ति की ओर समुचित ध्यान देने तथा उसके निजत्त्व के विकास का प्रयत्न करने के पक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो वास्तव में सामूहिक शिक्षण-प्रणाली में व्यय की विशेष बचत नहीं होती। अंत में उसमें अधिक ही व्यय होता है। कम व्यय के लोभ में जो शिक्षा सामूहिक ढंग से दी जाती है वह विशेष प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती; थोड़ा अधिक व्यय करके यदि व्यक्तिगत शिक्षा का प्रबन्ध किया जाए तो वह व्यय सार्थक होगा और उस शिक्षा का कुछ फल भी निकलेगा। सस्तेपन के प्रयत्न में सामूहिक शिक्षण वास्तव में राष्ट्र के लिए अंत में और भी अधिक महँगा सिद्ध होता है।

मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। यह साधारण सा सत्य भी हम शिक्षा में सहज ही भूल जाते हैं। भिन्न रुचि, इच्छा, गुण, सीमा तथा विकास वाले अनेक बालकों को एक कक्षा में एकत्र करना और सबको एक ही ढंग से पढ़ाना कृत्रिम एवं अप्राकृतिक है। हमारी पाठशालाओं में कक्षाओं का वर्गीकरण बालकों की आयु पर आधारित न होने के कारण उसमें और भी अधिक दोष आ जाते हैं। एक ही कक्षा में पंद्रह वर्ष के किशोर और दस वर्ष के बालक को पास-पास बैठे देखना हमारी पाठशालाओं में एक साधारण दृश्य है। इससे विद्यार्थियों के आपसी सम्बंध में अनेक प्रकार की समस्यापूर्ण परिस्थितियाँ एवम् कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, और अध्यापक के लिए प्रत्येक बालक पर उसके निजी गुणों तथा प्रवृत्तियों के

अनुसार ध्यान दे पाना असंभव हो जाता है। शिक्षक भी एक ही शिक्षण-प्रणाली से सब को एक साथ हाँक देता है। शिक्षा के इस सैन्यीकरण के प्रति जितना विद्रोह खड़ा किया जा सके उचित होगा।

शिक्षा में स्वतंत्रता तथा क्रियाशीलता के वातावरण की आवश्यकता पर हम पहले विचार कर चुके हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि बड़े समूह में बालकों को न तो विचार प्रदर्शन की पूर्ण स्वतंत्रता हो सकती है और न क्रियाशीलता की। उससे मंडली में अव्यवस्था फैलने का डर रहता है, और कम ही शिक्षक ऐसे होते हैं जो कक्षा में अधिक विद्यार्थियों के बीच वाद-विवाद अथवा क्रियात्मक कार्य-क्रम का सफलतापूर्वक नेतृत्त्व कर सकें। परिणामस्वरूप, विद्यार्थियों को क्रियाशील बनाने के बजाय अध्यापक सारी क्रियाशीलता स्वयं अपने ज़िम्मे ले लेता है, बालक निष्क्रिय बने, चुपचाप आदेशों को ग्रहण करते रहते हैं। बालक को स्वयं अपने दृष्टिकोण से विचारने, अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रगट करने तथा अपनी धारणाओं का वास्तविक जीवन में परीक्षण करने का अवसर ही नहीं मिलता। अध्यापक के विचारों से सहमत न होना उसका महान् अपराध माना जाता है। उसे तो बस एक ही पूर्व-निश्चित विचारधारा के अनुसार सोचने-समझने का आदेश मिलता है इससे बालक का अपना निजत्व कुंठित हो जाता है। वह क्रियाशील नहीं रहता, फिर ज्ञान की खोज तथा विकास क्या करेगा?

वास्तव में शिक्षा व्यक्तिगत प्रयत्न है। शिक्षा प्राप्त करने वाले को उसके लिए स्वयं व्यक्तिगत प्रयत्न करना पड़ता है, तभी उसे उचित फल की प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपना भोजन स्वयं खाना और पचाना पड़ता है, कोई दूसरा उसके हितार्थ भोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिक्षा के लिए स्वयं प्रयत्न करना आवश्यक है। जिस प्रकार व्यक्ति का भोजन करने का अपना ढंग होता है उसी प्रकार उसका शिक्षा-प्राप्ति का निजी ढंग होता है। अपने ढंग विशेष से ही वह सहज, शीघ्र तथा स्वाभाविक शिक्षा प्राप्त कर सकता है। वैज्ञानिक शिक्षा वही है जो बालक के शिक्षा-प्राप्ति के निजी ढङ्ग पर आधारित हो। शिक्षण की सामूहिक प्रणाली में इस प्रकार का प्रबंध होना असंभव सा ही है।

शिक्षा में निजत्व के विकास को प्रमुखता देने का तात्पर्य यह है कि बालक के नैसर्गिक गुणों एवम् प्रवृत्तियों का पता लगाकर उनके विकास का प्रयत्न किया जाए। इससे उसकी अन्तर्निहित शक्तियों एवम् सुप्त गुणों का उद्भव होता है और बालक के व्यक्तित्व में छिपा हुआ कलाकार, कवि, शिल्पकार अथवा गायक जाग्रत एवम् विकासोन्मुख होता है। यदि शिक्षा द्वारा बालक को अपने गुण-विशेष के विकास का

अवसर दिया जाए तो वह उस दिशा में अधिकाधिक उन्नत होता जाएगा। परन्तु, सामूहिक शिक्षा में शिक्षकों को प्रत्येक बालक पर ध्यान देने का इतना अवसर ही नहीं मिलता कि उसके गुण-विशेष का अध्ययन किया जा सके, और न कक्षा के प्रत्येक बालक की रुचि के अनुसार शिक्षा का रूप ही परिवर्तित किया जा सकता है। सामूहिक शिक्षा के कारण न जाने कितने कवि और कलाकार अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही अविकसित तथा कुंठित रह जाते हैं। बालक का निजत्व ही उसका जीवन है और यदि वही नष्ट हो गया तो उसका सम्पूर्ण जीवन केवल यंत्रवत् रह जाता है, उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत विशेषता नहीं रहती। अतएव, हम कह सकते हैं कि शिक्षा द्वारा बालक के अन्तर्निहित गुणों के विकास पर ही समाज का सांस्कृतिक उन्नयन निर्भर करता है।

व्यक्ति के निजत्व पर ध्यान देने का तात्पर्य यह है कि उसे भली-भाँति जानने समझने का प्रयत्न किया जाए। आज हम किसी व्यक्ति को समझने, उसकी विशेषताएँ जानने तथा उसके निजी विचारों का अध्ययन करने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि व्यक्ति दूसरे को उपेक्षित ही समझता है। वास्तव में मनुष्य के सारे ज्ञान का चरम लक्ष्य स्वयं अपने को तथा दूसरों को जानना समझना ही है। इसी से आपसी मेल, एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने की प्रवृत्ति, तथा सहयोग पैदा हो सकता है। समाज के संगठन का यही रहस्य है। व्यक्ति को समझकर, उसकी शक्ति तथा प्रवृत्तियों का अनुमान लगाकर उसे जो शिक्षा दी जाएगी उससे वह जीवन में स्वयं तो लाभ उठाएगा ही, समाज को भी दृढ़तर बनाने में समर्थ होगा। ऐसी शिक्षा से उसका अपने कार्य-विशेष में मन लगेगा तथा उसकी कार्य एवम् उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी। इससे भी अंत में समाज को ही लाभ है।

परन्तु, निजत्व के विकास का उद्देश्य मान्य होते हुए भी अनेक कठिनाइयों से पूर्ण तथा सीमाओं में बँधा हुआ है। इस उद्देश्य के विरोधियों का कथन है कि व्यक्ति पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने तथा उसे महत्तम समझने से अनेक दुष्परिणामों की आशंका है। प्रत्येक व्यक्ति न तो स्वयं में पूर्ण है और न आत्म-निहित। वह समाज का अंग बनकर ही सार्थक होता है। समाज तथा व्यक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बंध है। अतः इनमें से किसी भी एक को अत्यधिक महत्त्व देना दूसरे को हीन बनाना है। व्यक्ति पर अत्यधिक बल देने तथा उसे सर्वोच्च मानने से उसका अहम् सहज ही जाग्रत हो सकता है। व्यक्ति के अहम्, अहंकार अथवा निजत्व को प्रतिपल संतुष्ट करते रहने से समाज को जो हानि हो सकती है उसका उदाहरण हिट्लर, मुसोलिनी आदि के रूप में समस्त संसार के समक्ष आ चुका है। व्यक्ति का अहम् ही उसे बड़े से बड़ा

तानाशाह अथवा सामाजिक शत्रु बना सकता है। विभिन्न सभा-समितियों के चुनाव में जो व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता उग्र रूप धारण कर लेती है उसके पीछे प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी की अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने की भावना ही काम करती है। शिक्षा द्वारा यदि इसी भावना को उकसाया तथा विकसित किया गया तो सामाजिक उत्तरदायित्व, सहानुभूति, दया, सहयोग आदि कहीं देखने को न मिलेंगे।

इस उद्देश्य के विरोधियों के मतानुसार व्यक्तियों में एक दूसरे से भिन्नता होने के साथ ही साथ बहुत कुछ समता तथा एकरूपता भी है। हर समय केवल उनकी भिन्नताओं पर ध्यान देना तथा उन्हें बढ़ा चढ़ा कर दिखाना संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। व्यक्तियों की समानताओं को उपेक्षित करना उचित नहीं। यदि एक व्यक्ति को दूसरे के निकट लाना है तथा उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सब का सामूहिक सहयोग प्राप्त करना है तो उसे सर्वव्यापी एकरूपता तथा सब वस्तुओं में एक ही दिव्यशक्ति का प्रकाश देखने के लिए प्रेरित करना होगा। जब तक व्यक्तिगत भिन्नता के मध्य एकत्व की एकसूत्रता स्थापित न होगी तब तक व्यक्ति टूटी हुई माला के बिखरे मोतियों के समान विलग बने रहेंगे। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का पूरक है— यह भावना भी दृढ़ बनाना आवश्यक है।

शिक्षा में बालक के निजत्व की मान्यता एक आवश्यक अंग के रूप में है। बालक एक सत्य है जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। परन्तु क्या बालक का निजत्व स्वयं शिक्षा का उद्देश्य भी है? यह एक गंभीर प्रश्न है। बालक के निजत्व का विकास तो शिक्षा द्वारा करना ही है-- किन्तु उस विकास का उद्देश्य क्या हो? किस अभिप्राय से यह विकास किया जाए? प्रत्येक का निजत्व विकास किस दिशा में किया जाय? इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। निजत्व के अनियमित, लक्ष्यहीन तथा उच्छृङ्खल विकास का तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता। अपने-अपने निजी गुणों को विकसित करते हुए सब बालक किस दिशा में उन्मुख होंगे, यह स्पष्ट नहीं होता। अतएव, निजत्व के विकास का उद्देश्य अस्पष्ट तथा अपूर्ण प्रतीत होता है।

यह धीरे-धीरे अनुभव किया जा रहा है कि बालक की विशेष प्रवृत्ति का ही विकास करना उसमें एकांगिता को प्रोत्साहन देना है। यदि किसी बालक में कलाकार बनने की नैसर्गिक प्रवृत्ति है तो उसे केवल कला की ही शिक्षा देते रहना जीवन के अन्य अंगों से उसका पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद करना होगा। उसके लिए तो यह और भी आवश्यक है कि उसे जीवन की अन्य दिशाओं की ओर उन्मुख किया जाए, अन्यथा वह केवल कलाकार मात्र बनकर रह जाएगा। व्यक्ति के संतुलित तथा सर्वांगीण विकास के हित में उसे केवल एक ही क्षेत्र में पूर्णत्व प्रदान नहीं किया जा सकता।

केवल अपने सीमित कार्य में दक्षता-प्राप्ति तथा अन्य साधारण विषयों की नितांत अनभिज्ञता आज प्रायः व्यक्तियों में पाई जाती है। अतः शिक्षाविदों के सम्मुख यह गंभीर प्रश्न है कि क्या बालक की एक निश्चित प्रवृत्ति का ही अधिकाधिक विकास हो, अथवा पूर्व-निश्चित प्राकृतिक प्रवृत्ति के स्वाभाविक विकास को संतुलित करने के लिए शिक्षा द्वारा अन्य दिशाओं में भी विकास-कार्य किया जाए ?

प्रत्येक व्यक्ति का अपना पृथक निजत्त्व होने के कारण निजत्त्व-विकास के उद्देश्य का अर्थ प्रत्येक के लिए भिन्न भी होगा। सब के लिए कोई एक सामान्य उद्देश्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। यही इस उद्देश्य की सब से बड़ी कमज़ोरी है। अस्पष्ट तथा अमूर्त उद्देश्य हमारे मन को आकर्षित तो कर सकता है परन्तु व्यावहारिक धरातल पर उसका कोई अर्थ तथा उपयोग नहीं। इन सब कठिनाइयों के कारण हम निजत्त्व के विकास का उद्देश्य पूर्ण तथा सर्वथा उपयोगी नहीं मान सकते। निजत्त्व के विकास के साथ ही मनुष्य में सामाजिक भावनाओं का प्रादुर्भाव होना आवश्यक है। यह नागरिकता की उचित शिक्षा द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

नागरिकता की शिक्षा

निजत्त्व के विकास का उद्देश्य के रूप में विरोध करने वाले शिक्षाशास्त्री शिक्षा द्वारा बालकों में सामाजिकता की भावना भरने की आवश्यकता पर विशेष बल देते हैं। उनके विचारानुसार बालक को समाज का अन्तरङ्ग सदस्य होना आवश्यक है। आज के समाज का रूप बहुत कुछ राजनीतिक है, अतः वर्तमान समय में शिक्षा द्वारा देश के प्रत्येक व्यक्ति को सुयोग्य नागरिक बनाने पर सभी देशों में बहुत ज़ोर दिया जा रहा है। वास्तव में नागरिकता की शिक्षा की विशेष आवश्यकता इस राजनीति-प्रधान युग में ही अनुभव की गई है। इस युग के पूर्व शिक्षा के इस उद्देश्य की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गई थी क्योंकि लोग राजनीतिक मामलों में इतनी रुचि नहीं रखते थे। राजनीति का क्षेत्र तथा राज्य का कार्य केवल राजा तथा उसके मंत्रियों के लिए ही उपयुक्त समझा जाता था। राज-काज में दख़ल देना सर्वसाधारण न तो अपना कर्त्तव्य समझते थे और न राजा तथा मंत्रियों की ओर से ही उन्हें इसके लिये आमन्त्रित किया जाता था। राज्य के प्रति जनता की इस उदासीनता का चित्र तुलसीदास ने 'कोउ नृप होहि हमैं का हानी' में स्पष्ट अंकित कर दिया है।

किन्तु, वर्तमान युग में जनतंत्रवाद की राजनीतिक विचारधारा ने प्रत्येक व्यक्ति को राजनीति के प्रति सजग बना दिया है। प्रत्येक देश का नागरिक अब राजनीति में अधिकाधिक रुचि एवम् भाग लेने लगा है। नागरिक कहे जाने से

व्यक्ति के देश के प्रति अनेक कर्त्तव्य तथा अधिकार स्पष्ट हो उठते हैं। जनतंत्रवाद का सारा ढाँचा व्यक्तिगत सहयोग पर आधारित है। देश के प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का उत्तरदायित्व किसी न किसी अंश तक अवश्य वहन करना पड़ता है क्योंकि राज्य सबका है केवल एक व्यक्ति का नहीं। अतः प्रत्येक नागरिक को उन अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के योग्य बनने की आवश्यकता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को बाल्यावस्था से ही अपने इन अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सचेत एवम् प्रयत्नशील बनाना आज का प्रमुख उद्देश्य माना गया है।

वास्तव में जनतंत्रवाद के इस युग में राष्ट्र की शक्ति केवल शासक तथा सेना में ही निहित नहीं। आज के युद्ध में देश के एकान्त कोने में हल चलाता हुआ एक कृषक भी उतना ही महत्वपूर्ण भाग लेता है जितना कि समरभूमि में मर मिटने वाला एक सशस्त्र सैनिक। अतः सम्पूर्ण देश की शक्ति एक-एक नागरिक की निजी शक्ति एवम् योग्यता पर निर्भर है। पिछले महायुद्ध ने यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया कि सुनियंत्रित, व्यवस्थित तथा सुसंगठित राष्ट्र बड़ी-बड़ी सेनाओं के समक्ष भी अपनी स्थिति सुरक्षित बनाए रख सकते हैं। अतः यह और भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र का सुयोग्य नागरिक बने तथा अपनी शक्ति एवम् योग्यता से राष्ट्र के संगठन को दृढ़ बनाए।

नागरिकता की शिक्षा के अन्तर्गत उन सभी राजनीतिक सिद्धान्तों तथा विचार-धाराओं का अध्ययन अपेक्षित है जो लोगों पर अपना प्रभाव डाल रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में आजकल इतने वाद तथा शासन-सिद्धान्त प्रचलित हैं कि प्रत्येक सचेत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उन सबका सम्यक् अध्ययन तथा विश्लेषण कर उनमें से उचित और राष्ट्रोपयोगी व्यवस्था का प्रवरण करे। राजतन्त्र, जनतन्त्र, समाजवाद, तानाशाही, साम्यवाद आदि अनेक राजनीतिक शासन-प्रणालियाँ स्थान-स्थान पर स्थापित हैं और प्रत्येक के पोषक अपनी प्रणाली-विशेष को ही सर्वोत्तम मानते हैं। प्रत्येक प्रणाली के समर्थक अन्य देशवासियों पर अपना-अपना प्रभाव डालने के लिए रेडियो, समाचारपत्रों, पुस्तकों आदि के द्वारा निरंतर प्रचार करते रहते हैं। साम्यवाद तथा प्रजातन्त्रवाद के बीच यह प्रचार-प्रतिद्वंद्विता हम स्पष्ट ही देखते हैं। एक अस्थिर-मति तथा सरल नागरिक के लिए इस विज्ञापन और प्रचार के जाल में फँस जाना बहुत आसान है। अतः इस बात की आवश्यकता अधिकाधिक प्रतीत हो रही है कि प्रत्येक बालक समझने योग्य होने पर विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं तथा शासन प्रणालियों का अध्ययन कर खुले मस्तिष्क से स्वतन्त्रतापूर्वक अपना निष्कर्ष निकालने की सामर्थ्य प्राप्त करे। प्रायः अशिक्षित तथा नासमझ नागरिक ही प्रचार

में फँस कर राजनीतिक शोषण के शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार नागरिकता की शिक्षा के अन्तर्गत उन्हें राजनीतिक विवेचन तथा सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता प्रदान की जाती है।

भारत में तो आज नागरिकता की शिक्षा की और भी अधिक आवश्यकता है। प्रथम तो हमारे अधिकांश देशवासियों में 'कोउ नृप होहि हमैं का हानी' वाली भावना अभी तक वर्तमान है। साधारण जनता प्रायः राज्य के क्रिया-कलाप तथा अपने अधिकारों के विषय में उदासीन है। अपने सामान्य देशवासियों को देख कर उन्हें सुयोग्य नागरिक कहना भी कठिन होगा। राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्यों को निबाहने के लिए उनमें आन्तरिक प्रेरणा का सर्वथा अभाव है और अपने अधिकारों के विषय में उनकी जानकारी नगण्य है। वास्तविकता तो यह है कि उन्हें देश का सुयोग्य नागरिक बनने के लिए न तो कभी कोई प्रेरणा ही मिली और न उपयुक्त अवसर विदेशियों के शासनकाल में नागरिकता की उचित शिक्षा की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। शासन आदि के विषय में प्रजा की रुचि अनावश्यक तथा अनपेक्षित समझी जाती थी। अतः नागरिकता की शिक्षा के अभाव में देशवासी और भी उदासीन तथा इतोत्साह हो गए! अब, देश की स्वतन्त्रता के बाद इस बात की नितांत आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सुयोग्य नागरिक बनने की शिक्षा दी जाए तथा उन्हें अपने कर्त्तव्य एवम् अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया जाए।

वर्तमान सामान्य शिक्षा व्यक्ति को सुयोग्य नागरिक बनाने में असमर्थ है, और न प्रत्येक धनवान्, कुशल कारीगर अथवा विद्वान व्यक्ति को अनिवार्यतः सुयोग्य नागरिक कहा जा सकता है। यह पूर्णतया निश्चित नहीं कि आज का प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी अवश्य ही प्रथम श्रेणी का नागरिक भी होगा। अपितु, इस बात का अधिक भय है कि व्यक्ति सफल व्यवसायी, सुयोग्य पिता अथवा पति इत्यादि होने पर भी नागरिक के रूप में अत्यन्त हेय हो। अतः यह स्पष्ट है कि सफल नागरिक के आवश्यक गुणों का विकास करने के लिए विशिष्ट शिक्षा की योजना करना आवश्यक है, किन्तु इस प्रकार की शिक्षा की आयोजना करने से पूर्व इस बात का निश्चय करना भी आवश्यक है कि सुयोग्य नागरिक में ऐसे कौन से गुण अपेक्षित हैं, जिनकी शिक्षा द्वारा प्रतिष्ठा की जाए। नागरिकता की शिक्षा की आवश्यकता तो आज सभी राष्ट्र मानते हैं किन्तु वह वास्तव में है क्या, तथा उसके अन्तर्गत कौन से गुण उत्पन्न किए जाने चाहिए, इस विषय में यथेष्ठ मतभेद है। जर्मनी में हिट्लरीय शिक्षा सुयोग्य नागरिक बनाने के उद्देश्य से दी जाती थी, जापान में इसका दूसरा

रूप था, इग्लैंड तथा अमरीका में नागरिकता की शिक्षा का कुछ और ही तात्पर्य है तथा रूस में नागरिकता का अर्थ कुछ दूसरा है। यद्यपि इन सभी देशों में कहने को तो बालकों को सुयोग्य नागरिक बनाने का एक ही उद्देश्य शिक्षा में प्रचलित है तथापि उसके परिणाम स्वरूप जो नागरिक बनते हैं वे एक देश में दूसरे से नितांत भिन्न होते हैं।

नागरिकता की शिक्षा का यह स्वरूप अत्यंत संकुचित तथा राजनीतिक शोषण पर आधारित कहा जाएगा। साधारणतया प्रत्येक राष्ट्र के लिए उसके देशवासियों द्वारा मान्य शासन-व्यवस्था का रूप उचित कहा जाता है, तथा उस व्यवस्था के अनुरूप नागरिकों को शिक्षा देना उस राष्ट्र का कर्तव्य है। परन्तु, देश में स्थापित शासन-व्यवस्था के मानने वालों को नागरिक मानना तथा उसमें विश्वास न करने वालों को सुयोग्य नागरिक न समझना वास्तव में अत्यंत संकुचित दृष्टिकोण है। प्रायः सभी देशों में इस प्रकार की संकुचितता दिखाई पड़ती है। हिट्लर ने जर्मनी से उन सभी लोगों को निष्कासित कर दिया जो उसकी शासन-व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। रूस में शासन-व्यवस्था के प्रति आस्था न रखने वालों के लिए कोई स्थान नहीं। अमरीका में जनतंत्रवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाने वालों को सुयोग्य नागरिक नहीं समझा जाता। किन्तु, वास्तविकता तो यह है कि देश की उन्नति तथा विकास को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति चाहे जिस राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाए वह पूरी तरह अपने राज्य का भला नागरिक बना रह सकता है। देश द्रोही होना एक बात है और देशवासियों के हित में वर्तमान व्यवस्था का विरोध करना दूसरी बात। प्रत्येक देश में राजनीतिक व्यवस्था तथा शासनप्रणाली समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है, उसकी कसौटी पर व्यक्ति में नागरिकता के गुणों की परीक्षा करना अनुपयुक्त तथा अनुचित है। राजनीति और राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में भिन्न मत तथा विरोध रखते हुए भी व्यक्ति ऐसे आत्म-गुण विकसित कर सकता है जो उसे वास्तव में अपने राष्ट्र की शक्ति एवम् आधार-स्तंभ बना सकें।

वस्तुतः योग्य नागरिक के गुणों का निर्धारण करने के लिए विशद दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इन गुणों के कारण ही व्यक्ति राष्ट्र का अभिन्न अंग बन जाता है और राष्ट्रीय संगठन में योगदान कर सकता है। समाज तथा राष्ट्र की सुरक्षा एवम् उन्नति को ध्यान में रखते हुए इन गुणों वाला व्यक्ति सुयोग्य नागरिक ही कहा जाएगा फिर वह चाहे जिस राजनीतिकवाद अथवा शासन-व्यवस्था का समर्थक क्यों न हो। सुयोग्य नागरिक के इन अपेक्षित गुणों को हम मुख्यतः निम्न वर्गों में रख सकते हैं :—

(१) गहन तथा तीव्र सामाजिक भावना—एक सुयोग्य नागरिक अपनी अपेक्षा समाज तथा राष्ट्र को प्रधानता देता है। उसके अन्तर्मन से समाज-सेवा तथा

राष्ट्र-हित में आत्मोत्सर्ग की भावना स्वाभाविक रूप से निःसृत होती है। इस मूल भावना के अंगस्वरूप व्यक्ति में अनेक चारित्रिक एवम् भावनात्मक गुणों का प्रादुर्भाव होता है, यथा, दूसरों में विश्वास, सहयोग, परमार्थ, सहानुभूति, नियम-पालन आदि।

(२) शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक विकास—हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रत्येक समुन्नत व्यक्ति राष्ट्र की शक्ति में योगदान करता है। अतएव, प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक आदि अंगों को पूर्णतया विकसित करे। उसका शारीरिक विकास तथा शक्तिवर्द्धन राष्ट्र के निर्माण एवम् सुरक्षा के हित में होता है; मानसिक विकास द्वारा राष्ट्रीय समस्याओं का विवेचन, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का विश्लेषण तथा निष्कर्ष प्राप्ति आदि संभव हैं; और भावनात्मक विकास के अन्तर्गत स्वतंत्रता तथा राष्ट्रप्रेम, शान्ति की भावना, सहृदयता आदि गुणों की प्रतिष्ठा होती है।

(३) यथेष्ट सामान्य शिक्षा—राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए थोड़ी-बहुत सामान्य शिक्षा प्राप्त होना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा के समस्त पाठ्य विषय, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि आ जाते हैं। व्यावसायिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति स्वयं तो लाभ उठाता ही है वह राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा समृद्धि में भी योग देता है। अन्य विषयों की शिक्षा प्राप्त करने से उसका ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत होता है तथा मानसिक विकास एवम् दृढ़ता आती है। इसी कारण प्रत्येक राष्ट्र अपने नागरिकों के लिए उचित अनिवार्य शिक्षा की योजना करता है, और उस शिक्षा का स्तर उठाने का भी निरंतर प्रयास किया जाता है।

(४) राजनीतिक क्षेत्र में उत्तरदायित्व-वहन की क्षमता—सुयोग्य नागरिक राजनीतिक विषयों में क्रियात्मक रुचि लेता है तथा राजनीतिक समस्याओं पर निष्पक्ष भाव से विचार करने की सामर्थ्य रखता है। अपने अधिकारों के साथ-साथ वह दूसरे के अधिकारों की भी रक्षा करना जानता है। न्यायप्रियता, समदृष्टि तथा प्रगतिशीलता उसके गुण होते हैं। उसमें अपना प्रतिनिधि भली भाँति चुनने की योग्यता होती है तथा उससे सहयोग करने की हार्दिक प्रवृत्ति।

वास्तव में इन गुणों को धारण करने वाला नागरिक ही दृढ़, स्वतंत्र तथा राष्ट्र-सेवी कहला सकता है। नागरिकता की शिक्षा का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि व्यक्ति दास बने। राज्य के नियमों में बँध कर चलने वाला व्यक्ति सदैव अच्छा नागरिक नहीं कहा जा सकता और न किसी राजनीतिक सिद्धान्त का मूक दास ही सुयोग्य नागरिक होता है। उसे तो शक्तिशाली, क्रियाशील तथा स्वतंत्रत विचारक होना है। वह राष्ट्र का कर्णधार एवम् निर्माता होता है। बार्कर ने इन विचारों को ज़ोरदार शब्दों में

प्रगट करते हुए कहा है कि "जनतंत्र राष्ट्र में नागरिकता की शिक्षा का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि व्यक्ति सरकार के अनुरूप बने; उसे तो स्वयं शासक बनना है, या फिर शासन का निर्माण करना है...उसे प्रेरणा देनी है, उस पर प्रतिबन्ध रखना है। हमें तो मालिक बनने के लिए शिक्षा प्राप्त करनी है, दास बनने के लिए नहीं।"

व्यक्ति को यदि इस प्रकार की शिक्षा न मिली तो वह न तो स्वयं उन्नति कर सकेगा और न अपने राष्ट्र को ही उन्नत बना सकेगा। वह या तो खोखले राजनीतिक सिद्धान्तों के मतभेदों के जाल में फँसा रहेगा या फिर दूषित प्रचार का शिकार होकर किसी एक राजनीतिक विचारधारा का दास बन जाएगा। जोड के अनुसार "बिना नागरिकता की शिक्षा के मनुष्य को राजनीतिक दृष्टि से मनुष्य नहीं अपितु भेड़ कहना चाहिए। जिस प्रकार भेड़ें अपने रखवाले की पुकार सुन कर अपने-अपने बाड़े में बिना सोचे-समझे एक के पीछे एक घुस जाती हैं उसी प्रकार इस तरह की शिक्षा के अभाव में लोग राजनीतिज्ञों के नित्य नवीन नारों को सुन कर उनके पीछे हो लेते हैं।" हमारी वर्तमान शिक्षा में सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करने का अवसर नहीं दिया जाता। प्रायः नागरिकता के नाम पर तत्कालीन शासन-व्यवस्था की आलोचना को भी बुरा समझा जाता है। बुरे नागरिक अथवा देशद्रोही कहे जाने के भय से लोग अपनी सरकार को अच्छी-बुरी सभी बातों में सहयोग देने की प्रवृत्ति अपना लेते हैं। यह परिस्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के लिए नागरिकता की शिक्षा का महत्व कम नहीं। उसके वास्तविक रूप पर भी हम विचार कर आए हैं। परन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शिक्षा का उद्देश्य केवल सुयोग्य नागरिक बनाना ही है। वास्तव में एक सीमा का अतिक्रमण कर उस पर अत्यधिक बल देने से इस उद्देश्य तक में अनेक दोष पैदा हो सकते हैं जिनसे यथेष्ट हानि की आशंका है। नागरिकता की शिक्षा के विरोधी इन दोषों एवम् दुष्परिणामों से सजग रहने की चेतावनी देते हैं तथा इसे शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानने का विरोध करते हैं।

नागरिकता की शिक्षा के विरोधियों के अनुसार एक भय तो यही है कि इससे व्यक्ति के राजनीतिक क्रिया-कलाप को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है। मनुष्य केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही क्रियारत नहीं होता, अपितु वह मानवीय, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि क्षेत्रों में भी क्रियाशील होता है। जीवन की समस्त क्रियात्मकता में उसकी राजनीतिक क्रियाशीलता केवल एक अंश-मात्र है। अतएव जीवन के विभिन्न अंगों की उपेक्षा कर व्यक्ति को केवल राजनीतिक क्षेत्र के लिए तैयार करना उसकी सम्पूर्ण शिक्षा नहीं कहला सकती। साथ ही व्यक्ति की

शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक उन्नति को राष्ट्र अथवा शासन् के हित में साधनमात्र मान लेना उसके अपने निजी महत्त्व को उपेक्षित करना होगा। इसके अतिरिक्त नागरिकता की शिक्षा को ग़लत रास्ते में ढाल देना भी अत्यंत सरल है। प्रायः इस प्रकार की शिक्षा के नाम पर शासकवर्ग नागरिकों में अत्यंत संकुचित राष्ट्र-प्रेम भरने का प्रयत्न करते हैं। बहुत से सत्ताधारी व्यक्तिगत स्वार्थ तथा शक्तिसंचय के लिए भी नागरिकों को शासन से सहयोग करते रहने की सीख देते हैं। 'राष्ट्र ख़तरे में है' की आवाज़ उठाकर और शत्रुओं का काल्पनिक भय दिखाकर ये सत्ता-धारी प्रायः नागरिकों की भावनाओं को उत्तेजित कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं। हिट्लर, मुसोलिनी आदि ने नागरिकता की शिक्षा द्वारा यही स्वार्थ-साधन किया था।

शिक्षा पर राजनीतिज्ञों तथा दार्शनिकों का प्रभाव सदैव से चला आया है। राजनीतिज्ञों ने अपने राजनीतिक प्रभुत्व को अक्षुण्ण रखने के लिए शिक्षा को सदैव अपनी दासी बनाए रखा और उसके उद्देश्य, प्रयोग एवम् परिणामों को अपनी इच्छा-नुसार निश्चित करते रहे। ऐडम्स के अनुसार "साधारणतया लोग यही समझते हैं कि नागरिकों की शिक्षा के स्वरूप का निश्चय करने का अधिकार केवल शासक-वर्ग को ही है। पूर्वकाल में अरस्तू तक ने यह नियम निर्धारित कर रखा था कि राजनीति ही शिक्षा की निर्माणकर्त्री है। यदि शासक-वर्ग को ही आगे चलकर शिक्षकों द्वारा निर्मित पदार्थ का उपयोग करना है, तो उन्हें यह भी कहने का पूर्ण अधिकार है कि वह पदार्थ कैसा हो। दूसरे शब्दों में शिक्षक को शासक वर्ग की आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिए।" निश्चय ही यह स्थिति मान्य नहीं हो सकती। शिक्षा का उपयोग प्रायः राजनीतिक स्वार्थ के लिए होता आया है और इसके परिणामस्वरूप शिक्षण-कला एवम् शिक्षा-विज्ञान न तो कभी भली-भाँति पनप सके और न उन्हें स्वतंत्र विषयों की भाँति विकास का अवसर ही मिला। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा अपने स्वतंत्र नियमों तथा सिद्धांतों के आधार पर विकसित हो। बालक का पूर्ण विकास ही उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। यह मनोवैज्ञानिक नियमों के आधार पर सामाजिक भावनाओं से सामंजस्य स्थापित करके ही हो सकता है। अत-एव, बालकों की शिक्षा के विषय में शिक्षा-शास्त्री ही अधिकार पूर्वक अपना मत दे सकते हैं, सत्ताधारी एवम् शासक नहीं, चाहे वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों।

नागरिकता की शिक्षा लोगों को इस बात की प्रेरणा देती है कि वे अपने व्यक्तिगत भेद-भाव भुला कर एक साथ राष्ट्र-सेवा में जुट जाएँ। नागरिकों में अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा समाज एवम् राष्ट्र को अधिक महत्व देने की भावना पैदा की

जाती है, और देश की ख़ातिर व्यक्ति अपना निजत्व तक न्यौछावर कर देने को उत्साहित किए जाते हैं। इस प्रयत्न से बालकों की निजी विशेषताओं के कुंठित हो जाने का भय रहता है। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय संगठन के हित में एकरूप बनने लगते हैं, तथा राष्ट्रीय संकट के समय उन्हें अपनी व्यक्तिगत रुचि तथा कार्यों को छोड़कर दूसरों के साथ-साथ शासकों के इशारे पर नाचना पड़ता है। पिछले महायुद्ध के अवसर पर रूस में कवि, कलाकार आदि सभी को एक होकर युद्ध में सहायतार्थ जुटना पड़ा था। यह स्थिति किसी सीमा तक ही उचित कही जा सकती है। समाज अथवा राष्ट्र के नाम पर व्यक्ति की निजी विशेषताओं की सर्वथा उपेक्षा तथा तिरस्कार करना सभी के लिए हानिकारक हो सकता है। इससे कला के विकास एवम् सांस्कृतिक उत्थान में भी बाधा पहुँचती है क्योंकि कला के विकास में कलाकार की स्वतंत्रता विशेष महत्व रखती है। ऐडम्स का कथन है कि "संसार के समस्त व्यक्ति एक असहनीय ढंग से एकरूप होते जा रहे हैं—पहनाव-ओढ़ाव, व्यवहार तथा अन्य सभी ऊपरी बातों में। और फिर ऊपर से समान शिक्षा सब के विचारों को भी एक ही सांचे में ढाल देने का प्रयत्न कर रही है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नागरिकता की शिक्षा का उद्देश्य पूर्णतया हानि-रहित नहीं। बालक के व्यक्तित्व को नष्ट करके राष्ट्रोन्नति का प्रयत्न करना अनुचित है। वास्तव में व्यक्ति तथा समाज एक दूसरे पर आधारित हैं। उन्नत राष्ट्र में व्यक्ति को अपने निजत्व के विकास के लिए उचित वातावरण तथा अवसर प्राप्त होता है, और प्रत्येक सुविकसित व्यक्ति राष्ट्र की शक्ति में योगदान करता है। अतएव, व्यक्ति तथा राष्ट्र के इस सह-सम्बंध को संतुलित रखने में ही दोनों का लाभ है। शिक्षा किसी एक की उपेक्षा दूसरे के लिए नहीं कर सकती।

अध्याय ८

शिक्षा के उद्देश्य : चरित्र निर्माण

अनेक शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक में सच्चरित्रता का विकास करना होना चाहिए। मानव जीवन में चरित्र का महत्व सर्वमान्य है। चरित्र के कारण ही मनुष्य पशु से ऊँचा समझा जाता है। प्राचीन तथा अर्वाचीन, सभी कालों में चरित्र की यह महत्ता अक्षुण्ण रही है। धन, शक्ति आदि प्राप्त होते हैं और नष्ट हो जाते हैं किन्तु मनुष्य का चरित्र जीवन-पर्यन्त उसका साथ देता है। अनेक व्यक्तियों की धारणा है कि आज मनुष्य-जीवन केवल इसीलिए घृणित बन गया है कि उसमें चरित्रबल नहीं रहा।

वूल्ज़े के कथनानुसार, "संसार में न तो धन का प्रभुत्व है और न बुद्धि का। प्रभुत्व होता है चरित्र और बुद्धि के साथ उच्च पवित्रता का।" बारतोल (लगभग १५०० ई०) ने कहा था—"चरित्र ही वह हीरा है जो सब पत्थरों से अधिक मूल्यवान् है।" वाल्तेयर के अनुसार—"सब धर्म परस्पर भिन्न हैं क्योंकि उनका निर्माता मनुष्य है। किन्तु, चरित्र की महत्ता सर्वत्र एक समान है क्योंकि चरित्र ईश्वर बनाता है।" संसार के अन्य महान् व्यक्तियों ने भी चरित्र के गुण इसी प्रकार गाए हैं।

चरित्र की महत्ता सभी मानते हैं। किन्तु, चरित्र क्या है? उस के अन्तर्गत किन गुणों को समझना चाहिए? तथा चरित्र में किन-किन बातों को लिया जाए? इस विषय में कोई एकमत नहीं। अर्थ-बोध की समस्या तब और भी गंभीर हो उठती है जब हम भिन्न व्यक्तियों को चरित्र का भिन्न अर्थ लगाते देखते हैं। उदाहरणार्थ, कई व्यक्ति अपने प्रतिदिन के कार्यों का नियम-पूर्वक पालन ही अच्छे चरित्र की निशानी मानते हैं; बहुत से व्यक्ति धर्म-कर्म, गंगा-स्नान, पूजा-पाठ को ही चरित्र की पवित्रता का द्योतक मानते हैं; कुछ व्यक्ति ऊँचे आदर्श रखने वालों को ही सच्चरित्र समझते हैं; बहुत से अन्य व्यक्तियों के लिए अच्छी आदतें ही चरित्र का निर्माण

करती है। चरित्र के विषय में यह मत-भेद व्यक्तियों तक ही सीमित न होकर जाति तथा देशों तक में व्याप्त पाया जाता है। एक जाति अथवा देश में जिन कार्यों को सच्चरित्रता के अन्तर्गत माना जाता है दूसरी जाति तथा देश में उन्हें चरित्र-हीनता का द्योतक समझा जाता है। स्थान भेद के साथ ही समय के अनुसार भी चरित्र के अपेक्षित गुणों में अन्तर आ जाता है। अनेक कार्य जो प्राचीन काल में बुरे चरित्र की निशानी समझे जाते थे आज सच्चरित्र व्यक्ति के गुण समझे जाते हैं।

अनेक दार्शनिकों ने चरित्रवान व्यक्ति की गुणावली अपने-अपने ढंग से निर्धारित की है। चरित्र की व्याख्या करने में भी भिन्न दृष्टिकोण अपनाया जाता है। प्रत्येक धर्म में सच्चरित्रता पर बल दिया गया है और धार्मिक व्यक्तियों को सच्चरित्र होना आवश्यक बताया गया है। किन्तु, यहाँ सच्चरित्रता तथा धार्मिकता में स्पष्ट भेद समझ लेना आवश्यक है। धार्मिक तथा सच्चरित्र व्यक्ति में अन्तर होता है। धार्मिक व्यक्ति में धार्मिक पक्ष प्रधान होता है किन्तु चरित्रवान व्यक्ति पूर्णतया धर्म-निरपेक्ष भी हो सकता है।

पहले लोगों का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति में देखने, सुनने, स्पर्श आदि की भाँति एक शीलानुभूति भी होती है। इस जन्म-जात शक्ति द्वारा ही वह अच्छा और बुराई में भेद करता तथा बुराई का त्याग कर अच्छाई को अपनाता है। किन् अब यह सिद्ध है कि बालक ऐसी कोई शक्ति लेकर उत्पन्न नहीं होता। जन्म से व न तो सदाचारी होता है और न दुराचारी। इन दिशाओं में उसका ज्ञान तथ अभ्यास समाज के प्रभाव से ही निश्चित होता है।

नैपोलियन के समय में श्वार्ज़ नामक एक जर्मन दार्शनिक तथा योद्धा चरित्र का व्यापक अर्थ माना और उसके अन्तर्गत नैतिक भावना तथा शुद्धाचरः दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। जो आचरण समाज द्वारा मान्य हो तथा किर प्रकार प्रतिबन्धित न हो उसे शुद्धाचरण कहा जाएगा। उसके लिए समाज की पर परागत मान्यता भी प्राप्त होनी चाहिए, उदाहरणार्थ, विवाह के जातीय नियमों व पालन अथवा अपने सम्बन्धियों से व्यवहार तथा सम्बन्ध की सीमाएँ। परन्तु सच्चरि व्यक्ति केवल सामाजिक नियमों तथा शुद्धाचरण का ही पालन नहीं करता अपि उच्च नैतिक आदर्शों में भी आस्था रखता है। उसमें शाश्वत सत्य में दृढ़ विश्वा तथा अच्छाइयों के प्रति आकर्षण होना चाहिए, और उसे अपने जीवन में इ आदर्शों का महत्व भलीभाँति समझना चाहिए। उदाहरणार्थ सत्य, क्षमा, दया, दा आदि नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा सच्चरित्र व्यक्ति में आवश्यक है।

वास्तव में चरित्र के अन्तर्गत नैतिकता तथा सदाचार न केवल आवश्यक अंग-रूप हैं अपितु एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। सदाचार सामाजिक भावना को लेकर पनपता है और नैतिकता आध्यात्मिकता को। दोनों का यह अन्तर्सम्बन्ध प्रायः भुला दिया जाता है और समाज के इतिहास में हम कभी नैतिकता तथा कभी सामाजिक शुद्धाचरण को अधिक महत्वपूर्ण बनते देखते हैं। इसी कारण समाज के चारित्रिक विकास में एकांगिता आने लगती है और लोगों का विशद चारित्रिक उन्नयन नहीं हो पाता।

सच्चरित्रता का वास्तविक अर्थ निश्चित करने में ऊपर निर्दिष्ट मतभेद अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं। इसी कारण यह उचित होगा कि इन मत-भेदों में न पड़कर ऐसे सद्गुणों की एक सूची निर्धारित कर ली जाए जो सच्चरित्र व्यक्ति में अपेक्षित हों। इन गुणों का पृथक-पृथक विवेचन करने से मतभेद की गुंजाइश भी बहुत कम हो जाती है। यह स्पष्ट है कि इस गुणावली का निश्चय तथा सच्चरित्रता की यथेष्ट व्याख्या कर लेने के बाद ही हम कह सकते हैं कि चरित्र-निर्माण को किस सीमा तक शिक्षा का उद्देश्य स्वीकार किया जा सकता है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो हम निश्चय ही एक सच्चरित्र व्यक्ति में निम्न गुणों अथवा विशेषताओं की अपेक्षा कर सकते हैः—

(१) दूसरों में रुचि तथा उनके प्रति समवेदना : इन गुणों का मूल आन्तरिक सामाजिक भावना में निहित है। सच्चरित्र व्यक्ति अपने में ही सीमित नहीं रहता, केवल अपने विषय में नहीं सोचता, अपितु अन्य व्यक्तियों के क्रिया-कलाप, सुख दुख आदि में पूर्ण रुचि एवम् भाग लेता है। वह स्वान्मुख होने के बजाय पराङ्मुख होता है। ऐसा व्यक्ति ही दूसरों के प्रति दया और सहानुभूति प्रदर्शित कर सकता, तथा उनका सहायक बन सकता है। वह कोई उत्तरदायित्व अपने सर ज़बरदस्ती आ जाने पर ही नहीं निबाहता अपितु स्वयं आगे बढ़कर दूसरों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेने के लिए आतुर रहता है। महात्मा गाँधी को देश का कष्ट दूर करने का उत्तरदायित्व किसी दूसरे ने नहीं सौंपा, उन्होंने इस उत्तरदायित्व को स्वयं आगे बढ़कर अपना लिया था। इस दृष्टिकोण से वह व्यक्ति जो नियत समय पर दैनिक कार्य करता, दफ़्तर जाता तथा लौट कर अपने परिवार में लिप्त हो जाता है और पास-पड़ोस में तथा औरों पर क्या बीत रही है, कहाँ क्या अत्याचार हो रहे हैं, आदि बातों की चिंता नहीं करता, निश्चय ही सच्चरित्र व्यक्ति नहीं कहला सकता।

(२) भावनात्मक प्रतिचार : चरित्रवान् व्यक्ति के लिए दूसरों के कार्यों में रुचि रखना ही यथेष्ट नहीं, उसके हृदय में अनुभूति तथा भावुकता होना भी आवश्-

यक है। दूसरों के दुःख से द्रवित हो जाने और अत्याचार होते देखकर पीड़ा तथा विद्रोह से विकल हो उठने वाला व्यक्ति ही उनके समाधान के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। यदि दया और सहानुभूति उसके हृदय को मथती नहीं और यदि स्नेह अथवा विद्रोह की भावना उसके मन में उग्र रूप धारण नहीं करती तो अवश्य उसकी समस्त क्रियाशीलता निश्चेष्ट पड़ी रहेगी। अतः चरित्रवान् व्यक्ति को अनेक विषयों में रुचि रखना आवश्यक है। उसे सौम्य होना चाहिए, किन्तु न्याय का समर्थन तथा अन्याय का विरोध करने की भावना भी यथेष्ट बलवती होनी चाहिए।

(३) मानसिक विकास : बुद्धिहीन व्यक्ति चरित्रवान् नहीं हो सकता। सच्चरित्रता के लिए अच्छे-बुरे, सत्कर्म-कुकर्म में भेद करने की सामर्थ्य होना आवश्यक है। तभी तो वह सत्कर्म का पालन तथा कुकर्म का त्याग कर सकेगा। अपनी नासमझी के कारण अनेक व्यक्ति कुकर्म कर बैठते हैं। अतएव सच्चरित्र व्यक्ति में निष्पक्ष भाव से विचार करने की क्षमता, तर्क एवम् विश्लेषण की शक्ति, तीव्र न्याय-बुद्धि तथा प्रत्येक बात को सब पहलुओं से सोचने-समझने के गुण होना आवश्यक है। वास्तव में उसकी मानसिक सजगता सतत क्रियाशील तथा चैतन्य होनी चाहिए। व्यक्ति के मानसिक विकास को उसकी सच्चरित्रता का मुख्य अंग मानना होगा।

(४) बल, शक्ति तथा ओज : चरित्रवान् व्यक्ति निर्बल नहीं होता और न दुर्बल व्यक्ति सच्चरित्र कहा जा सकता है। उसमें बल, शक्ति तथा ओजस्विता होती है। बिना शक्तिशाली बने वह जीवन में कुछ नहीं कर सकता। यदि उसे अपना उत्तरदायित्व निबाहना है, कर्त्तव्यों को पूरा करना है, अत्याचार से लोहा लेना है तथा शुभ कार्य में योग देना है तो उसमें बल एवम् शक्ति का होना आवश्यक है। यह बल शारीरिक ही हो यह आवश्यक नहीं। आध्यात्मिक शक्ति से भी व्यक्ति अपने कार्यों में अधिकाधिक सहायता ले सकता है। महात्मा गाँधी अपने कार्यों में शारीरिक की अपेक्षा आध्यात्मिक बल का ही प्रयोग करते थे। शक्तिशाली व्यक्ति में दृढ़ता, निर्भयता, आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्भरता होती है। उसमें शक्ति के साथ ओज तथा तेजस्विता होना भी आवश्यक है। किन्तु, सच्चरित्र व्यक्ति अपने इस बल का प्रयोग सर्वप्रथम अपने ऊपर ही करता है। दूसरों के आगे शक्ति-प्रदर्शन के बजाय स्वयं अपने मन की दुर्बलताओं तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही अधिक दृढ़-चरित्र माना जाता है। इसके लिए अपेक्षाकृत अधिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक होता है। तभी तो चरित्रवान् व्यक्ति बल-संचय के साथ-साथ संयम तथा आत्मनिग्रह को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानता है।

(५) उच्च आदर्श : उपर्युक्त सभी गुण व्यक्ति को तभी सच्चरित्र बना सकते हैं जब कि उसे उच्च आध्यात्मिक तथा नैतिक आदर्शों का बल प्राप्त हो। सत्यम् शिवम् तथा सुन्दरम् जैसे चिरन्तन आदर्शों की साधना में ही तो चरित्रवान् व्यक्ति को जुटना होता है, और इन प्रदीपों के आलोक में उसे अपना मार्ग निश्चित करना है। इन नैतिक आदर्शों के बिना उसका जीवन-संचालन पतवारहीन नौका के सदृश होगा। उच्च लक्ष्य से उद्भूत विश्वास और साहस द्वारा ही उसे अपने कार्य में संलग्न होने की सच्ची प्रेरणा मिल सकती है।

चरित्रवान् व्यक्ति में इन गुणों की सत्ता स्वीकार कर लेने पर चरित्र के विषय में हमारी समस्त धारणा ही बदल जाती है। इस दृष्टि से चरित्र एक निश्चेष्ट मानसिक दशा नहीं, वरन् प्रवैगिक, क्रियाशील तथा सचेष्ट साधन के रूप में प्रकट होता है। किसी प्रकार गिरते-पड़ते भली-बुरी तरह अपना काम चलाते रहना और बिना किसी झंझट के जीवन-यापन कर लेना वास्तव में सच्चा चरित्र नहीं। आगे बढ़कर, गिरते हुए का हाथ थाम लेना और बाधाओं को चीरते हुए उसे गंतव्य स्थान तक ले चलना दृढ़ चरित्र की निशानी है। व्यक्ति को इस प्रकार की सच्चरित्रता के सोपान पर निरंतर ऊपर चढ़ते रहना है, रुकना—बस नीचे गिरना है।

ऊपर के दृष्टिकोण में एक और विशेषता है, और वह है चरित्र का व्यापक रूप। इसके अनुसार चरित्र के अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन के सभी अंगों का पूर्ण विकास आ जाता है। वास्तव में मनुष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व ही उसका चरित्र होता है, और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण ही उसका चरित्र-निर्माण है। हरबार्ट ने चरित्र-निर्माण का यही विशद अर्थ लिया है और उसी दृष्टिकोण को रेमॉन्ट ने भी अपनाया है। किन्तु, अब मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुसंधान के आधार पर चरित्र के विषय में एक नवीन विचारधारा प्रतिपादित हो रही है और पश्चिमी देशों में उसे यथेष्ट मान्यता भी प्राप्त है।

मनोविज्ञान के अनुसार बालक कुछ नैसर्गिक मूल प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है जो संतुष्टि के लिए निरंतर लालायित रहती हैं। यदि इनकी संतुष्टि समाज-विरोधी कार्यों द्वारा हो तो व्यक्ति दुश्चरित्र कहा जाता है और यदि समाजोपयोगी कार्यों द्वारा हो तो उसे चरित्रवान् कहा जाएगा। अतः व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों की संतुष्टि का अवसर जितना ही अधिक समाजोपयोगी कार्यों द्वारा प्राप्त होगा वह उतना ही अधिक सत्कार्य में अभ्यस्त हो जाएगा। समाज के नियमों के अनुरूप आचरण का निश्चित अभ्यास डालना ही व्यक्ति में सच्चरित्रता का निर्माण करना है। स्पष्ट ही बालक की मूल प्रवृत्तियों को पूर्ण स्वच्छंदता नहीं दी जा सकती; जिस मार्ग को समाज

उचित समझता है उसी में उनका निर्देशन होना आवश्यक है। समाजशास्त्र भी इसी नियम पर आधारित है। व्यक्ति को समाज में रहकर जीवन-यापन करना है, अतएव उसके चरित्र का सामाजीकरण आवश्यक है। इसी आधार पर पश्चिमी दार्शनिकों ने व्यक्ति के चरित्र को केवल सामाजिक वातावरण से ही उद्भूत माना है ; समाज से पृथक व्यक्ति के सदाचार अथवा चरित्र की कोई स्थिति ही नहीं रह जाती।

चरित्र के विषय में विशद भारतीय दृष्टिकोण तथा उपर्युक्त पश्चिमी भावना में महान् अंतर है। पश्चिमी दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्ति का चरित्र दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित होने पर ही प्रस्फुटित होता है। अर्थात्, एकाकी होने पर व्यक्ति के चरित्र का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु, भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य का चरित्र उसका समस्त व्यक्तित्व अपने आत्मिक एवम् आध्यात्मिक बल सहित होता है। अतएव, यदि व्यक्ति दूसरों के सम्पर्क में न भी आए तो भी उसके चारित्रिक गुणों का अस्तित्व स्वयं उसके अपने लिए ही होता है। इस प्रकार चरित्र व्यक्ति की वह सम्पूर्ण आन्तरिक शक्ति तथा तेज है जो उसके सारे व्यक्तित्व को प्रकाशमान् किए रहता है—चाहे वह सामाजिक क्षेत्र में क्रियाशील हो, चाहे व्यक्तिगत क्षेत्र में यह चरित्र आन्तरिक अनुभूति के रूप में समझा जाता है, केवल वाह्य आचरण के अर्थ में नहीं।

चरित्र के विषय में उपर्युक्त विवेचन से हमें उसका अर्थ तथा रूप-रेखा निश्चित करने में यथेष्ट सहायता मिलती है। यह स्पष्ट है कि भारतीय विद्यार्थियों के लिए चरित्र-निर्माण का अर्थ व्यापक तथा आदर्श रूप में समझना होगा। सामाजिक आच-रण के रूप में चरित्र-निर्माण का पश्चिमी ढंग हमें स्वीकार नहीं हो सकता। उसके अन्तर्गत हम उन सभी गुणों के विकास का प्रयत्न शिक्षा द्वारा कर सकते हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। चरित्र को आत्मबल तथा आन्तरिक प्रेरणा के रूप में स्वीकृत करना होगा, केवल ऊपरी व्यवहार में दिखावे के रूप में नहीं। शिक्षा द्वारा चरित्र का संकुचित रूप प्रतिपादित करना अनुचित है।

इस प्रकार शिक्षा में चरित्र-निर्माण का उद्देश्य अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। हम यह भी देख चुके हैं कि उसके अन्तर्गत व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास संभव है, तथा उसमें व्यक्तिगत उन्नति के साथ-साथ समाज-सेवा तथा नैतिक आदर्श भी पनपते हैं। अपने देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि देश और समाज का उत्थान व्यक्ति के चारित्रिक उन्नयन पर ही निर्भर है। जीवन के प्रत्येक अंग तथा समाज-कार्य के प्रत्येक विभाग में चरित्र का ह्रास ही आज बुरे

परिणाम प्रगट कर रहा है। अतएव, शिक्षा द्वारा राष्ट्र के चरित्र को ऊँचे स्तर पर ले जाने की अविलम्ब आवश्यकता है।

वास्तव में चारित्रिक उन्नयन एक सीढ़ी पर चढ़ने के समान है, जिस पर व्यक्ति एक स्तर से दूसरे पर बढ़ता है। एक व्यक्ति जिस स्तर पर होगा उसी के अनुसार उसका चरित्र दूसरे की अपेक्षा ऊँचा अथवा नीचा कहा जाएगा। इसीलिए पूर्णतया दुश्चरित्र अथवा पूर्णतया सच्चरित्र व्यक्ति की कल्पना कठिनाई से की जा सकती है। यदि शिक्षा में चरित्र-निर्माण का उद्देश्य स्वीकृत किया जाए तो उसका अर्थ यही होगा कि बालक को एक स्तर से दूसरे पर बढ़ने के लिए शिक्षा द्वारा सहायता पहुँचाई जाए। तब शिक्षा की सफलता उस अनुपात में आँकी जाएगी जिसमें कि वह बालक को सफलतापूर्वक इस चरित्र-निर्माण के पथ पर आगे बढ़ाती है।

परन्तु, चरित्र-निर्माण को शिक्षा का उद्देश्य मानते हुए भी उसमें निहित कुछ कठिनाइयों तथा दोषों के प्रति जागरूक रहना अत्यंत आवश्यक है। प्रायः चरित्र-निर्माण का संकुचित अर्थ लगाकर उसके लिए संकुचित ही प्रयत्न किए जाते हैं। बहुत कम व्यक्ति चरित्र का वह अर्थ समझते हैं जो हम ऊपर निर्धारित कर आए हैं। प्रायः अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया खोकर सामाजिक नियमोपनियमों का दास बन जाना ही सच्चरित्रता की निशानी समझा जाता है। अनेक शिक्षक बालकों में प्रवैगिक, शक्तिशाली एवम् क्रियाशील गुणों की प्रतिष्ठा करके उन्हें दुःसाहसी बनाना संभवत उचित नहीं समझेंगे। अतएव, यह आशंका बराबर बनी रहती है कि शिक्षा में चरित्र-निर्माण के प्रयत्न में कहीं उच्च स्तर से गिर कर केवल वाह्य आचार-व्यवहार को ही मुख्य न मान लिया जाए। तब इस उद्देश्य का कोई आन्तरिक महत्व नहीं रह जाएगा।

दूसरे, यद्यपि हम चरित्र के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी अंगों का विकास सम्मिलित कर लेते हैं तथापि इससे प्रत्येक अंग का स्वयम् अपना स्थान एवम् महत्व गौण हो जाता है। बौद्धिक विकास अथवा आध्यात्मिक उन्नति को चरित्र के अन्तर्गत उसका केवल एक अंग मान कर स्वीकृत करना उनके स्वतंत्र अस्तित्व तथा निजी महत्व की अवहेलना करना है। आध्यात्मिक, बौद्धिक अथवा भावनात्मक उन्नति का महत्व स्वयं अपने आप में भी कम नहीं और वे समान रूप से मूल्यवान् भी हैं। चरित्र के अन्तर्गत मानने पर उनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। इसके अतिरिक्त चरित्र-निर्माण का उद्देश्य चाहे जितना व्यापक तथा आकर्षक क्यों न हो, शिक्षा के एकमात्र उद्देश्य के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। चरित्र-निर्माण के साथ ही साथ जीविकोपार्जन, शारीरिक स्वास्थ्य एवम् विकास आदि के उद्देश्य भी यथेष्ट महत्वपूर्ण हैं, उन्हें

उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अतएव, केवल चरित्र-निर्माण का एकाकी उद्देश्य मानव-जीवन की सम्पूर्ण शिक्षा के विशद क्षेत्र में पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकता।

परन्तु, चरित्र-निर्माण के उद्देश्य से सम्बन्धित जिस गंभीर समस्या का सामना शिक्षक को प्रायः करना पड़ता है वह है नैतिकता तथा सदाचरण के शिक्षण की कठिनाई। यह स्पष्ट है कि कक्षा में बालकों को कोरा उपदेश देते रहने से उनका चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता। यह उपदेशात्मक शिक्षा-प्रणाली प्रारंभ से ही प्रयुक्त की जा रही है और हमारी पाठशालाओं में अभी भी प्रचलित है। किन्तु, यह समस्त प्रयत्न कितना व्यर्थ जा रहा है यह सभी जानते हैं। वास्तव में बालकों के चरित्र-निर्माण में आदेश की अपेक्षा दैनिक दिनचर्या, पाठशाला का कार्य-क्रम, शिक्षकों के व्यक्तित्व, बालकों की मित्र-मंडली आदि का प्रभाव विशेष महत्व रखता है। घर, पाठशाला, समाज आदि के द्वारा चारों ओर से पड़ने वाले निरंतर प्रभाव से ही बालक का चरित्र बनता है, और पाठशाला के अन्तर्गत वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण एवम् कार्य-क्रम चरित्र-निर्माण में योग देता है। अतएव, चरित्र-निर्माण का व्यापक अर्थ लेकर उसके लिए शिक्षा का व्यापक कार्य-क्रम बनाना आवश्यक है। कोरा उपदेश उसी प्रकार व्यर्थ होगा जैसा कि अभी तक होता आया है।
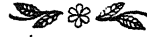
अध्याय ९

शिक्षा के अन्य उद्देश्य : संतुलित विकास तथा सम्पूर्ण जीवन

पिछले अध्यायों में हम शिक्षा के कुछ प्रमुख उद्देश्यों का विवेचन कर आए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्देश्य भी प्रतिपादित किए गए हैं जिन पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। इन उद्देश्यों का ऐतिहासिक महत्व उतना अधिक नहीं जितना कि पूर्ववर्णित उद्देश्यों का और न इनकी मान्यता ही अधिक है। वास्तव में इन उद्देश्यों का प्रतिपादन शिक्षा के उपयुक्त उद्देश्य निर्धारण की अनेक कठिनाइयों को दूर करने के हेतु हुआ है। वे शिक्षा का एक सर्वमान्य तथा सर्वाङ्गीण उद्देश्य निर्धारित करने के प्रयास के द्योतक हैं।

व्यक्ति का संतुलित विकास

शिक्षा में व्यक्ति के संतुलित विकास का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। प्रत्येक मनुष्य कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों को लेकर उत्पन्न होता है। शिक्षा का यह कर्त्तव्य है कि वह इन प्रवृत्तियों को विकसित तथा सुशिक्षित करे, और इन प्रवृत्तियों का विकास इस प्रकार संतुलित रूप में किया जाए कि वे सब एक दूसरे से सुसम्बद्ध होकर पुष्ट एवम् प्रभावशाली व्यक्तित्व के रूप में प्रगट हों। व्यक्ति का एक क्षेत्र में अत्यधिक विकसित एवम् उन्नत होना तथा अन्य क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अविकसित रहना उसके व्यक्तित्व के संतुलन को नष्ट कर देता है। परिणामस्वरूप उसका व्यक्तित्व दोषयुक्त एवम् प्रभावहीन हो जाता है।

आज के यांत्रिक युग में व्यक्ति के मानवीय गुणों तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति

व्यावसायिक दक्षता प्राप्त करने के निमित्त एक निश्चित तथा संकीर्ण दिशा में निरन्तर विकास करता है और जीवन की अन्य दिशाओं में उसका विकास सर्वथा कुंठित बना रहता है। उदाहरणार्थ, विज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर ज्ञान-वृद्धि करने वाले प्रायः सौन्दर्यानुभूति का विकास समुचित रूप से नहीं कर पाते। एकांगी विकास की इस प्रवृत्ति के विरोध में व्यक्तित्व के संतुलित विकास का उद्देश्य शिक्षा में प्रतिपादित किया गया है।

किन्तु, मनोवैज्ञानिक आधार होते हुए भी इस उद्देश्य का रूप बहुत-कुछ अस्पष्ट है। यदि व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों में संतुलन बनाए रखना है तो सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका अनुपात क्या होगा? एक प्रवृत्ति दूसरी के किस अनुपात में विकसित की जाएगी? इस प्रश्न का एक सर्वमान्य उत्तर नहीं हो सकता। भिन्न व्यक्ति भिन्न अनुपात का समर्थन करेंगे। दूसरे, यदि इस विषय में मतैक्य हो गया तो भी क्या सब व्यक्तियों में प्रवृत्तियों के विकास का एक ही अनुपात रखना उचित होगा? यदि सब व्यक्तियों की प्रवृत्तियों का संतुलन एक ही अनुपात से किया जाएगा तो संसार में व्यक्तिगत भिन्नता तनिक भी नहीं रह जाएगी; सब व्यक्ति एकरूप हो जाएँगे। यह स्पष्ट है कि सच्ची शिक्षा इस प्रकार के प्रयत्न में कोई सहयोग नहीं दे सकती।

व्यक्तित्व के सब अंगों का समान सीमा तक तथा समान अनुपात से विकास करना उचित भी नहीं कहा जा सकता। संसार में अपने कार्य क्षेत्र में वही व्यक्ति सर्वाधिक सफलता प्राप्त करते हैं जिनका व्यक्तित्व उस दिशा में विशेष झुका हुआ तथा अत्यधिक विकसित होता है। ऐसे व्यक्ति अन्य दिशाओं में तो अविकसित रहते हैं किन्तु अपने विशेष कार्य-क्षेत्र की सीमा में अधिकाधिक प्रगति करते रहते हैं। उनका ध्यान एवम् रुचि एक ही दिशा में केन्द्रित होते हैं और वे अपने कार्य में सब कुछ भूल कर जुट जाते हैं। जोश और लगन के साथ एक सीमित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों की कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। ऐसी दशा में सब व्यक्तियों के लिए विकास की एक ही सीमा तथा समानुपात-संतुलन निर्धारित करना व्यक्तिगत विशेषताओं पर कुठाराघात करना होगा। स्वयं प्रकृति भी व्यक्ति के सब गुणों को एक ही अनुपात में संयोजित नहीं करती, फिर शिक्षा ही उन्हें बलपूर्वक एक अनुपात में लाने का प्रयत्न कैसे कर सकती है? सब प्रवृत्तियों को समान रूप से विकसित करने पर लोग सामान्य जीवन निर्वाह करेंगे, उनमें अपनी विशेषताओं के प्रति असाधारण झुकाव नहीं रह जाएगा।

अतः निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि साधारणतया सभी व्यक्तियों में आन्तरिक सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित करना और उसे निरंतर बनाए रखना

अत्यावश्यक है क्योंकि इससे मनुष्य का व्यक्तित्व प्रभावशाली एवम् दृढ़ बनता है। किन्तु इस संतुलन का प्रयत्न सीमोल्लंघन करके अनेक दोषों को जन्म भी दे सकता है। व्यक्तित्व की विशेषताओं को नष्ट कर सब व्यक्तियों पर समानुपात-संतुलन बलपूर्वक ठूँसना अनुचित है। साथ ही, व्यक्ति में इस आंतरिक संतुलन तथा सामंजस्य के साथ-साथ एक ओर उसके अपने तथा दूसरी ओर वाह्य समाज अथवा अन्य व्यक्तियों के बीच संतुलन एवम् सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है। तभी व्यक्ति का स्वयं अपने तथा दूसरों से वास्तविक सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

सम्पूर्ण जीवन

कुछ शिक्षा-सैद्धान्तिक व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्णता को ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। इसके द्वारा अन्य उद्देश्यों की एकांगिता की कमी पूरी हो जाती है। सम्पूर्ण जीवन का तात्पर्य ही यह है कि व्यक्ति का विकास एक क्षेत्र में सीमित न होकर सर्वांगीण हो और उसे जीवन की पूर्णता की ओर ले जाए। इस आधार पर व्यक्ति को अच्छा मनुष्य बनने के लिए प्रेरित किया जाता है।

प्लेटो ने अपने नियमों में कहा है कि शिक्षा का प्रथम कर्त्तव्य सद्-व्यक्तियों का निर्माण करना है। प्लेटो के अनुसार सद्-व्यक्ति वही है जो उनकी जनतंत्रवादी व्यवस्था का सुयोग्य नागरिक हो। अतएव, यह कहा जा सकता है कि शिक्षा में न तो जड़ ज्ञान की महत्ता है और न कौशल की, न कला की और न विज्ञान की, आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति सफल जीवन-यापन की सर्वोच्च कला में सिद्ध हो। अनेक व्यक्ति अच्छे व्यवसायी, वैद्य, इंजीनियर आदि बनकर भी मनुष्यता की दृष्टि से अत्यंत गिरे हुए होते हैं। अतएव, प्रत्येक मनुष्य को मनुष्यता अथवा जीवन की पूर्णता के लिए शिक्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। स्पेन्सर तो और भी आगे बढ़ जाते हैं। उनका कथन है कि जीवन की सफलता के लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्य अच्छा पशु बने और सामाजिक समृद्धि के लिए मानव-समाज को अच्छे पशुओं का समाज बनाया जाए। स्पेन्सर ने सम्पूर्ण जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त विषयों का अध्ययन भी सुझाया है। उनके अनुसार प्रथम स्थान उन वैज्ञानिक विषयों का है जो जीवन को सुरक्षित कर सफल बनाने में सहायक होते हैं और भावनात्मक तथा कलात्मक विषयों का स्थान सब के बाद में है।

जीवन की पूर्णता को शिक्षा का उद्देश्य मान लेने में प्रथम कठिनाई हमारे सम्मुख यह आती है कि जीवन की पूर्णता किसमें है? उससे क्या तात्पर्य है? वास्तव

में प्रत्येक व्यक्ति के लिए पूर्ण जीवन की कल्पना उस दार्शनिक विचारधारा पर आधारित होती है जो उसे मान्य है, और इस प्रकार जीवन की पूर्णता के विषय में मत-वैभिन्न्य संभव है। भिन्न व्यक्ति भिन्न बातों में जीवन की पूर्णता पाते हैं। स्वयं प्लेटो तथा स्पेंसर में इस विषय में मतभेद है। उमर ख़य्याम ने जीवन की पूर्णता जिन वस्तुओं में परिलक्षित की वह उनका काव्य पूर्णतया स्पष्ट करता है।

इस प्रकार जीवन की पूर्णता के विषय में एकमत का अभाव हमारी सब से बड़ी कठिनाई है। और यदि किसी प्रकार मतैक्य संभव भी हो तो भी हमारी समस्या हल नहीं होती। भिन्न व्यक्तियों पर जीवन की पूर्णता का समान उद्देश्य बलपूर्वक थोपना अवैज्ञानिक तथा अनुचित होगा। जीवन की पूर्णता का अपना व्यक्तिगत आदर्श लेकर ही प्रत्येक व्यक्ति उससे प्रेरणा प्राप्त करता है। अपनी रुचि एवम् लक्ष्य को स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न तभी संभव होगा जब कि व्यक्ति पर बाह्य आदर्शों का भार न लादा जाए।

जीवन की पूर्णता का उद्देश्य उतना ही असीमित तथा अमूर्त है जितना कि शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य निश्चित तथा मूर्त। अतः उद्देश्य की अनिश्चितता तथा अर्थभिन्नता शिक्षक के लिए अनेक कठिनाइयाँ पैदा कर देती है। यह भी संभव है कि व्यक्ति ऊपर से दिखावे के लिए तो जीवन की पूर्णता का राग गाए किन्तु उस पूर्णता का अर्थ वास्तव में कुछ भी न हो। इन कारणों से जीवन की पूर्णता का उद्देश्य उन कठिनाइयों को दूर नहीं कर पाता जिनके लिए उसका सुझाव दिया गया है। तभी, कुछ लोग उसे केवल एक शब्दजाल मानते हैं, जो आकर्षक तो है किन्तु मृग-मरीचिका के समान भ्रमपूर्ण तथा अप्राप्य भी। वास्तविक जीवन में उसका व्यावहारिक उपयोग क्या है, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।
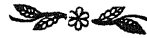
अध्याय १०

उद्देश्य निरूपण के सिद्धान्त

शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों का सम्यक् अध्ययन करने में हमने यथास्थान कुछ ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जिनका ध्यान रखना आवश्यक है। इस अध्ययन द्वारा कुछ ऐसे निष्कर्ष भी स्वतः निकल आते हैं जिन पर एक स्थान पर विचार कर लेना उचित होगा। विभिन्न प्रचलित उद्देश्यों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक में कुछ ऐसे दोष तथा कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण केवल उसी एक उद्देश्य को हम शिक्षा में पूर्णतया स्वीकृत नहीं कर सकते। फिर, शिक्षा का आदर्श उद्देश्य क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर हम अगले अध्याय में देने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु उसके पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक है कि आदर्श उद्देश्य के क्या गुण होने चाहिए और उनके निर्धारण में किन सिद्धान्तों का पालन किया जाए।

हम पहले अध्याय में यह निश्चित कर चुके हैं कि शिक्षा सम्पूर्ण जीवन को समुन्नत बनाती है। कोई भी उद्देश्य जो इस उन्नयन को केवल एक सीमित क्षेत्र में ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति न्याय नहीं कर सकता। एक सीमित उद्देश्य चाहे कितना ही उच्च एवम् महान् क्यों न हो व्यक्ति का एकांगी विकास ही कर पाता है। ऐसा उद्देश्य शिक्षा के व्यापक अर्थ के अनुसार अपूर्ण ही कहा जाएगा। व्यक्ति को केवल कुछ निश्चित दिशाओं में विकसित करना तथा अन्य दिशाओं में उसका विकास कुंठित रहने देना एक प्रकार से उसकी आंशिक हत्या है। अतः शिक्षा का उद्देश्य ऐसा होना चाहिये जिसमें व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के आदर्श पर पूर्ण ध्यान रखा गया हो और जो मनुष्य-जीवन के किसी भी अंश की उपेक्षा न करे। इसीलिए शिक्षा के उद्देश्य का एक निश्चित नारा उसके व्यापक

दृष्टिकोण के सर्वथा विरुद्ध जाता है। प्रत्येक उद्देश्य में कुछ न कुछ न्यूनता तथा कठिनाइयाँ हैं, किन्तु सब को सम्मिलित रूप में एक साथ लेने पर यह दोष तथा प्रत्येक की संकीर्णता बहुत कुछ दूर हो सकती है।

शिक्षा का एक ही उद्देश्य सब व्यक्तियों पर समान रूप से लागू करना भी अनुचित है। यह अवश्य है कि संसार में व्यक्तिगत विभिन्नता के साथ ही मानव-एकता की उपस्थिति होने के कारण शिक्षा का उद्देश्य एक सीमा तक सबके लिए समान हो सकता है, किन्तु उसमें इतनी प्रत्यास्थता तथा गुंजाइश भी होनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी निजी आवश्यकताओं एवम् गुणों के अनुसार उस उद्देश्य का विस्तार किया जा सके। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का उद्देश्य परिदृढ़ नहीं होना चाहिए। व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुसार उसका संपरिवर्तन जितनी सरलतापूर्वक सम्भव हो उतना ही अच्छा है। व्यक्तियों की निजी आवश्यकताओं तथा सीमाओं को जाने-समझे बिना उन सब पर शिक्षा का समान उद्देश्य थोप देना शैक्षिक तानाशाही का ही एक रूप है। शिक्षा के आदर्श उद्देश्य में आन्तरिक एकता होते हुये भी अनेकता तथा व्यक्तिगत विशेषताओं को पूर्णतया विकसित करने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि शिक्षा के उद्देश्य का रूप, अर्थ तथा विस्तार निश्चित रूप से स्पष्ट निर्धारित कर लिया जाये। उद्देश्य में अस्पष्टता रहने से मत-वैभिन्य तथा अर्थ-वैभिन्य की बहुत आशंका रहती है। चरित्र-निर्माण तथा सांस्कृतिक उन्नयन के उद्देश्यों का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनका भिन्न अर्थ लगाता है और इसीलिए उद्देश्य-पालन में अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। एक बढ़ई अथवा कुम्हार भी पहले से अपने मन में निश्चित रूप से जानता है कि उसकी कुर्सी अथवा घड़े का क्या रूप, आकार अथवा रंग होगा, और तभी वह अपने कार्य में हाथ डालता है। यदि हमारा उद्देश्य प्रारंभ से ही अस्पष्ट एवम् अनिश्चित है तो हमें अस्पष्ट एवम् अनिश्चित परिणामों के लिए भी तैयार रहना चाहिए। अतः शिक्षा का चरम उद्देश्य निर्धारित करने के पूर्व हमें इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि हम किस प्रकार के शिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा करते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य उच्च एवम् महान् होना भी आवश्यक है। जिस प्रकार पर्वत का उच्च शिखर तथा सागर की अतल गहराई हमें बरबस आकर्षित कर लेती है उसी प्रकार शिक्षा का उद्देश्य भी इतना महान् तथा उच्च होना चाहिए कि वह प्रत्येक व्यक्ति—शिक्षक तथा शिक्षार्थी—को अपनी ओर आकर्षित कर सके। साधारण तथा

सहज-प्राप्य उद्देश्य न तो हमें आकर्षित करते हैं, न उन्हें प्राप्त करने में उत्साह बढ़ता है, और न प्राप्त कर लेने पर विशेष संतुष्टि ही होती है। परन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम कोई ऐसा असंभव अथवा असाध्य उद्देश्य निर्धारित करलें जो कभी प्राप्त ही न किया जा सके। इससे असफलता, दुःख तथा निराशा ही मिलेगी, व्यक्ति का आत्मविश्वास घट जाएगा, और वह उसे असंभव जानकर उसकी प्राप्ति की ओर प्रेरित ही न होगा। उद्देश्य वास्तव में उच्च तथा महान् ही नहीं अपितु प्राप्य भी होना चाहिये। एक प्रकार से मार्ग के बीच थोड़ी-थोड़ी दूर पर विश्रामस्थल के समान उद्देश्य के अनेक स्तर होने चाहिए जो एक के बाद एक उच्चतर होते जाएँ, जिसमें व्यक्ति को प्रथम सीढ़ी चढ़ लेने पर प्राप्त परिणामों द्वारा आत्म-संतुष्टि के साथ ही आगे चढ़ने की भी बलवती प्रेरणा मिले। ऐसा होने पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एवम् सामर्थ्य के अनुसार अपना चरम लक्ष्य सरलता पूर्वक निर्धारित कर सकेगा।

शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करने में देश, संस्कृति, काल तथा समाज की दशा का ध्यान रखना आवश्यक है। इन्हीं प्रभावों के फलस्वरूप प्रत्येक देश अथवा जाति में शिक्षा का उद्देश्य भिन्न हो जाता है। जीवन के आदर्श, व्यक्तियों की दार्शनिक विचारधारा, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक आदि परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही शिक्षा का उपयुक्त उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है। शिक्षा तथा जीवन में घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण उसके उद्देश्य में राष्ट्रीय जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब होना स्वाभाविक है। यदि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के वास्तविक जीवन पर आधारित नहीं तो वह सर्वथा स्वप्नवत्, और जीवन की समस्याओं को हल करने में असफल रहता है। स्वयं भारत में शिक्षा के उद्देश्य जीवन की वास्तविकता को नहीं छू पाते और इसीलिए भारतीय शिक्षा जीवन से असम्बद्ध हो रही है। यह अवश्य है कि मानव एकता के कारण समस्त मनुष्य जाति के लिए कुछ अंशों में समान शैक्षिक उद्देश्य की व्यवस्था करनी होगी, पर राष्ट्र एवम् जाति-भेद के अनुसार उसके संपरिवर्त्तन की गुंजाइश रखना भी अत्यंत आवश्यक है। इन्हीं कारणों से भारत तथा अमरीका अथवा रूस और इंग्लैंड में शिक्षा के उद्देश्य सर्वथा समान नहीं हो सकते।

शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करने में शिक्षा-शास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षकों का मत ही प्रधानतया मान्य होना चाहिए। शिक्षा के उद्देश्य बालक की नैसर्गिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर शिक्षा-विज्ञान के आधार पर ही निर्धारित

किए जा सकते हैं। अतएव, शिक्षा-शास्त्री तथा बाल-मनोविज्ञानवेत्ता ही उन्हें उचित रूप से वैज्ञानिक आधार पर बालकों के हित का ध्यान रखते हुए प्रतिपादित कर सकते हैं। अपने-अपने राजनीतिक वितंडावाद में उलझे हुए शासकवर्ग, बालक की मूल प्रवृत्तियों को उपेक्षित तथा उन पर कुठाराघात करने वाले जड़ दार्शनिक, तथा धन-संचय को ही जीवन का मूलाधार मानने वाले व्यवसायीगण आदि शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करने लगेंगे तो वे बालक को केवल मानसिक दास ही नहीं बनाएँगे अपितु उनका अधिकाधिक शोषण भी करेंगे। यह अवश्य है कि शिक्षा का सम्बन्ध जीवन के साथ होने के कारण राजनीतिज्ञ, शासकवर्ग, दार्शनिक, अभिभावकगण आदि सभी का मत एवम् सहयोग उसके उद्देश्य-निर्धारण में अपेक्षित है, किन्तु यह भी निश्चित है कि इस विषय में प्रमुख सम्मति शिक्षक तथा शिक्षा-शास्त्री की ही होनी चाहिए। शिक्षक का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, वह तो केवल बालक की उन्नति एवम् सुख-समृद्धि का अभिलाषी है ; अतः वही बालक के समस्त हितों की रक्षा कर सकता है। शिक्षा में उन्नत अन्य देश शिक्षक की इस महत्ता को अनुभव करके शिक्षा-योजना के प्रत्येक चरण में उसका सहयोग अत्यावश्यक मानने लगे हैं। हमारे देश में अभी पुरानी प्रवृत्ति ही अपनाई जा रही है। शिक्षा के उद्देश्य के विषय में हमारे यहाँ राह चलते व्यक्ति से लेकर उच्च शासकवर्ग तक की सम्मति ली जाती है परन्तु शिक्षा-शास्त्रियों की नहीं।

शिक्षा के उद्देश्य-पालन द्वारा व्यक्ति तथा समाज में सामंजस्य स्थापित रखना भी अत्यंत आवश्यक है। जिस उद्देश्य से दोनों के बीच संघर्ष होने की आशंका हो उसे हम स्वीकृत नहीं कर सकते। व्यक्ति बड़ा है या समाज ? यह प्रश्न बहुत पुराना है और अनेक प्रकार के वाद-विवाद का कारण बन चुका है। यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर एकदम इस ओर अथवा उस ओर नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग है, वह समाज के विरुद्ध नहीं जा सकता, किन्तु समाज भी अनेक व्यक्तियों का समूह है और वह व्यक्ति की अवहेलना नहीं कर सकता। अतः सर्वश्रेष्ठ दृष्टिकोण यह है कि व्यक्ति समाज को दृढ़ बनाए और समाज व्यक्ति को भरसक स्वतंत्रता देकर उसे अपना पूर्ण विकास करने का अवसर प्रदान करे। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य कुछ इस प्रकार निर्धारित करना होगा कि व्यक्ति में अपने गुणों के विकास के साथ-साथ सामाजिकता तथा परमार्थ की भावना भी जाग्रत हो। व्यक्ति को शिक्षा द्वारा केवल अकेले ही आगे नहीं बढ़ना है बल्कि उन सभी को साथ लेकर चलना है जो जीवन के पथ में उसके सहयात्री हैं।

शिक्षा को मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए। यह आवश्यकताएँ एकांगी न होकर विविध प्रकार की होती हैं। अतएव, शिक्षा का एक सीमित उद्देश्य उन सब की पूर्ति नहीं कर सकता। इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षा के समस्त मूल्यवान उद्देश्यों का एक सामूहिक रूप लेकर उसे मान्यता दी जाये। पिछले अध्यायों में हम जिन उद्देश्यों पर विचार कर आए हैं वे सभी अपना-अपना महत्व रखते हैं और सभी को इस सामूहिक रूप में सम्मिलित करना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति के सामूहिक तथा सर्वाङ्गीण उन्नति को पोषित करता है। मनुष्य की आवश्यकताएँ व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार की होती हैं। व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अन्तर्गत उसकी शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ आ जाती हैं। इन विभिन्न आवश्यकताओं तथा शिक्षा के उद्देश्य-निर्धारण के विषय में यहाँ थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा।

व्यक्ति की सर्वप्रथम शारीरिक आवश्यकता अच्छे स्वास्थ्य की है। शरीर से नीरोग एवम् स्वस्थ मनुष्य ही संसार में दीर्घजीवी होकर कार्य कर सकता है। शक्ति-संचय तथा बलिष्ठता प्रत्येक के लिए आवश्यक है, और उसके लिए स्वच्छता तथा स्वास्थ्य-नियमों के पालन की विशेष महत्ता है। शैशवावस्था से ही इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। पाठशालाओं में खेल-कूद, स्वास्थ्य-शिक्षा आदि की व्यवस्था इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है। शरीर-विकास के उद्देश्य के अन्तर्गत हम इस विषय पर पूर्ण विचार कर चुके हैं। किन्तु, शारीरिक विकास का उद्देश्य व्यक्ति की एक अन्य महत्त्वपूर्ण शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता, और वह है भोजन-वस्त्र की समस्या। स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट शरीर के लिए पौष्टिक भोजन तथा अन्य सुविधाओं की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए शिक्षा में जीविकार्जन का उद्देश्य आवश्यक है। अतएव हमें शारीरिक विकास तथा व्यावसायिक उन्नयन के दोनों उद्देश्य शिक्षा में साथ-साथ स्वीकृत करने चाहिए।

व्यक्ति की मानसिक उन्नति का ध्यान रखना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कृत्य है। यह भी स्पष्ट है कि कोरा ज्ञानार्जन हमारी शिक्षा का लक्ष्य नहीं हो सकता। मानसिक विकास का प्रवैगिक उद्देश्य ही शिक्षा में मान्य हो सकता है। व्यक्ति का भावनात्मक विकास तथा प्रशिक्षण भी अत्यंत आवश्यक है। उचित भावना-प्रदर्शन तथा भावना-निग्रह की शिक्षा अभी तक गौण समझी जाती रही है, किन्तु बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन से अब उसका महत्व धीरे-धीरे स्थापित होता जा रहा है। इसी निमित्त पाठशालाओं में संगीत, कला, नृत्य, नाटक आदि को अब अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण

स्थान मिलने लगा है। भावनात्मक प्रशिक्षण की इस आवश्यकता की पूर्ति शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य द्वारा होती है। इस उद्देश्य का अध्ययन भी हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। हमारे आदर्श उद्देश्य के मध्य सांस्कृतिक उन्नयन के ध्येय को भी महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। और अंत में व्यक्ति के चारित्रिक विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त उद्देश्यों की मान्यता भी हमें स्वीकार करनी होगी। अपने आदर्श उद्देश्य में इन उद्देश्यों का समावेश हमारे लिए आवश्यक है।

व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताएँ उन चार विभिन्न सामाजिक इकाइयों के आधार पर निर्मित होती हैं जिनका उसे अनिवार्य रूप से सदस्य बनना पड़ता है। शिक्षा का आदर्श उद्देश्य व्यक्ति की इन आवश्यकताओं की पूर्ति के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। बालक सर्वप्रथम जिस सामाजिक इकाई का सदस्य बनता है वह है उसका परिवार। जन्म लेने के बाद उसकी प्रथम आवश्यकता अपने परिवार का सफल सदस्य बनने की है। प्रायः उसकी इस आवश्यकता की उपेक्षा की जाती है और उसकी पूर्ति के हेतु शिक्षा में कोई व्यवस्था नहीं होती। परिणामस्वरूप बालक तथा परिवार के अन्य सदस्यों के बीच एक प्रकार का संघर्ष चलता रहता है जिसकी पराकाष्ठा बालक के घर छोड़कर कहीं भाग जाने में होती है, और फिर परिवार के सदस्य उसे वापस घर बुलाने के लिए जो प्रयत्न करते हैं उनका अनुमान हम पत्रों में प्रकाशित इस प्रकार की सूचनाओं से सहज ही लगा सकते हैं। वास्तव में प्रयत्न इस बात का होना चाहिए कि इस संघर्ष का प्रारंभ ही न हो। अतएव, बालक को परिवार की सफल सदस्यता के निमित्त प्रारंभ से ही शिक्षित करना आवश्यक है।

समाज तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त उद्देश्यों का विवेचन हम यथास्थान कर चुके हैं। शिक्षा में राष्ट्रीय दृष्टिकोण की आवश्यकता पर आगे विचार किया जाएगा। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति को राष्ट्र का सच्चा नागरिक तथा अपने समाज का सफल सदस्य बनाना अत्यावश्यक है। इन दोनों से भी वृहत्तर समाज जिसका सदस्य व्यक्ति मनुष्यत्त्व के नाते स्वतः बन जाता है सम्पूर्ण मानव समाज है। आज मानव-एकता की भावनाएँ पुनः जाग्रत हो उठी हैं और शिक्षा द्वारा बालकों को विश्व-बंधुत्व का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अतएव, शिक्षा के उद्देश्य के अन्तर्गत इस क्षेत्र में व्यक्ति की आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। शिक्षा के इस अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर हम आगे चलकर और भी विचार करेंगे।

व्यक्ति की उपर्युक्त समस्त आवश्यकताओं को हम संक्षेप में निम्न ढंग से अंकित कर सकते हैं :—
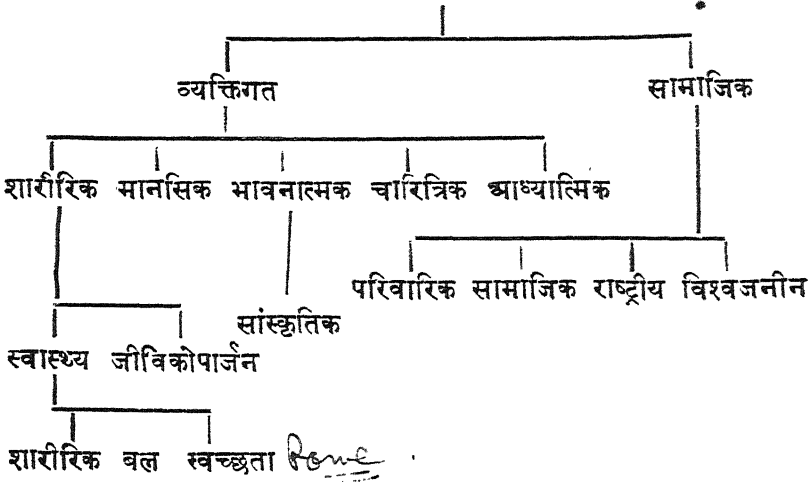
इस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें शिक्षा के आदर्श उद्देश्य में उन सभी उद्देश्यों को सम्मिलित करना होगा जिनका विवेचन हम पिछले अध्यायों में कर आए हैं। तभी शिक्षा अपना महान् कर्त्तव्य पूरा करने में समर्थ होगी।

अध्याय ११
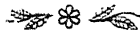
भारतीय शिक्षा सिद्धान्त के मूलाधार

हम पिछले अध्यायों में पूर्वकाल तथा आज की शिक्षा के विभिन्न प्रचलित उद्देश्यों पर पृथक-पृथक रूप में विचार कर आए हैं। किसी भी देश के लिए आज की शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करने के पूर्व उस देश के शैक्षिक सिद्धान्तों की परम्परा तथा उसके मूलाधार का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। प्रत्येक देश के राष्ट्रीय जीवन, दर्शन तथा सामाजिक अनुभूति के आधार पर कुछ ऐसे मूल्यों का प्रतिपादन होता है जो वहाँ के नागरिकों के जीवन तथा कार्यों को निरंतर अनुप्राणित करते रहते हैं। इन मूल्यों तथा आदर्शों को हम उस राष्ट्र के जीवन का मूलाधार मान सकते हैं। राष्ट्रीय जीवन की एक प्रमुख क्रिया होने के नाते शिक्षा भी इन्हीं मान्यताओं के मूलाधार पर खड़ी होती तथा पनपती है। और वास्तव में, राष्ट्रीय मूल्यों एवम् मान्यताओं की इसी परम्परा के आधार पर शिक्षा के नवीन तथा संपरिवर्तित उद्देश्यों की स्थापना समुचित रूप में हो सकती है। देश की मूल संस्कृति तथा जीवन की वास्तविकता से विलग होकर शिक्षा के उद्देश्य न तो सजीव बन सकते हैं और न देश-वासियों को वे स्वीकार ही हो सकते हैं। इन्हीं विभिन्न परम्पराओं तथा अलग-अलग नवीन परिस्थितियों के कारण ही तो प्रत्येक देश में शिक्षा के उद्देश्य भिन्न होते हैं। रूसी शिक्षा का उद्देश्य दूसरा है, अमरीकी शिक्षा का उद्देश्य दूसरा। फ्रांस में जो शिक्षा का उद्देश्य है, वह जर्मनी में नहीं।

यहाँ हमें यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है कि केवल परम्परागत मूल्यों के आधार पर ही देश के शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करना भी अनुचित होगा। यह कौन कहेगा कि सभी पुरातन परम्पराओं को आज की परिवर्तित परिस्थिति में भी जैसा का तैसा अवश्य ही स्वीकार कर लिया जाए? शिक्षा आज के जीवन की समस्याओं का

भी समाधान करती है। अतएव, समस्त परिस्थिति के उचित मूल्यांकन की दृष्टि से आवश्यक है कि हम अपनी संस्कृति द्वारा पोषित शिक्षा-सिद्धान्त के मूलाधार पर दृष्टिपात करें, और सम्यक् विवेचन द्वारा यह निश्चित करने का प्रयत्न करें कि वे आज की परिस्थिति में शिक्षा-उद्देश्यों के निर्धारण में हमारी कहाँ तक सहायता कर सकते हैं।

ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रत्येक देश के शिक्षा सिद्धान्त वहाँ के राष्ट्रीय जीवन से उद्भूत तथा उसके अभिन्न अंग स्वरूप होते हैं। अपने सतत अनुभव से जीवन की गहराई में पैठकर व्यक्ति अथवा जाति इन सिद्धान्तों को समुद्र-मंथन के फलस्वरूप प्राप्त अमृत की भाँति जुटाती चलती है। हमारे देश का यह प्रयत्न तथा अनुभव तो केवल कुछ वर्षों का न होकर सहस्रों वर्षों का है। अतएव, युग-युग से पोषित हमारे इन सिद्धान्तों में कुछ भी तथ्य नहीं और उन्हें सर्वथा त्याज्य समझा जाए—यह कहना भी उचित नहीं होगा।

भारतीय जीवन प्रमुख रूप में जिस विशेष आदर्श से आमूल प्रभावित है वह है अध्यात्मवाद। वस्तुतः भारतीय जीवन का प्रत्येक अंग किसी न किसी रूप में आध्यात्मिकता पर अवश्य ही आधारित रहा है। परन्तु यह कहना भी ग़लत होगा कि भारतीय संस्कृति में कोरा अध्यात्मवाद ही प्रमुख है। सत्य तो यह है कि भारतीय संस्कृति की विशेषता अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद के समन्वय में रही है। अनेक काल और विभिन्न मत-मतांतर के बीच भी हमारी यह मूलभूत विचारधारा एक ही बनी रही कि प्रकृति के पीछे जो परमात्म तत्त्व है वही मुख्य है, हमें उसी को प्राप्त करना है। परन्तु प्रकृति का स्थान भी आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह प्रकृति, शरीर अथवा संसार, ही उस परमतत्त्व की प्राप्ति का साधन है। इस दृष्टि से हमें संसार में सुखपूर्वक रहना है, सांसारिक वस्तुओं तथा भौतिक सुखों को प्राप्त करना है, परन्तु उस भौतिकता का दास बन कर नहीं, उसके ऊपर शासन करने वाले स्वामी की तरह। श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के शब्दों में "आर्य-संस्कृति यथार्थवादी संस्कृति है।......इसका मौलिक विचार यह है कि संसार तो भोगने के लिए ही रचा गया है, इसे भोगो, परन्तु भोगते-भोगते इसमें इतने लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुध-बुध ही भुला दो, अपने आप को इसी में खो दो। संसार को भोगो, परन्तु त्याग-पूर्वक, संसार में रहो परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, इसमें रहते हुए भी इसमें न रहते के समान, पानी में कमलदल की तरह, घी में पानी की बूँद की तरह।... 'भोगना' और 'त्यागना' इन दोनों सत्यों का सम्मिश्रण संसार की और किसी संस्कृति में नहीं है, सिर्फ आर्य संस्कृति में है।"

इस समन्वय की स्पष्ट छाप हमें भारतीय शिक्षा की परम्परा में भी दिखाई पड़ती है। भारतीय शिक्षा व्यक्ति को जहाँ जीविकार्जन तथा स्वस्थ सुखोपभोग के लिए तैयार करती रही वहाँ केवल इसी को शिक्षा का उद्देश्य न मान कर उसके द्वारा व्यक्ति के आध्यात्मिक उन्नयन पर विशेष ध्यान दिया गया। इसी कारण जहाँ कोरे भौतिकवाद पर आधारित अनेक संस्कृतियाँ उठीं और गिरीं वहाँ अध्यात्मवाद को शिक्षा द्वारा प्रसारित कर भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही। यह हो सकता है कि भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का उचित संतुलन कभी-कभी बिगड़ गया हो अथवा परिस्थिति वश किसी काल में एक पर अधिक ध्यान दिया गया और कभी दूसरे पर, और इस अनुपात का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा, परन्तु यह स्पष्ट है कि कोरे भौतिकवाद को ही शिक्षा का आधार मानने का हमारा दृष्टिकोण कभी नहीं रहा। अतएव, हमें आज की परिवर्तित परिस्थिति में भी शिक्षा के क्षेत्र में अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के इस मूलभूत सिद्धान्त का समुचित ध्यान रखना आवश्यक है।

समन्वय की इस विचारधारा का स्पष्टीकरण शिक्षा में जीवन को समग्र दृष्टि से देखने तथा उन्नत करने के रूप में हुआ। प्रारम्भ से ही भारतीय शिक्षाविदों तथा गुरुओं ने इस बात का प्रयत्न किया है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो। उन्होंने कोरे ज्ञानार्जन को उपहासास्पद माना, और शारीरिक बल, स्वास्थ्य, नैतिक तथा चारित्रिक उन्नयन, और मानसिक विकास पर यथोचित बल दिया। मनुष्य के व्यक्तित्त्व के सभी अंगों के सुसम्बद्ध विकास का प्रयत्न ही वास्तविक शिक्षा का कृत्य माना गया। जीवन के विभिन्न अंगों को अलग-अलग टुकड़ों में बाँट कर उनका एक दूसरे से स्वतंत्र विकास भारतीय शिक्षा के मूल सिद्धान्त के विपरीत है। यद्यपि शिक्षा का उद्देश्य प्रधानतया आध्यात्मिक रहा तथापि अन्य उद्देश्यों को उपेक्षित न करके उन्हें परम् उद्देश्य की प्राप्ति में आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण माना गया। इस प्रकार पारलौकिक के साथ-साथ लौकिक क्षेत्र में भी मनुष्य की सफलता पर समुचित ध्यान दिया गया और जीवन के एकांगी विकास को अनुचित समझा गया। इस प्रकार परम् उद्देश्य के सूत्र में बद्ध होकर अन्य गौण परन्तु आवश्यक उद्देश्य भी जीवन के संतुलित विकास में सार्थक बन गए।

व्यक्तित्त्व के विभिन्न अंगों में एकता स्थापित करने के साथ ही साथ मनुष्य जीवन को एक और रूप में भी समग्र दृष्टि से देखा गया, और वह है भारतीय जीवन में व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म का रूप व्यक्तिगत है और प्रत्येक व्यक्ति अपने चरम् लक्ष्य की प्राप्ति में व्यक्तिगत रूप से क्रियारत होता है। इस प्रकार समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा

मत-भिन्नता को विशेष रूप से स्वीकार किया गया। समाज व्यक्ति की उद्देश्य पूर्ति में बाधक नहीं होता। वस्तुतः भारतीय समाज में व्यक्तिगत भिन्नता तथा विशेषता के प्रति इतनी अधिक सहिष्णुता रही है कि उसे विविधता में एकता का बड़ा ही अच्छा उदाहरण माना जा सकता है। दूसरी ओर, समाज को हानि पहुँचाने वाली व्यक्तिगत उच्छृङ्खलता को भी कभी क्षमा नहीं किया गया। इस बात के अनेक उदाहरण हमारे इतिहास में मिलते हैं जहाँ इस प्रकार की व्यक्तिगत उच्छृङ्खलता को बड़ी निरंकुशता के साथ दबाया गया। इससे सामाजिक संगठन में दृढ़ता बनी रही। अन्यथा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आँधी में सामाजिक ढांचा बड़ी आसानी से बिखर सकता था। शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यों के इस समन्वय को निभाया गया और इसी के प्रभाव से भारतीय संस्कृति देश के कोने-कोने में अनेक रूप होकर भी मूल रूप में एक ही बनी रही। व्यक्ति शिक्षा द्वारा अपना व्यक्तिगत विकास करके भी समाज का अभिन्न अंग बना रहा, और उसके व्यक्तिगत गुणों से सम्पूर्ण समाज ने लाभ उठाया। यही नहीं, सामाजिक कल्याण की यह भावना केवल जाति और देश तक ही सीमित न रह कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में समस्त प्राणि-समाज पर फैल गई।

जीवन में अध्यात्मवाद की प्रमुखता के फलस्वरूप भारतीय शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का स्थान आवश्यक हो गया। धार्मिकता द्वारा मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य प्राप्त होता है और उसी ओर शिक्षा में भी प्रयत्न किया गया। 'मुक्ति मनुष्य के अधिकार में है, किन्तु वह इसके विषय में सदैव सचेत नहीं रहता है। बुद्धिमान और मूर्ख व्यक्ति में यही अंतर है कि बुद्धिमान मुक्ति के विषय में सचेत रहता है जबकि मूर्ख इसे जानता भी नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य है मनुष्य को मुक्ति के सम्बन्ध में सचेत करना और बताना कि उसे अपनी शक्तियों का उपयोग मुक्ति के लिए, परम् शक्ति के साक्षात्कार के लिए करना चाहिए। अतः शिक्षा मुक्ति प्राप्त करने का सचेतन क्रम है।' साथ ही, धर्म का तात्पर्य जीवन के अन्य कर्त्तव्यों से भी है। अपने विशद अर्थ में धर्म प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य करने के लिए प्रेरित करता है। अतएव शिक्षा द्वारा बालक को प्रारम्भ से ही विभिन्न अवसरों पर अपने कर्त्तव्य में दृढ़ रहने के लिए तैयार करना भारतीय संस्कृति का एक मौलिक दृष्टिकोण बन जाता है। इसी कारण भारतीय जीवन में अधिकार-प्राप्ति की अपेक्षा कर्त्तव्य पालन को अधिक महत्त्व दिया गया है। कर्त्तव्य करते रहने से अधिकार तो अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। पुत्र-पिता, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, व्यक्ति-समाज आदि के परस्पर सम्बन्धों को प्रत्येक के कर्त्तव्य के अन्तर्गत लाकर उन्हें सुखद तथा दृढ़ बना दिया गया है। इसी

धर्म का पाठ बालक अपनी शिक्षा के रूप में पढ़ते चलते हैं। धर्म के इन सभी विशद अर्थों और शिक्षा में उसकी उपयोगिता के विषय पर हम आगे चलकर विचार करेंगे, परन्तु यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि जिस प्रकार भारतीय संस्कृति में भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में संतुलन स्थापित किया गया है उसी प्रकार शिक्षा में धर्म की प्रतिष्ठा करके सांसारिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्यों के प्रति व्यक्ति को सजग और सचेष्ट बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार की धार्मिक शिक्षा संकुचित मत-मतांतरों की शिक्षा न होकर सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा बन जाती है। वह मनुष्य को पशु-स्तर से उठाकर दैवी स्तर पर ले जाने का प्रयत्न करती है।

भारतीय शिक्षा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता ब्रह्मचर्य की है। आश्रम धर्म के अनुसार भारतीय जीवन में शिक्षा की न्यूनतम अवधि पच्चीस वर्ष की आयु तक है। यद्यपि पच्चीस वर्ष के उपरान्त भी शिक्षा तथा अनुभव-प्राप्ति की व्यवस्था रही है तथापि जीवन के इस प्रारम्भिक काल को ब्रह्मचर्य पालन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य वास्तव में ध्यान की एकाग्रता से है, जिसे हम तपस्या का जीवन कह सकते हैं। अर्थात्, पच्चीस वर्ष की अवस्था तक व्यक्ति को एकाग्रचित्त होकर, सब ओर से अपना ध्यान समेट कर, केवल विद्याध्ययन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। गृहस्थ जीवन में ध्यान बँटने लगता है, परन्तु 'यदि कोई व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता है तो कर सकता है। किन्तु, यह तभी संभव है जब उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो, अपने मस्तिष्क तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण हो और वह सांसारिक दोषों से रहित पूर्ण योगी हो।' आज के विद्यार्थी के जीवन में सिनेमा, राजनीतिक आन्दोलन, अनेक प्रकार के मनोरंजक कार्यक्रम अध्ययन की एकाग्रता में जिस प्रकार बाधक हो रहे हैं वह सभी जानते हैं। प्रलोभनों को दूर रखकर 'ब्रह्मचारी तप से अपने जीवन की साधना करता है'। इस प्रकार अपने विशद अर्थ में ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त शिक्षा के लिए मौलिक महत्त्व रखता है। तभी तो ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत सात्विक भोजन, पवित्र विचार, सादा जीवन, सद्व्यवहार आदि अनेक बातें आ जाती हैं। यह नियम स्त्री-पुरुष सभी पर समान रूप से लागू था।

सबको अपनी रुचि तथा क्षमता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलना भी भारतीय शिक्षा का एक आवश्यक अंग माना गया है। व्यक्तियों के कर्मानुसार वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करके समाज में भिन्न वर्ग के व्यक्तियों के लिए आवश्यक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। कालान्तर में भारतीय समाज को संकुचित तथा परिदृढ़ जाति व्यवस्था ने कस लिया और जाति का निर्धारण कर्म से न होकर

जन्म से होने लगा। इससे शिक्षा की विशदता तथा व्यापकता नष्ट हो गई। और, आज भी हम अपने समाज को जाति-भेद की इस संकीर्णता में फँसा पाते हैं। परन्तु यदि भारतीय संस्कृति के मूल रूप पर ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि उसमें शिक्षा हेतु व्यक्ति-व्यक्ति, स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन में कभी भेद नहीं किया गया, और प्राचीन काल के अनेक उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि वर्ण व्यवस्था मूल रूप में आर्थिक व्यवस्था न होकर प्रत्येक को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा तथा कार्य मिलने की व्यवस्था थी। आज भी हम व्यक्ति को उसकी रुचि तथा नैसर्गिक प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने तथा जीवन में काम करने का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। इसी प्रवृत्ति, रुचि तथा प्राकृतिक क्षमता के आधार पर अध्ययनशील, योद्धा, लेन-देन, तथा सेवा करने वाले व्यक्तियों को चार भिन्न वर्णों में बाँट दिया गया। इससे कार्य-विभाजन द्वारा प्रत्येक का कर्त्तव्य ज्ञान स्पष्ट हो गया, विभिन्न कार्यों का उत्तरदायित्व अलग-अलग वर्ग ने सँभाल लिया, कोई वर्ग दूसरे के कार्य करके उसकी रोज़ी हड़पने से निषिद्ध किया गया, और प्रत्येक वर्ग के कार्य के लिए उपयुक्त शिक्षा का प्रबन्ध सुनिश्चित हो गया। श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार "इस प्रकार व्यक्ति रूप से जब सब लोग अपनी प्रवृत्तियों को नियमित रखेंगे, समष्टि रूप से राज्य उनके नियमन में सहायक होगा, तब वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त क्रियात्मक रूप धारण करेगा। जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य हो, जिस कार्य को कर सकने की ओर उसकी प्रवृत्ति हो, उसके लिए वैसी वृत्ति देना, वैसा आजीविका का साधन उत्पन्न कर देना राज्य का कर्त्तव्य है, और राज्य से वैसी वृत्ति की आशा रखना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। प्रवृत्तियों तथा वृत्तियों में समता रखने की ज़िम्मेदारी राज्य पर है।" भारतीय शिक्षा पर इस व्यवस्था का बड़ा प्रभाव पड़ा, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है बाद में इस व्यवस्था का रूप बड़ा ही संकुचित एवम् कुत्सित हो गया।

संस्कृत भाषा का सर्वोपरि महत्त्व भारतीय शिक्षा की एक अन्य परम्परागत विशेषता रही है। यद्यपि देश में समय-समय पर अनेक भाषाएँ प्रचलित हुई; पालि, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी तथा अन्य देशी भाषाओं का प्रचलन समय-समय पर कम-अधिक होता रहा, परन्तु संस्कृत भाषा का महत्त्व कभी उपेक्षित नहीं हुआ। भारतीय संस्कृति का भांडार संस्कृत भाषा में ही सुरक्षित है, उसी के माध्यम से हम अपनी सांस्कृतिक परम्परा से अवगत होते हैं और उसके अभिन्न अंग बने रहते हैं, और संस्कृत भाषा के द्वारा ही भारतीय एकता संभव है। इन कारणों से भारतीय शिक्षा में संस्कृत के स्थान और महत्त्व के विषय पर दो मत नहीं हो सकते। शिक्षा

में संस्कृत भाषा के इस महत्त्व को बनाए रखने की संभवतः आज और भी अधिक आवश्यकता है।

ऊपर हमने भारतीय शिक्षा के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया। इन परम्परागत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान परिस्थितियों में किस प्रकार इस मूलाधार के सहारे नवीन शिक्षा व्यवस्था की संयोजना की जा सकती है यह हमें सोचना है। यह भी विचारणीय है कि इन मूल सिद्धान्तों में नवीन आवश्यकताओं के अनुसार किस सीमा तक संपरिवर्तन किया जा सकता है। साथ ही यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनकी पूर्ण उपेक्षा राष्ट्र तथा हमारी संस्कृति के लिए अत्यन्त हानिकारक भी हो सकती है।

अध्याय १२
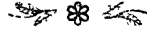
वर्तमान भारत में शिक्षा का आदर्श उद्देश्य

भारत में शिक्षा के साधारणतया प्रचलित उद्देश्यों के इतिहास का दिग्-दर्शन हम पहले कर चुके हैं। साथ ही हम भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त के मूलाधार पर भी दृष्टिपात कर चुके हैं। आज की परिवर्तित परिस्थिति में देश में शिक्षा का क्या उद्देश्य हो यह एक गंभीर प्रश्न है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तो इस प्रश्न का उत्तर देना और भी अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हो गया है। परतन्त्रता के युग की शिक्षा-प्रणाली तथा शिक्षा-व्यवस्था स्वतन्त्रता के इस प्रभात-काल में अनुपयुक्त तथा अव्यवहार्य हो चुकी है। जीवन की समस्याओं तथा भविष्य के पुनर्निर्माण के हेतु उसमें उचित परिवर्तन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। किन्तु, कोई भी संशुद्ध एवम् उपयोगी शिक्षा-व्यवस्था तब तक प्रभावशाली नहीं बन सकती जब तक कि उसके उद्देश्यों का स्पष्ट रूप निर्धारित न कर लिया जाए। इस बात की आवश्यकता है कि लक्ष्यहीन शिक्षा की हानियों को भली भाँति समझकर हम उद्देश्य-निर्धारण करके उसका निराकरण पहले ही कर लें।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय शिक्षा के उद्देश्य-निर्धारण के क्षेत्र में यथेष्ट जागृति एवम् विचार-विनिमय दिखाई पड़ रहा है। देश के नेता तथा शिक्षाविद् नए लक्ष्य की ओर संकेत कर रहे हैं। पुराने आदर्श तथा लक्ष्य अब लोगों को आकर्षित नहीं करते। अपनी समस्याओं को नवीन ढङ्ग से सुलझाने के प्रयत्न में शिक्षा के लक्ष्य भी नई दिशाओं में खोजे जा रहे हैं। काल और परिस्थिति के अन्तर से देश की आवश्यकताओं में परिवर्तन हो गया है और अनेक नई समस्याएँ हमारे सामने उठ खड़ी हुई हैं। यह भी स्वीकार किया जाने लगा है कि शिक्षा द्वारा ही

हम इन समस्याओं को भली भाँति सुलझा सकते हैं। इस प्रकार देश की शैक्षिक विचारधारा में क्रियात्मक चिंतन की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है।

प्राचीन समय से ही आदर्शवाद की उच्च विचारधारा में पला हुआ हमारा देश आज भी शिक्षा द्वारा व्यक्ति में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा आवश्यक मानता है। किन्तु वास्तविक जीवन में उच्च आदर्शवाद का पालन व्यक्ति में कम ही पाया जाता है। यह आदर्शवाद देश में बहुत-कुछ बौद्धिक रूप में ही स्वीकृत प्रतीत होता है, क्रियात्मक तथा व्यावहारिक रूप में नहीं। सर्वसाधारण अपने दैनिक जीवन में शायद यथार्थवादी, प्रयोगवादी, प्रयोजनवादी तथा प्रगतिवादी अधिक हैं आदर्शवादी कम। देश में इन पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है तथा व्यक्ति का जीवन उत्तरोत्तर इन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा संचालित होने लगा है। परिणामस्वरूप दार्शनिक विचारधाराओं के इस संघर्ष-काल में भारतवासियों की मानसिक चेतना अत्यन्त अव्यवस्थित हो गई है। जीवन में विचार एवम् लक्ष्य की दृढ़ता उसे जो बल तथा एकाग्रता प्रदान करती है उसका अभाव हम अपने बीच आज स्पष्ट ही देखते हैं। न तो हमारे जीवन के आदर्श ही स्पष्ट हैं और न पुरातन मूल्यों में ही हमारा दृढ़ विश्वास रह गया है। हम नवीन आदर्श की रचना नहीं कर पाए हैं और बने बनाए पाश्चात्य आदर्शों में भी हमारी आस्था पूर्णतया नहीं जम पा रही है। जीवन को संक्रमणकाल की इस डाँवाडोल परिस्थिति से उबारने में शिक्षा ही हमारा एकमात्र सम्बल है, और यह कार्य लक्ष्यपूर्ण शिक्षा ही कर सकती है।

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हम शिक्षा के सर्वोत्तम लक्ष्य आदर्शवाद से ही प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृतिवाद एक नास्त्यात्मक विचारधारा है। वह व्यक्ति को पशुओं की श्रेणी में रख कर केवल उसके आत्मविकास को ही शिक्षा का उद्देश्य मानती है। मानव जीवन का यह लक्ष्य सर्वथा अपूर्ण, आकर्षणहीन तथा निरर्थक है। यह सभी मानते हैं कि प्रकृतिवाद की प्रमुख देन उद्देश्य-निर्धारण के क्षेत्र में न होकर उद्देश्य-प्राप्ति के साधन के क्षेत्र में है। प्रयोजनवाद भी निश्चित उद्देश्यों की सत्ता स्वीकृत नहीं करता, वह तो नित्य नवीन प्रयोगों द्वारा नए लक्ष्य खोजना चाहता है। अतएव यह स्पष्ट है कि यह विचारधारा भी ठोस तथा सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित करने में उतनी सहायक नहीं जितनी उसकी प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन जुटाने में। यथार्थवाद भी साधारण, सहज तथा समीपस्थ उद्देश्य लेकर चलता है। आकाश के तारे पृथ्वी पर उतार लाने अथवा सागर की अतल गहराई में से मोती बीनने जैसा महान् उद्देश्य उसमें नहीं। देश की आन्तरिक प्रेरणा तथा युग-युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर भी आदर्शवाद

ही हमारे लिए सर्वोच्च प्रेरक विचारधारा हो सकती है। आदि काल से उसी की शीतल वायु में श्वास लेते रहने से वह पैतृक सम्पत्ति के रूप में हमारी रग-रग में पूर्णतया व्याप्त है। हमारे इस चिर-सिंचित मूल को एक प्रहार में काट देना अपने मानसिक एवम् आध्यात्मिक वटवृक्ष को धराशायी कर देना होगा।

विश्व भर में व्याप्त वर्तमान असंतुष्टि, असहिष्णुता, भय तथा संघर्ष का बहुत कुछ कारण उन भौतिकवादी विचारधाराओं में निहित है जो आज पाश्चात्य देशों में प्रबल हो रही हैं। वहाँ के अनेक विचारकों ने भी इस विषम परिस्थिति का यही हल सुझाया है कि व्यक्ति पुनः आदर्शवादी विचारधारा को स्वीकृत कर सत्य, शिव एवम् सुन्दर की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो। भौतिकता में चिरशान्ति नहीं, वह आध्यात्मिक उन्नयन में ही है। रॉस के कथनानुसार "यह सर्वविदित है कि नैतिकता की उपेक्षा तथा सहज-प्राप्त, क्षणिक उपयोगिता के कारण राष्ट्रों का पतन ही होता है, चाहे व्यक्तियों को उससे कुछ भी फल क्यों न मिले। आध्यात्मिक जगत के प्राकृतिक नियमों पर आधारित दार्शनिक विचारधारा ही अंत तक हमारे लिए उपयोगी हो सकती है। ... सत्य, शिव तथा सुन्दर चिरन्तन सत्य एवम् आध्यात्मिक जगत के व्यापक गुण हैं। इन्हें प्राप्त करने में मनुष्य की सार्थकता है। ये गुण स्वयं-सिद्ध तथा अमूल्य हैं और इसी कारण हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। अतएव, शिक्षा को सत्यता, न्याय, शुद्धता, सौंदर्य, निष्कपटता आदि सद्गुणों के पथ पर हमारे नवयुवकों का मार्ग-प्रदर्शन करना आवश्यक है।" यह हम देख चुके हैं कि केवल भौतिकता ही मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नहीं। वह भौतिकता से उठकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होता है। इस कारण भी जीवन को समुन्नत करने में वही विचारधारा प्रेरणा दे सकती है जो आध्यात्मिकता के महत्त्व को स्वीकार करे।

निश्चय ही भारतीयों के लिए आदर्शवाद की प्रेरक विचारधारा को मान्यता देना आवश्यक है। शिक्षा के उद्देश्यों को उसी पर आधारित होकर सतत प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए, तभी हम व्यक्ति में उन दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करने में समर्थ होंगे जो चिरकाल से सत्य, शिव तथा सुन्दर के रूप में मान्य होते आए हैं। इन्हीं की अनुभूति के प्रयत्न में मनुष्य देवत्व को प्राप्त हो सकता है। आदर्शवादी विचारधारा को निश्चित रूप से स्वीकृत कर लेने के उपरांत यह भी आवश्यक है कि उद्देश्य-निर्धारण में हम अपने समाज तथा राष्ट्र की वर्तमान दशा का विचार रखें। वर्तमान जीवन की समस्याओं से पूर्णतया विलग निरा सैद्धान्तिक आदर्शवाद केवल सिद्धान्त बनकर ही रह जाएगा, व्यावहारिक न हो सकेगा। एक प्रकार से यही आदर्शवाद की सबसे बड़ी कमज़ोरी रही है। अतएव, परिदृढ़ एवम् रूढ़िग्रस्त आदर्शवाद से उठ कर हमें

प्रगतिशील तथा प्रत्यास्थ आदर्शवाद अपनाना चाहिए जो नित्य परिवर्तनशील जीवन की वास्तविकता तथा कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर मूल आदर्शों के आधार पर नवीन मूल्यों की संयोजना कर सके।

शिक्षा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसे उच्च स्तर पर उठाती है। एक प्रकार से जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के पूर्ण होने और इस ओर से संतुष्ट होने के बाद ही व्यक्ति कुछ और सोचने तथा करने के लिए तत्पर होता है। अतएव हमें सर्व-प्रथम जीवन की वर्तमान स्थिति पर विचार करना है और उस से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि भारत में व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्षेत्रों में शिक्षा के क्या कर्तव्य हैं और उसे क्या कार्य सम्पादन करना है। भारतीय व्यक्ति एवम् समाज आज सभी दिशाओं में अवनत हो रहा है। उसका उद्धार शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि शिक्षा का साधन दुरूह तथा दीर्घकालीन है फिर भी राष्ट्र के उत्थान की समस्या का हल उसी के हाथ में है। अन्य प्रयत्न केवल ऊपरी सतह पर क्षणिक काल के लिए सम्भवतः कुछ सफलकार्य हो सकें किन्तु राष्ट्रोन्नति के स्थायी कार्यक्रम में शिक्षा का योग अन्यावश्यक है।

व्यक्तिगत रूप से हम एक भारतीय नागरिक के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अंगों की वर्तमान दशा पर दृष्टिपात कर सकते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य तथा बल की दृष्टि से भारतीय अत्यन्त गिरे हुए स्तर पर हैं। वे दूसरे देश के निवासियों की अपेक्षा अल्पायु हैं तथा उनका स्वास्थ्य एवम् शारीरिक बल उन्हें आवश्यक जीवन-शक्ति तथा स्फूर्ति प्रदान नहीं कर पाता। शैशवावस्था में बालकों की मृत्यु की संख्या भी हमारे यहाँ अन्य देशों से बहुत अधिक है। कार्य-शक्ति तथा उत्साह की कमी के कारण वे प्रायः आलस्यपूर्ण जीवन ही व्यतीत करते हैं। समय-समय पर अनेक संक्रामक व्याधियाँ देश में सहस्रों व्यक्तियों की बलि ले जाती हैं। जीवन में स्वच्छता तथा स्वास्थ्य-नियमों के पालन का महत्त्व उन्हें विदित नहीं। इसी कारण राष्ट्रीय स्वास्थ्य भी हीनावस्था में है। शक्तिशाली राष्ट्र की इस प्रथम आवश्यकता की पूर्ति भारतीय नागरिक भली-भाँति नहीं कर पा रहे हैं। शारीरिक दौर्बल्य की अधिकता के कारण भला वे अन्याय के विरुद्ध तथा न्याय के पक्ष में क्या खड़े हो सकेंगे? अनेक वाह्य तथा आन्तरिक कारणों से भारतीय नागरिक का जो शारीरिक ह्रास आज दिखाई पड़ता है वह अत्यन्त शोचनीय है। अतएव, शिक्षा का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह बालकों को स्वस्थ तथा शक्तिशाली बनाए। शिक्षा के इस उद्देश्य की अवहेलना करके हम व्यक्ति तथा राष्ट्र के जीवन को समूल नष्ट करने का ही खतरा मोल लेंगे।

मानसिक विकास की दृष्टि से एक भारतीय व्यक्ति आज भी पुराने ज्ञानार्जन की मृगमरीचिका में फँसा पड़ा है। विद्यार्थी दूसरों का दिया हुआ ज्ञान रट-रटा कर अपने मस्तिष्क में अव्यवस्थित रूप में ठूँस लेता है, उसे समझकर भली भाँति आत्मसात् करने का प्रयत्न नहीं करता। परिणामस्वरूप यह ज्ञान उसके जीवन की समस्याओं को सुलझाने में तनिक भी सहायक नहीं होता; न उसमें व्यापक दृष्टिकोण बन पाता है और न प्रत्युत्पन्न-मति। मानसिक दृष्टि से वह संकुचित तथा कूपमंडूक बना रहता है। उसकी रुचि सीमित तथा निम्न स्तर पर रहती है। एक साधारण भारतीय नागरिक, चाहे वह विद्यालय का विद्यार्थी ही क्यों न हो, तत्कालीन राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के विषय में जो अरुचि तथा सीमित ज्ञान रखता है उसी से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अतएव, शिक्षा द्वारा व्यक्ति के मानसिक विकास का प्रयत्न होना आवश्यक है। ज्ञानार्जन के संकुचित उद्देश्य को त्याग कर हमें प्रवैगिक मानसिक विकास का उद्देश्य अपनाना होगा। इस उद्देश्य का सम्यक् विवेचन हम पहले कर आए हैं। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि हमें व्यक्ति के मानसिक क्षितिज को अधिकाधिक विस्तीर्ण बनाना है, और उसकी प्राप्ति के लिये मनोवैज्ञानिक आधार लेना आवश्यक है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी व्यक्ति का अत्यधिक ह्रास दिखाई पड़ता है। उसके लिए धर्म केवल आडम्बर तथा कर्मकांड मात्र रह गया है, आन्तरिक विश्वास की वस्तु नहीं। संकुचित धार्मिक भावना के कारण उसका नैतिक चरित्र भी बहुत-कुछ नीचे गिरता जा रहा है। देश में व्याप्त एक दूसरे के प्रति अविश्वास, अनाचार, असहिष्णुता आदि इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी इसी संकुचित भावना का परिणाम है। सर्वसाधारण एक उचित सीमा तक आध्यात्मिक उन्नति करने में असमर्थ रहे हैं। एक ओर तो ऐसे वैरागियों का समूह है जो संसार से पूर्णतया सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं, तथा दूसरी सीमा पर वे अधिकांश व्यक्ति हैं जो जीवन में प्रतिपल सांसारिकता में लिप्त दिन काट रहे हैं। कितने व्यक्ति अपने जीवन में सत्य, शिव तथा सुन्दर की अनुभूति थोड़े अंशों में भी कर पाते हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अतएव, शिक्षा को इस दिशा में विशेष कार्य करना है। व्यक्ति को आध्यात्मिक शान्ति, नैतिक बल तथा भावनात्मक विकास में सहायता देना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कृत्य है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि शिक्षा में आध्यात्मिकता की उपेक्षा करना मनुष्य को मानवीय स्तर से नीचे गिराना होगा।

इस प्रकार, हमारे देश के लिये शिक्षा के उद्देश्यों में वे सब उद्देश्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानने चाहिए जो व्यक्ति के विभिन्न अङ्गों का विकास करते हैं।

किसी एक उद्देश्य को हम दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं दे सकते। प्रत्येक भारतीय नागरिक को जीवन की विविध दिशाओं में सुपुष्ट तथा सुविकसित होना है। उसकी शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण होना चाहिए, एकांगी नहीं। शिक्षा के उद्देश्यों का इतिहास हमें बार-बार इस दिशा में सचेत कर रहा है कि संकुचित तथा एकांगी उद्देश्य ही जीवन की अवनति का कारण होते हैं। परन्तु, यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि विविध अङ्गों के विकास की सीमा सब व्यक्तियों में समान निश्चित नहीं की जा सकती ; व्यक्तिगत भिन्नता को दृष्टि में रखते हुए ही बालक के लि उपर्युक्त उद्देश्यों की सीमा का निश्चय किया जा सकता है।

यद्यपि विविध दिशाओं में व्यक्ति का विकास वस्तुतः सामाजिक उन्नयन : प्रस्फुटित होता है किन्तु फिर भी राष्ट्र की सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान : रखते हुये शिक्षा के कुछ अन्य उद्देश्यों को भी मान्यता देनी होगी। राष्ट्र की वर्तमा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों का सम्यक् ध्यान रखने वाले शिक्षा के उद्देश्य ही इन दिशाओं में उन्नायक बन सकेंगे। तभी वे जीवन तथा शिक्ष को निकटतम सम्पर्क में ला सकेंगे। अतएव, अपने देश की सामाजिक परिस्थिति पर दृष्टिपात करके हमें उसके लिये उपयोगी उद्देश्यों के निर्धारण का प्रयत्न करना चाहिए।

कई शताब्दियों के बाद आज राष्ट्र के जीवन में जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है वह है स्वतंत्रता का स्वर्ण-विहान। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही नव जागरण का प्रारम्भ हुआ है। भारत के प्रत्येक नागरिक—बाल, युवा तथा वृद्ध—का यह महान् एवम् पवित्र उत्तरदायित्व है कि वह इस स्वतंत्रता का रक्षक तथा उसके योग्य बने। देश की राजनीतिक व्यवस्था जनतंत्रवादी विचारधारा पर आधारित होने के कारण आज उसके नागरिकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। परतंत्रता की अवस्था में जिस नागरिक का देश के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं समझा जाता था, अपितु विदेशी सत्ता को समूल उखाड़ फेंकने में ही जिसका गौरव था, उसी नागरिक का कर्त्तव्य आज राज्य की सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए प्रयत्न करना हो गया है। हमारे देश-वासी इस आकस्मिक परिवर्तन को भली भाँति नहीं समझ पा रहे हैं। शताब्दियों से परतंत्र रहने के कारण राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करना ही उनका नियम बन गया है। अतएव, देश की इस विशेष राजनीतिक परिस्थिति में शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में धीरे-धीरे आदर्श नागरिक के गुणों की स्थापना करनी है। इसके लिए शिक्षा में नागरिकता के उद्देश्य को विशेष महत्व देना होगा। इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों के साथ-

साथ उत्तरदायित्वों को समझे, राष्ट्रीय नियमों का पालन करे, देश की समृद्धि के लिए प्रयत्नशील हो, अनुशासन का महत्व समझे तथा देश की रक्षा में प्राण होम देने के लिए सदैव तैयार रहे। शिक्षा में राष्ट्रीयता की भावना संचरित होना भी अत्यन्त आवश्यक है जिससे समस्त वातावरण राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत हो जाए, और जिसमें श्वास लेकर प्रत्येक बालक प्रारम्भ से ही राष्ट्रोन्नति के लिए प्रेरणा पा सके। रचनात्मक क्रियाशीलता तथा सहयोग की भावना को उन्नत करना इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही, भारत के प्रत्येक नागरिक में अन्तर्राष्ट्रीय भावना भी जाग्रत करना होगा। आदिकाल में विश्वबंधुत्व के आदर्श को सम्मान का पालन करने वाले भारतीय सहज ही इस दिशा में अग्रणी हो सकते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में जो ह्रास हमें अपने बीच दिखाई पड़ रहा है उसका निराकरण पूर्णतया शिक्षा के हीं हाथ में है। सर्व प्रथम हमें इस मूल प्रश्न का उत्तर निश्चित करना होगा कि व्यक्ति बड़ा है अथवा समाज ? इस प्रश्न पर हम आंशिक रूप में पहले विचार कर आए हैं। यह निश्चित है कि इसके उचित उत्तर से ही व्यक्ति तथा समाज के बीच का संघर्ष कम होकर एक दूसरे के विकास में सहायक होने की संभावना है। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति में सामाजिकता की भावना जाग्रत की जाए। अपने लाभ के लिए दूसरों का गला काटने की प्रवृति जब तक लोगों के मन में समाई रहेगी तब तक वे न तो दूसरों को जीवित रहने देंगे और न स्वयं ही जीवित रहेंगे। अतएव, शिक्षा द्वारा व्यक्ति के मन में दूसरों के प्रति स्नेह, दया, त्याग आदि सद्भावनायें जाग्रत करना हमारा प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

हमारे बीच फैली हुई अनेक सामाजिक कुरीतियाँ राष्ट्र को घुन की तरह भीतर ही भीतर खोखला बना रही हैं। वह व्यक्ति शिक्षित ही क्या जो अस्पृश्यता, जातिभेद, पर्दा आदि कुरीतियों का पूर्णतया दास बना हुआ है ? शिक्षा द्वारा व्यक्ति में ज्ञानसंचार होना चाहिये जिसके प्रखर आलोक में कुरीतियों के दानव पूर्णतया दब जाएँ। सामाजिकता की शिक्षा तभी पूर्ण कही जा सकेगी जब हमारे समाज में व्यक्ति-व्यक्ति, ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति का भेद पूर्णतया नष्ट हो जायगा। तभी हमारा सामाजिक सङ्गठन भी सुचारु रूप से हो सकेगा।

आर्थिक क्षेत्र में भी हमारी दशा अत्यंत गिरी हुई है। अपने राष्ट्र को निर्धन स्वीकृत कर लेना हमारा अभ्यास हो गया है। झूठे संतोष की यह भावना निष्क्रियता तथा अकर्मण्यता की द्योतक है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को अपने जीविकार्जन के योग्य बनना आवश्यक है, तथा प्रत्येक व्यक्ति की कार्यकुशलता एवम् उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होनी चाहिए। तभी राष्ट्र की व्यावसायिक एवम् आर्थिक उन्नति संभव है। प्रत्येक

व्यक्ति को अपनी अभिरुचि, योग्यता एवम् नैसर्गिक गुणों के अनुसार व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। व्यावसायिक प्रशिक्षण के पूर्व उचित व्यावसायिक निर्देशन की भी आवश्यकता है। अनुपयुक्त एवम् अरुचिकर व्यवसाय में लगने के कारण हमारे देश में व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों की अत्यधिक हानि हो रही है। देश में दिन प्रति दिन बढ़ने वाली बेकारी शिक्षा में इस उद्देश्य के महत्व को अधिकाधिक स्पष्ट कर रही है।

राष्ट्र को प्रत्येक व्यक्ति के लिए भोजन, वस्त्र तथा घर की समस्या सुलझानी है। जीवन की ये प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। राष्ट्र में किसी के लिये भी ये आवश्यकताएँ अपूर्ण नहीं रहनी चाहिए। इस समस्या का बहुत-कुछ हल तो व्यक्ति की उत्पादन शक्ति की वृद्धि द्वारा निकल सकता है, किन्तु साथ ही, राष्ट्रीय धन का यथाशक्य समान वितरण भी आवश्यक है। करोड़पतियों जैसे अत्यधिक धनवान तथा आधे पेट भोजन पाने वाले भिखारी के बीच की खाई कुछ सीमा तक तो पटनी ही चाहिए। इसके लिए एक विशद राष्ट्रीय आर्थिक योजना की आवश्यकता है और इसी को ध्यान में रखते हुए हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ हुआ। परन्तु समाज की आर्थिक समृद्धि के लिए हम शिक्षा में नितान्त आर्थिक अथवा व्यावसायिक दृष्टिकोण को ही स्वीकृत नहीं कर सकते। हमारे राष्ट्र का निर्माण भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक एवम् नैतिक आधार पर विशेष रूप से हुआ है। अतएव राष्ट्र को धन अथवा व्यवसाय का दास बनाना श्रेयस्कर नहीं। हमें उन्मत्त होकर भौतिक सुखों के पीछे नहीं भागना चाहिए। हमारे ग्रामों के विशद क्षेत्र में फैले हुए विविध कुटीर उद्योग पनपने को आतुर हो रहे हैं। यांत्रीकरण की अधिकता इस प्रारम्भिक अवस्था में ही उनका गला घोंट देगी। महात्मा गांधी ने भी इस दृष्टिकोण के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई है। उनका कथन है कि, "मुझे भय है कि यांत्रीकरण मनुष्य जाति के लिए श्राप सिद्ध हो रहा है। दूसरों का शोषण ही औद्योगीकरण का आधार है। वह इस बात की अपेक्षा करता है कि विदेशों में केवल हमारा ही माल बिके तथा हमारी प्रतिद्वंद्विता कोई राष्ट्र न करे...यांत्रीकरण से मेरा मूल-विरोध इसी कारण है कि उसके बल पर एक राष्ट्र दूसरे का शोषण करता है।" अतएव, व्यावसायिक उद्देश्य का महत्व स्वीकार करते हुए भी हम उसे भारतीय शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं बना सकते।

समाज की सांस्कृतिक उन्नति जहाँ व्यक्ति के समुचित विकास में निहित है वहाँ सामाजिक चेतना को जाग्रत करने में भी। हमारे जीवन में देशी-विदेशी अनेक संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है और इस प्रकार भारतीय संस्कृति सदैव परिवर्तनशील तथा गतिमान रही है। दूसरी संस्कृतियों को आत्मसात् करने की उसकी शक्ति अपार

है। किन्तु, आज हम सर्वसाधारण में सांस्कृतिक तथा कलात्मक चेतना का सर्वथा अभाव पाते हैं। बहुत कम व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में रुचि रखते तथा भाग लेते दिखाई देते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तो विदेशी संस्कृति को श्रेष्ठ तथा अपनी संस्कृति को हेय समझना एक प्रकार से हमारा स्वभाव बन गया था। अब हमारे समाज में पुनः सांस्कृतिक जागरण के चिह्न दिखाई पड़ने लगे हैं। इस बात की आवश्यकता है कि हमारी सांस्कृतिक एवम् कलात्मक प्रवृत्ति केवल उच्च वर्ग के लोगों की ही सम्पत्ति न बनी रहे। सौंदर्य की अनुभूति तथा प्राप्ति सब को समान रूप से होनी चाहिए। अतएव, सांस्कृतिक जागरण के इस प्रथम प्रहर में हमें देशीय संस्कृति तथा कला को प्रोत्साहित करना होगा। तभी हमारी संस्कृति एवम् कला जनता की संस्कृति तथा कला बन सकेगी। इसके लिए शिक्षा में सांस्कृतिक उन्नयन का उद्देश्य भी हमारे लिये विशेष महत्त्व रखता है। आज के युग में सुसंस्कृत व्यक्तियों का देश ही आदर का पात्र हो सकता है।

अतएव, यह स्पष्ट है कि भारतीय व्यक्ति तथा समाज के सर्वाङ्गीण विकास के निमित्त शिक्षा में उपर्युक्त सभी उद्देश्यों का महत्त्व समान रूप से है। हमारी शिक्षा एक सीमित उद्देश्य लेकर व्यक्ति तथा राष्ट्र की सब समस्याओं को नहीं सुलझा सकती। हमारा जीवन जितनी विविध दिशाओं में उन्मुख तथा व्यापक है शिक्षा का उद्देश्य भी उतना ही विशद एवम् आकर्षक होना चाहिए। हमें व्यक्ति तथा समाज की उन्नति के लिए अपना प्रयत्न विविध दिशाओं में आयोजित करना पड़ेगा और शिक्षा के बहुमुखी उद्देश्य ही इस कार्य में सफल हो सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम अपने उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्न उद्देश्यों को सामूहिक तथा संतुलित रूप में भारतीय शिक्षा का लक्ष्य निश्चित कर सकते हैं :—

सामान्य व्यक्तिगत उद्देश्य :

(१) स्वस्थ, सुपुष्ट तथा नीरोग शरीर का उत्तरोत्तर विकास; स्वच्छतादि नियमों का पालन।

(२) अपरिमित, अव्यावहारिक ज्ञानकोष के बजाय समुन्नत, सतत विकासोन्मुख मानसिक चेतना की अभिवृद्धि।

(३) सर्वोच्च चारित्रिक तथा नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा।

(४) सुविकसित सौंदर्यानुभूति।

(५) विशद मानव-धर्म का पालन।

विशेष सामाजिक उद्देश्य :

(१) राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा ; देश-प्रेम तथा नागरिकता की भावना का सम्यक् विकास ।

(२) समाज-सेवा तथा परमार्थ की भावना ।

(३) जीविकार्जन के निमित्त औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षमता एवम् कार्य-कुशलता ; राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि का प्रयत्न ।

(४) सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टिकोण ।

(५) व्यक्ति के गुणों का आदर तथा उसके शारीरिक, मानसिक एवम् आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण की रचना ।

(६) शिक्षा—विश्व-शान्ति के लिए ; विश्व बंधुत्व की भावना ।

हो सकता है कि हम इनमें से रुचि तथा महत्त्व के अनुसार किसी एक उद्देश्य विशेष को प्रधान मान लें, और यह मत भिन्नता स्वाभाविक है । परन्तु किसी एक उद्देश्य को प्रमुख मान लेने पर भी अन्य उद्देश्यों का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता । गौण रूप में ही सही पर उन पर भी यथावश्यक ज़ोर देना व्यक्ति और समाज के संतुलित विकास के हित में आवश्यक है ।

अध्याय १३

शिक्षा में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

राष्ट्रीय दृष्टिकोण

'शिक्षा की अजेय शक्ति द्वारा ही व्यक्ति की सार्वभौम उन्नति संभव है। शिक्षा उसके व्यक्तित्व को संतुलित रूप में विकसित करती है तथा उसी के द्वारा विभिन्न दिशाओं में उसका उन्नयन होता है। अतः शिक्षा मूलतः व्यक्ति तथा उसके विकास को ही आधार मानकर अग्रसर होती है। किन्तु वास्तव में इसी वैयक्तिक भावना में शिक्षा का सामाजिक दृष्टिकोण निहित है।' मनोवैज्ञानिक भाषा में हम इसे व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों का सामाजीकरण कह सकते हैं जिसमें व्यक्ति की नैसर्गिक शक्तियों का विकास समाजोपयोगी दिशाओं में किया जाता है।

समाज तथा राष्ट्र में अन्तर है। जब एकत्व की भावना को लेकर, छोटे-मोटे पारस्परिक भेद-भाव भुलाकर एक निर्दिष्ट भौगोलिक सीमा के भीतर सारे व्यक्ति सामूहीकरण की भावना से प्रेरित हो उठते हैं तब राष्ट्र का जन्म होता है। कई विभिन्न सामाजिक इकाइयाँ भी मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती एवम् उसका अङ्ग बनी रह सकती हैं यदि उनके मूल में यही एकता की भावना स्थित है। अतः नागरिकों को एकत्व के सूत्र में बाँधने वाली व्यक्तिगत तथा सामाजिक भावना ही राष्ट्र का मूल आधार है।

राष्ट्र के निर्माण तथा उत्थान में अनेक सामाजिक शक्तियाँ अपना योगदान करती हैं, परन्तु उन सभी में उस राष्ट्रीय भावना का प्राधान्य होना आवश्यक है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। जब छोटी बड़ी सभी सामाजिक इकाइयाँ अपनी संकुचित सीमा से उठकर अपने को समस्त राष्ट्र का अंग-स्वरूप समझने लगेंगी तभी राष्ट्रीयता की भावना पनप सकेगी। अलग-अलग विद्रोही टुकड़ों में बटा हुआ देश,

जहाँ समानता की अपेक्षा प्रभेदों को अधिक महत्त्व दिया जाए, एक सुपुष्ट राष्ट्र नहीं कहला सकता। इन समस्त दिशाओं में शिक्षा जो योगदान करती है उसका महत्त्व एवम् प्रभाव समस्त शैक्षिक वातावरण को राष्ट्रीय भावना से मंडित कर देने पर ही निर्भर है। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत शिक्षा ही राष्ट्र-निर्माण अथवा राष्ट्रीय उत्थान के कार्य में सच्ची प्रेरणा दे सकती है। राजनीतिक एकता में राष्ट्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों, सामाजिक इकाइयों, जातियों आदि की मूल एकता भी निहित है। शिक्षा का यह कर्त्तव्य है कि इस एकता पर बल देकर उसे दृढ़ बनाए। जो शिक्षा प्रान्तीयता, जाति-भेद अथवा समाज-भेद को प्रश्रय देती है वह राष्ट्र-निर्माण पर कुठाराघात करती है। इसलिए, इतना ही पर्याप्त नहीं कि शिक्षा-क्षेत्र में जाति अथवा प्रान्त आदि के भेद को पूर्णतया अस्वीकृत किया जाए अपितु इस भावना का त्याग करने तथा इन सब भेद-भावों के ऊपर एकराष्ट्रीयता की भावना के निर्माण का प्रयत्न भी किया जाए। स्वयं भारत में आज इस प्रकार की भावनात्मक सुसम्बद्धता की आवश्यकता है जिसके अंतर्गत भाषा, जाति, प्रान्तीयता आदि के भेद भावों को भुला कर समस्त राष्ट्र अपने को एक मानने में समर्थ हो। देश में अब यह भी माना जा रहा है कि उचित शिक्षा ही इस दिशा में हमारी सहायता कर सकती है।

राष्ट्र का उत्थान उसकी सामाजिक दशा पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। सामाजिक कुरीतियों, जाति-भेद आदि से पीड़ित राष्ट्र न तो शक्तिशाली ही बन सकता है और न प्रगतिशील। इसीलिए राष्ट्रोन्नतिमूलक शिक्षा को सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध एक प्रकार का भावनात्मक तथा बुद्धयात्मक वातावरण बनाना अत्यावश्यक है। शिक्षा द्वारा ही समाज को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। अतः भारतीय राष्ट्रनिर्माणकर्ताओं को शिक्षा की शक्ति का महत्त्व तथा उपयोग समझना चाहिए। शिक्षा के प्रकाश में ही अंधविश्वास अथवा कुरीतियों का अंधकार विलीन हो सकता है।

राष्ट्र की आर्थिक दशा को उन्नत करने में भी शिक्षा का योगदान कम नहीं। व्यावसायिक शिक्षा द्वारा राष्ट्र का उत्पादन ही नहीं बढ़ाया जा सकता अपितु प्रत्येक व्यक्ति को धनवान तथा समृद्धिशाली भी बनाया जा सकता है। राष्ट्र की कला, कारीगरी तथा उद्योग-धन्धों आदि को शिक्षा द्वारा ही उत्साहित किया जा सकता है। अतः समूचे राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों की शिक्षा का आयोजन करना राष्ट्रोत्थान की नींव डालना है।

शिक्षा का राष्ट्रीय दृष्टिकोण तब तक पूर्णतया स्थिर नहीं हो सकता जब तक कि वह राष्ट्रभाषा द्वारा न दी जाए। राष्ट्रभाषा में ही तो राष्ट्र की सम्पूर्ण विचार-

धारा, साहित्य तथा हर्ष-विषाद संचित रहता है। अतः राष्ट्र के सदस्यों को इन सबसे अवगत कराने के लिए राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्र-साहित्य का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। तभी तो राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में इन दोनों का स्थान प्रमुख माना गया है। वास्तव में विदेशी भाषा के माध्यम से दी गई शिक्षा किसी प्रकार भी राष्ट्रीय नहीं कही जा सकती। राष्ट्र की विभिन्न सामाजिक इकाइयों, राज्यों तथा जातियों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने के लिए सबको राष्ट्रभाषा का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इसी कारण संसार के सभी देशों में राष्ट्रभाषा को शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में धर्म का क्या स्थान हो, इस विषय पर बहुत मतभेद है। यह स्पष्ट है कि धार्मिक भावना व्यक्ति तथा समाज को प्रारम्भ से ही प्रेरणा तथा शान्ति प्रदान करती आई है। मध्यकाल में तो समस्त शिक्षा धर्म संस्थाओं द्वारा ही संचालित होती थी। आज भी संसार के अनेक देशों में उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। स्वयं भारत में भी अनेक धार्मिक संस्थाएँ पाठशालाओं तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं का संचालन कर रही हैं। किन्तु, शिक्षा में धर्म को स्थान देने में जो कठिनाई एक उपस्थित होती है वह ही राष्ट्र में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों का होना है। यदि एक राष्ट्र में सभी नागरिक केवल एक ही धर्म को मानने वाले होते तो शिक्षा में धर्म का स्थान सुरक्षित करने में समय न लगता। परन्तु संसार का कोई भी राष्ट्र पूर्ण रूप से आज इस स्थिति में नहीं। अतः लोगों ने इस समस्या का हल धर्म को शिक्षा से पूर्णतया बहिष्कृत कर देने में सुझाया है।

परन्तु, वास्तव में सर्वथा धर्म-विहीन शिक्षा इस समस्या का हल नहीं। धर्म तथा आचरण का सदैव से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। धार्मिक भावनाओं द्वारा ही सदाचरण के लिए प्रेरणा मिलती रही है। इसीलिए प्राचीन समय में दुराचरण को अधर्म तथा दुराचारी को अधार्मिक माना जाता था। आज का दार्शनिक यद्यपि आचरण तथा धर्म को पृथक मान कर चलता है तथापि इस प्रकार की विचारधारा द्वारा अनायास ही वह सदाचरण की मूल प्रेरक शक्ति को पूर्णतया कुंठित भी किए दे रहा है। तभी तो आज भरसक प्रयत्न करने पर भी लोगों में सदाचरण की प्रवृत्ति जाग्रत करने में कठिनाई होती है, और जनसाधारण में उसकी न्यूनता पहले की भाँति ही बनी हुई है। अतएव, राष्ट्रीय शिक्षा योजना में राष्ट्र के नागरिकों को सदाचरण की शिक्षा प्रभावशाली ढङ्ग से देने के लिए उसमें धर्म का कुछ न कुछ पुट होना अत्यावश्यक है।

इस दशा में यह उचित प्रतीत होता है कि विभिन्न धर्मों के समान अंगों तथा विचारों को लेकर—और इनकी कमी भी नहीं—उन्हें शिक्षा का आधार बनाए

जाए। ईश्वर पर विश्वास, पाप-पुण्य की भावना, आत्मा की शुद्धि एवम् विकास, विनय, आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें राष्ट्रीय शिक्षा में स्थान मिलना ही चाहिए। धर्म-सहिष्णुता तथा विभिन्न धर्मों के बीच प्रवाहित उद्देश्यों की समानता पर विशेष बल देना भिन्न मतावलम्बियों के बीच सौहार्द्र की भावना जाग्रत करने की दिशा में पहला क़दम है। शिक्षा को इससे विमुख नहीं होना चाहिए।

अतएव, यह स्पष्ट है कि शिक्षा राष्ट्र के उपर्युक्त अङ्गों को उन्नत तथा विकसित करने में विशेष प्रभावशाली सिद्ध होती है। वास्तव में राष्ट्रीय जीवन का कोई अंग उसके प्रभाव से अछूता नहीं। परन्तु स्वयं अपने में भी शिक्षा राष्ट्र की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि दशा का उसकी शिक्षा-योजना पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जनतंत्र राष्ट्र में शिक्षा दूसरे ढङ्ग से पनपती है, एकतंत्र राष्ट्र में दूसरे ढंग से ; धनवान देश की योजनाएँ तथा शिक्षा-प्रणाली ख़र्चीली और सहायक सामग्री से पूर्ण होती है, निर्धन देश की सरल तथा साधारण। किन्तु, यह स्पष्ट है कि शिक्षा इन सब से प्रभावित होते हुए भी इन सब में सुधार तथा उन्नति करने में पूर्णतया समर्थ है, यदि उसका मूल्य एवम् उपयोग भली भाँति समझा जाए। इसीलिए भारत में शिक्षा को अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए जिससे राष्ट्र-निर्माण के पवित्र कार्य में हाथ बटाया जा सके। हमारी अनेक पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा द्वारा राष्ट्र-निर्माण के कार्य का महत्त्व समझ कर उस पर यथेष्ट बल देना भी आवश्यक है।

भारत में आज की राष्ट्रीय आवश्यकताएँ कल से बहुत-कुछ भिन्न हैं। राष्ट्र की स्वतंत्रता-प्राप्ति में योग देना प्रत्येक शिक्षा-योजना का मूल कर्त्तव्य होता है, किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उसे राष्ट्र के उत्थान एवम् प्रगति में लगना भी अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा अपने में अभूतपूर्व मंडनात्मक शक्ति है, ध्वंसात्मक नहीं। अतएव, राष्ट्रीय भावना से मंडित शिक्षा ऊपर दिए गए सुझावों के आधार पर समाज के विभिन्न अंगों का सुधार तथा विकास करने में पूर्णतया समर्थ है।

एक बात जिस पर हमने प्रारंभ में बल दिया था यहाँ पुनः दोहराना आवश्यक है। राष्ट्र का मूलाधार व्यक्तियों में पनपती हुई आन्तरिक राष्ट्रीय भावना ही है और शिक्षा द्वारा उसे जाग्रत रखना राष्ट्रीयता को जीवित रखना है। बालकों में इस भावना को भरने तथा उसे जगाए रखने के लिए पाठशालाओं में विविध प्रकार के कार्यक्रमों का आयोजन किया जा सकता है। इसके लिए पाठशालाओं में राष्ट्र-नेताओं की जयंती, राष्ट्रीय पर्व, राष्ट्रीय सप्ताह आदि मनाने का सुझाव दिया जा सकता है। पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों के उचित प्रवरण द्वारा इस दिशा में बहुत-कुछ

किया जा सकता है। साथ ही अध्यापकों के लिए भी यह आवश्यक है कि वे स्वयं राष्ट्रीय भावनाओं के प्रतीक बनें। विद्यार्थी बहुत-कुछ उन्हीं से सीखते हैं। अतः शिक्षकों को स्वयं जाति-भेद, प्रान्तीयता आदि की भावनाओं से ऊपर उठकर जीवन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। भारत में राष्ट्र-निर्माण के इस प्रभातकाल में तो इस दिशा में सचेष्ट रहने की और भी अधिक आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पचीस वर्षों को हम स्पष्ट ही शिक्षा में राष्ट्रीयता का युग कह सकते हैं। उस समय प्रत्येक राष्ट्र अपने नागरिकों में राष्ट्रीयता की भावना भरने को उत्सुक था और शिक्षा द्वारा इस प्रयत्न में उसे विशेष सहायता मिली। इसी आधार पर शिक्षा-संस्थाओं में राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श, राष्ट्रीय जागरण एवम् देश-प्रेम की कविताओं तथा गीतों, नेताओं के सम्मान तथा पूजन आदि को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया। जर्मनी, जापान, इटली, इंग्लैंड आदि प्रायः सभी देशों में अपने-अपने ढंग से राष्ट्रीयता की शिक्षा देने के प्रयत्न किए गए। परन्तु, जहाँ इन प्रयत्नों से लोगों में देशानुराग बढ़ा तथा राष्ट्र की समस्याओं को समझने और उन्हें सुलझाने का विचार नवयुवकों के मन में जाग्रत हुआ, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो आपसी विरोध तथा वैमनस्य फैला उसका प्रत्यक्ष फल महायुद्ध के रूप में संसार को प्राप्त हुआ।

यह स्पष्ट है कि महायुद्ध की विभीषिका का मूल कारण संकुचित राष्ट्रीयता ही रही है। उचित करे अथवा अनुचित मेरा देश सबके लिए सम्माननीय है अथवा मेरा देश तथा मेरे देश की संस्कृति सबसे ऊँची है—यह भावना संकुचित देश प्रेम की अति ही कही जाएगी। यदि इसी भावना को राष्ट्रीयता मानकर बालकों को शिक्षा दी जाए तो वे सब अंधे देश-भक्त तथा अहंकारी बन जाएँगे। और, यदि सभी देशों के बालक अपने-अपने देश के विषय में यही सोचने लगें तो झगड़ा खड़ा होते कितना समय लगेगा!

संकुचित राष्ट्रीयता के कारण ही प्रायः नागरिकों का अपना निजत्व कुंठित हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के समक्ष अपने व्यक्तिगत विचारों को स्वयं दबा देते है। व्यक्ति का विकास अपने निजी तथा स्वतंत्र रूप में नहीं हो पाता। राष्ट्रीयता के नाम पर अनेक दल तथा गुट्ट बन जाते हैं और उनमें आपसी विद्वेष अलग उठ उड़ा होता है। राजनीतिक दलों का बनना स्वयं अपने में कोई दोष नहीं; वस्तुतः जनतंत्रवाद में ऐसे दलों की सत्ता विशेष रूप से स्वीकृत है, किन्तु उनके आपसी व्यवहार

तथा क्रिया-कलाप में कितनी दूषित तथा संघर्षपूर्ण भावनाएँ काम करती हैं, यह हम सभी जानते हैं।

इन्हीं सब कारणों से राष्ट्रीयता के संकुचित घेरे से निकल कर विश्वबंधुत्त्व की भावना को अपनाना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि शिक्षा का व्यापक अर्थ लिया जाए तो उसका क्षेत्र भी समाज तथा राष्ट्र से बढ़ा कर सम्पूर्ण विश्व को मानना उचित होगा। राष्ट्रीयता स्वयं अपने में पूर्ण भी नहीं कही जा सकती। इसीलिए आज के युग की एकमात्र पुकार अन्तर्राष्ट्रीयता ही है। शायद इसी भावना को अपना कर हम विश्वयुद्ध की पुनरावृति को रोक सकें। शिक्षा को इस शान्ति-स्थापन के क्षेत्र में पूर्ण सहयोग देना चाहिए।

शिक्षा द्वारा बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पनपाने के पक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। सम्पूर्ण मानव जाति एक है, अतएव इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई मानना ही उचित होगा। प्राचीन भारतीय ऋषियों की 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना की आवश्यकता आज फिर से प्रमुख हो गई हैं। जाति, रंग अथवा धर्म के भिन्न आवरणों के पीछे मानवीय आत्मा की एकता स्वयं अपने में सिद्ध है। जाति, स्थान अथवा धर्म के भेद तो मनुष्य द्वारा स्वयं निर्मित किए गए हैं, ईश्वर प्रदत्त एकता तो सम्पूर्ण मानव समाज में स्पष्ट है। इस सत्य को स्वीकार कर शिक्षा द्वारा व्यक्ति को इस एकता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करना इस दिशा में हमारा पहला क़दम होना चाहिए।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक सुविधाओं के कारण विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के और भी निकट आगए हैं। विज्ञान ने समय तथा दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है। सहस्रों मील के रास्ते घंटों में तय हो जाते हैं तथा सैकड़ों मील दूर की वाणी दूसरे ही क्षण हमारे कानों में पहुँच जाती है। संसार के एक कोने में घटित मामूली घटना आज भीषण विश्वयुद्ध का बीज बो सकती है। किसी कोने में साधारण सा अकाल आज संसार भर की सहानुभूति अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इन्हीं कारणों से आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखे बिना व्यक्ति कूपमंडूक ही कहा जाता है। इसके अतिरिक्त आज कोई भी राष्ट्र स्वयं अपने में पूर्ण तथा आत्मनिर्भर भी नहीं कहा जा सकता। खाद्य पदार्थ, वस्त्र, दैनिक जीवन की आवश्यक सामग्री के अतिरिक्त अनेक वस्तुओं के लिए भी एक देश को दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। अमरीका जैसा समृद्ध देश भी पटसन आदि के लिए दूसरों पर निर्भर है। अतः बिना अन्तर्राष्ट्रीय आदान प्रदान के इस युग में कोई देश जीवित नहीं रह सकता। वास्तव में सारे संसार को हम विभिन्न राष्ट्रों का एक परिवार कह सकते हैं जिसमें सभी देश एक

दूसरे के सहयोग पर आश्रित हैं। कोई देश इस परिवार का अन्तरंग सदस्य बने बिना अपना काम नहीं चला सकता।

विश्व की एक मानव जाति को देश-देशान्तर के कृत्रिम भागों में बाँट देना तथा स्नेह एवम् सहानुभूति को इस विभाजन के भेद-भाव पर आधारित करना विश्व-बंधुत्व की भावना के विरुद्ध है। मित्रता, सहानुभूति, स्नेह, दया आदि गुण भौगोलिक सीमा में नहीं बाँधे जा सकते। दूसरे देश के समस्त नागरिक विचारों की भिन्नता के कारण हर बात में बुरे माने जाएँ यह संकुचित मनोवृत्ति का परिचायक है। ऊपर से यह तर्क चाहे जितना सरल एवम् स्पष्ट लगता हो, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रत्येक देश इस संकुचितता से कितना अधिक प्रभावित है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का महत्व समझकर लोगों में विश्व-बंधुत्व की भावना जगाने के लिए शिक्षा का सहारा लेना आवश्यक है। बालकों को इस दिशा में उन्मुख करने का प्रयत्न पाठशालाओं में विशेष रूप से किया जा सकता है। इसके हितार्थ बालकों में स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने का अभ्यास डालना अत्यंत आवश्यक है। आज के युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को ही सही रास्ते पर होने का ढोल पीटता है। अतएव प्रत्येक नागरिक में स्वयं सोचने तथा विचार करने की आदत पड़नी चाहिए जिससे वह प्रतिपल अपने चारों ओर होने वाले स्वार्थपूर्ण प्रचार का शिकार न बने और अपना संतुलन नष्ट न होने दे। उसमें तो आत्म-विश्लेषण की भी शक्ति होनी चाहिए जिससे वह स्वयं अपने राष्ट्र के गुण-दोषों का विवेचन निष्पक्ष भाव से कर सके।

शिक्षा द्वारा बालकों को संकुचित राष्ट्रीयता से ऊपर उठने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। अन्य राष्ट्र तथा जातियों से सहानुभूति, उनकी कठिनाइयों का अनुमान तथा उनके अन्तरतम की भावनाओं की अनुभूति हमें इसी कारण नहीं हो पाती कि हमारे नेत्र सदैव अपने ही देशप्रेम के चश्मे से ढँके रहते हैं। इसी कारण पाठशालाओं में बालकों की भावनात्मक शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। प्रेम तथा घृणा की भावनाओं को उचित दिशा में प्रेरित करना तथा उन्हें एक सीमा में बाँधे रखना इस शिक्षा का आवश्यक अंग होना चाहिए। सदैव भौगोलिक अथवा राजनीतिक विभाजन-रेखाओं के आधार पर बालकों की विचार करने की आदत छूटनी चाहिए। उन्हें तो उच्चतम आदर्शों का मापदण्ड अपनाना है, फिर वे चाहे जहाँ, चाहे जिस देश में, क्यों न स्थापित हों। व्यक्ति चाहे जिस जाति, धर्म अथवा

राष्ट्र का अंग हो उसकी अच्छाई-बुराई उसके द्वारा बरती गई दया, सौहार्द्र, न्याय-प्रियता, स्नेह आदि गुणों के आधार पर ही निश्चित की जा सकती है। सभी देशों में अच्छे नागरिक भी होते हैं और बुरे भी। फिर, किसी एक देश के ही समस्त नागरिकों को अच्छा अथवा बुरा क़रार देने का अर्थ सिवाय हमारे दृष्टिकोण के दोष के और क्या हो सकता है ?

विश्वबंधुत्त्व की भावना व्यक्तियों के सामूहिक उत्तरदायित्त्व पर भी बहुत-कुछ निर्भर है। संसार के किसी एक कोने में होने वाले अत्याचार के प्रति अन्य स्थानों के व्यक्तियों को अपना उत्तरदायित्त्व समझना इस भावना का प्रधान अंग है। यदि इस प्रकार की घटनाएँ संसार के प्रत्येक कोने में बिखरे व्यक्तियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न कर सकीं तो विश्व बंधुत्त्व की भावना ही कैसे पनपेगी ?

और अंत में, प्रत्येक व्यक्ति के हृदय से दूसरों का अकारण भय निकाल देना भी अत्यंत आवश्यक है। आपसी भय के कारण ही विभिन्न देशों के लोग न तो एक-दूसरे के निकट आते हैं और न एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं। यदि विभिन्न राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति भय न हो तो सहज ही उनका आपसी सौहार्द्र जाग्रत हो सकता है। भय के अभाव में ही सहज स्नेह तथा अपनत्त्व बढ़ता है। अतः शिक्षा द्वारा बालकों के मन से दूसरों का अकारण भय हटाने का प्रयत्न होना चाहिए।

पाठशालाओं में विश्व-बंधुत्त्व की भावना पनपाने के लिए न तो पृथक रूप से कुछ करने की आवश्यकता है और न बालकों पर लम्बे आदेशपूर्ण भाषण थोपने की। यह कार्य तो अपने आप सहज में ही विभिन्न पाठ्य-विषयों को पढ़ाते समय तथा उपयुक्त वातावरण निर्मित करके किया जा सकता है। इतिहास पढ़ाते समय दूसरे देश तथा जातियों का विकास, उनकी कठिनाइयाँ तथा उन पर विजय प्राप्त करने के उनके प्रयत्न बड़ी सफलतापूर्वक बताए जा सकते हैं। इससे बालकों में उन देशों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति सरलता से उपजाई जा सकती है। विभिन्न देशों के साहित्य को पढ़ाने में भी इस दृष्टिकोण को अपनाया जा सकता है। प्रत्येक देश के उत्कृष्ट साहित्य के नमूने प्रस्तुत कर इस क्षेत्र में उनका योगदान सहज ही स्पष्ट किया जा सकता है। विज्ञान पढ़ाते समय उसमें भिन्न देशवासियों के योगदान का भी मूल्यांकन सहज में हो सकता है। इस प्रयत्न में स्वयं अध्यापक की विचारधारा तथा दृष्टिकोण का महत्त्व कम नहीं। अध्यापक बालकों में विश्व-बंधुत्त्व की भावना कहाँ तक जगा सकेगा यह स्वयं उसके व्यक्तित्त्व पर बहुत-कुछ निर्भर है। उसे स्वयं इस भावना से

ओतप्रोत होना आवश्यक है जिससे कि वह अपने सम्पर्क में आने वाले बालकों पर उचित प्रभाव डाल सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस दिशा में जो कार्य किया है बालकों को उससे अवगत कराना भी आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य-प्रणाली तथा प्रस्तावों से लोगों का मतभेद हो सकता है किन्तु, इस प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता तथा उसका उपयोग सभी मानते हैं। राष्ट्रों के इस पारिवारिक सम्मिलन द्वारा ही उन्हें एक-दूसरे को समझने का अवसर प्राप्त हो सकता है। स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ ने पाठशालाओं में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पनपाने के लिए जो शिक्षा-योजना बनाई है उसे भी कार्यान्वित किया जा सकता है।

अध्याय १४

जनतंत्रवाद तथा शिक्षा

जनतंत्रवाद की विचारधारा ने आज विश्व के एक बहुत बड़े भाग को प्रभावित कर रखा है। मध्यकाल में यूरोप के अनेक एकतंत्री शासकों तथा सम्राटों के अत्याचारों से पीड़ित होकर जनता ने उनके विरुद्ध विद्रोह खड़े किए और इस बात की माँग की कि शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति अथवा विशिष्ट व्यक्तियों के समुदाय के हाथ में न होकर स्वयं प्रजा के हाथ में होनी चाहिए। जनता अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा शासन की माँग करने लगी जिससे राजाओं की पैतृक शासन परम्परा पर आघात पहुँचा। इसीलिए प्रजातंत्रवाद को मूलरूप में 'जनता का जनता द्वारा जनता के लिए शासन' कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि राज्य जनता का है किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, शासन जनता द्वारा होना चाहिए और यह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा संभव है, तथा शासन का उद्देश्य समस्त जनता की सुख-समृद्धि होना चाहिए, केवल कुछ व्यक्तियों की स्वार्थ-सिद्धि नहीं। जनतंत्रवाद के इसी मूलाधार पर उसमें चुनाव प्रणाली, चुने हुए प्रतिनिधियों का एक सीमित तथा निश्चित समय तक पदाधिकरण, जनता की आवाज़ आदि, का विशेष महत्त्व है।

जनतंत्रवाद केवल एक राजनीतिक विचारधारा नहीं। इसके अन्तर्गत आर्थिक तथा सामाजिक जनतंत्रवाद को भी सम्मिलित किया जाता है, जिसका प्रचार रूस में विशेष रूप से पाया जाता है। आर्थिक जनतंत्रवाद में देश की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति 'केवल थोड़े-बहुत पूँजीपतियों अथवा किसी विशिष्ट वर्ग के हाथ में' न होकर समस्त नागरिकों पर विस्तारित होती है। 'देश की आर्थिक व्यवस्था में सब का समान रूप से भाग होता है। धन से कोई कार्य निजी लाभ के लिए नहीं किया जाता, अपितु सभी नागरिकों के लाभ के लिए किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि व शक्ति के अनुकूल उसे काम करने को दिया जाता है।' सामाजिक जनतंत्रवाद का

तात्पर्य है कि सब व्यक्तियों को समान माना जाए—जाति, धर्म, जन्म अथवा रंग आदि के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर न किया जाए। 'सभी व्यक्तियों को अवसर की समानता प्रदान की जाती है चाहे वह किसी भी जाति, धर्म व वर्ग का क्यों न हो। ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करने की स्वतंत्रता दी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार-अभिव्यक्ति, कार्य, रचना, तथा परिवर्तन की स्वतंत्रता होती है।' इस प्रकार सम्पूर्ण जनतंत्रवाद के अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक एवम् आर्थिक तीनों क्षेत्रों में इस विचारधारा का समावेश हो जाता है। 'स्वतंत्रता के अतिरिक्त एक सच्चे प्रजातंत्रवादी राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की पूर्णता तथा सामाजिक, आर्थिक एवम् राजनीतिक क्षेत्रों में अपनी शक्ति (क्षमता) का पूर्ण प्रयोग करने का अवसर प्रदान किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान उसके निजी व्यक्तित्व के कारण किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति पर दृढ़ विश्वास किया जाता है। इसी विश्वास के कारण प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि जो कुछ भी उसका अपना है वह सब समाज की देन है। इस विचार से उसे (अपने समाज तथा) देश की सच्ची सेवा करने की प्रेरणा मिलती है।'

वास्तव में जनतंत्रवाद केवल राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक व्यवस्था भर नहीं है, वह एक विशिष्ट विचारधारा है, एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। उसमें एक विशेष प्रकार से सोचने तथा कार्य करने को प्रेरित किया जाता है। व्यक्ति अपनी बात कहने के साथ दूसरे को भी कहने का अधिकार देता है, और विचार-विमर्श द्वारा समस्याओं का हल निकाला जाता है। एक व्यक्ति ज़बरदस्ती अपने विचार दूसरों पर नहीं थोपता, न कोई दबाव-वश ही होकर कार्य करता है। अधिक व्यक्ति जो तय करते हैं वही सब को मानना होता है। व्यक्ति जहाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग होता है वहाँ वह दूसरों के प्रति अपना उत्तरदायित्व निबाहने के लिए भी उत्सुक रहता है। आपसी सम्बन्ध सौहार्द्र, आदान प्रदान, सहयोग तथा विश्वास पर आधारित होता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में सर्व सम्मति से जनतंत्रवाद की व्यवस्था को अपनाया गया है। यह कहने से केवल एक विशेष राजनीतिक व्यवस्था का बोध नहीं होना चाहिए, अपितु हमें इस व्यवस्था में वे सभी तत्त्व स्वीकार करने होंगे जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। जहाँ तक कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रश्न है भारत में इस प्रकार की जनतांत्रिक विचारधारा नवीन ही कही जाएगी। यद्यपि इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है कि प्राचीन काल

में हमारे देश में अनेक गण-राज्य स्थापित थे, अतः जनतंत्रवाद हमारे लिए कोई नितांत नवीन व्यवस्था नहीं, तथापि यह मानना पड़ेगा कि पिछले सैकड़ों वर्षों से देश में जो विचारधारा प्रधान रही वह एकतंत्र राज्य की थी। राजा ही प्रमुख था—प्रजा नहीं। और देश की अनेक सामाजिक इकाइयों, यथा परिवार, ग्राम, समाज आदि सभी में, ऊँचे-नीचे का भेद बराबर बना रहा है। धन, जाति, पद, स्त्री-पुरुष, धर्म आदि के भेद ने मनुष्य-मनुष्य में अंतर पैदा किया और यह अंतर निरंतर बढ़ता गया। इसी कारण देशवासियों के सोचने-विचारने तथा कार्य व व्यवहार करने की आदत ही कुछ इस प्रकार की पड़ गई है जिसमें ऊँचे-नीचे का ध्यान बराबर बना रहता है। घर में पति-पत्नी, समाज में ब्राह्मण-शूद्र, नगर में धनवान और भिखारी, दफ़्तर में अफ़सर और क्लर्क आदि अनेक उदाहरण इस प्रकार के मिल जाएँगे जो इस ऊँच-नीच की बात को स्पष्ट ही दर्शाते हैं। आज भी बहुत से लोग अपनी बात तो कहना चाहते हैं परन्तु दूसरे की नहीं सुनना चाहते, तथा जिस की लाठी उसकी भैंस वाली कहावत में विश्वास करते हैं। इस प्रकार की पृष्ठभूमि में जनतंत्रवाद की दार्शनिक विचारधारा की स्वीकृति तथा विस्तार का प्रयत्न हमारे देश में अनेक समस्याएँ खड़ी कर देता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जनतंत्रवाद की विचारधारा देश के लिए एक प्रकार से नई होते हुए भी हमारी दार्शनिक विचारधारा से पूर्णतया मेल खाती है। आदर्शवादी विचारधारा व्यक्ति के महत्त्व तथा उसके आदर-सम्मान, सहयोग, सम-भाव आदि पर आधारित है। जनतंत्रवाद भी इन्हीं को महत्त्वपूर्ण मानता है। अतएव, आदर्शवादी पृष्ठभूमि पर जनतंत्रवाद की भावना को फैलाने का प्रयत्न उतना कष्टसाध्य नहीं जितना कि समझा जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि धीरे-धीरे शैशवावस्था से ही बालकों, तथा वयस्कों में जनतंत्रवाद की विचारधारा में आस्था पैदा की जाय तथा उन्हें इसके अनुसार दैनिक जीवन में व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाए। यह कार्य शिक्षा ही कर सकती है। इसीलिए कहा जाता है कि नागरिकों का निर्माण तथा देश का भविष्य पाठशालाओं के हाथ में है। जिस प्रकार के नागरिक वहाँ से बनकर निकलेंगे वैसा ही देश तथा समाज का भविष्य होगा। हमारे जनतंत्रवाद की सफलता इस दिशा में पाठशालाओं के कर्त्तव्य पालन पर ही निर्भर करती है। यदि शिक्षा में जनतंत्रवादी विचारधारा व्याप्त है और यदि उसके द्वारा इस विचारधारा की पुष्टि होती है तो देश में जनतंत्रवाद सुरक्षित है अन्यथा नहीं। इसीलिए इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि शिक्षा देश के प्रति अपने इस कर्त्तव्य को निवाहने के लिए अग्रसर हो।

एक जनतंत्रवादी देश में शिक्षा का रूप अन्य-विचारवादी देश से भिन्न होता है। वहाँ शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति, पाठशाला-प्रबंध आदि सभी क्षेत्रों में जनतंत्रवाद के मूलभूत सिद्धान्तों का पालन होना अनिवार्य है। हमारी पाठशालाओं एवम् अध्यापकों को देश की परिस्थिति का यह परिवर्तन समझ कर इस दिशा में प्रयत्न करना आवश्यक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनेक वर्ष बाद भी हमारी पाठशालाओं में अभी वही पुरानी परिस्थिति व्याप्त है और यह प्रतीत होता है कि जनतंत्रात्मक विचारधारा का प्रवेश शिक्षा में अभी नहीं हुआ है। इसमें समय लगेगा, परन्तु शिक्षा से सभी सम्बन्धित लोगों को इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है कि जनतंत्रवादी शिक्षा की क्या विशेषताएँ हैं जिससे कि धीरे-धीरे उनकी प्राप्ति का प्रयत्न किया जा सके।

हम यह देख चुके हैं कि जनतंत्रवाद में जनता का राज्य होता है। अस्तु, जनतंत्रवाद की सफलता के लिए जनता में समझदारी, शिक्षा, अपना अच्छा-बुरा समझने की योग्यता, सच्चरित्रता, आदि होना आवश्यक है। कहावत है कि जनता को उसके अनुरूप ही शासक मिलता है। जनतंत्रवाद में तो यह कहावत और भी चरितार्थ होगी क्योंकि उसमें जनता ही अपने शासक चुनती है, और यह चुनाव जनता अपनी योग्यता के अनुसार ही कर पाएगी। अतएव, जनतंत्रवाद में सम्पूर्ण जनता अथवा प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुरूप शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। भारत में इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य रूप में प्राप्त हो। अन्य उन्नत देशों ने माध्यमिक शिक्षा तक सभी के लिए अनिवार्य कर रखी है, यथा रूस, अमरीका आदि। यह अनिवार्य शिक्षा निःशुल्क भी होती है जिससे कि धनाभाव के कारण कोई व्यक्ति इससे वंचित न रह जाए। प्रौढ़ों के लिए भी शिक्षा का प्रबंध किया जाता है। उनके लिए रात्रि पाठशालाएँ, अवकाशकालीन शिक्षा-शिविर, प्रौढ़-साहित्य आदि की व्यवस्था की जाती है। नेत्रहीन, बधिर, गूँगे, शारीरिक रोग अथवा बाधा से ग्रस्त बालकों के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था होती है। इस प्रकार जनतंत्रवाद में सभी वर्ग के लिए शिक्षा सुलभ की जाती है। शिक्षा का अधिकार सबको समान रूप से है, केवल कुछ व्यक्तियों को नहीं। यह सार्वजनीन शिक्षा जनतंत्रवाद के लिए उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी है, और शिक्षा का स्तर निरंतर ऊँचा करते रहना भी आवश्यक है।

जनतंत्रवाद का प्रभाव शिक्षा के उद्देश्यों पर भी पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता, अभिरुचि तथा क्षमता के अनुसार शिक्षा प्रदान करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षा में सभी प्रकार के उद्देश्यों का समावेश हो। एक-

तंत्र राज्य में शिक्षा का एक समान उद्देश्य सभी बालकों पर ज़बरदस्ती लागू कर दिया जाता है। हिट्लर व मुसोलिनी के राज्य में ऐसा ही हुआ था। परन्तु, जनतंत्रवादी शिक्षा में प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग ध्यान रखा जाता है और इसीलिए शिक्षा का एक उद्देश्य न होकर भिन्न व्यक्तियों को भिन्न उद्देश्य पालन की स्वतंत्रता होती है। इसके लिए भिन्न प्रकार की संस्थाओं की आयोजना होती है जिससे प्रत्येक को अपने उद्देश्य-प्राप्ति की सुविधा हो। एक ही पाठशाला में अनेक प्रकार के पाठ्य-विषयों तथा कार्यक्रमों की आयोजना करके बालकों के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। शिक्षा के किसी भी उद्देश्य को दूसरे से नीचा व ऊँचा नहीं समझा जाता, सब की मान्यता समान स्तर पर होती है।

परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति में कोई समान तत्त्व होते ही नहीं। जनतंत्रवादी शिक्षा देश के सभी नागरिकों में कुछ ऐसे गुण समान रूप में पैदा करने का प्रयत्न करती है जिससे व्यक्ति जनतंत्रवादी राज्य के नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का पालन कर सके ; वह अपने नैसर्गिक गुणों के विकास के साथ ही साथ सामाजिक दायित्वों को भी निबाह सके। 'सारांश यह कि प्रजातंत्रवादी राज्य की शिक्षा तथा लोकाभिमुख शिक्षण प्रणाली का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक विद्यार्थी को सच्चा प्रजातंत्रवादी नागरिक बनाना होता है। एक सच्चा प्रजा-तंत्रवादी नागरिक प्रत्येक सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्या को समझता है, अपने विषय में सोचने, व निर्वाचन करने की शक्ति (योग्यता) रखता है, अपने आभारों व दायित्वों को भली भाँति समझता है, तथा सहिष्णु होता है। संक्षेप में सच्चा प्रजातंत्रवादी व्यक्ति वह है जो जीवन की समस्त क्रियाओं तथा जीवन के समस्त दृष्टिकोणों के प्रति रचनात्मक अभिवृत्ति रखता हो।' जनतंत्रवादी शिक्षा इसी समान-उद्देश्य को लेकर क्रियाशील होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि जनतंत्रवादी शिक्षा में प्रत्येक बालक का व्यक्तित्व भिन्न माना जाता है और उसे विशेष महत्त्व दिया जाता है। जनतंत्रवाद की एक मुख्य विशेषता शिक्षा में बालक को प्रमुख स्थान देने की है। कक्षा के प्रत्येक बालक को भली भाँति जानना और समझना, उसकी अभिरुचियों तथा शक्तियों का सही-सही ज्ञान प्राप्त करना, उसकी घर तथा वातावरण की विशेष-ताओं तथा कठिनाइयों से अवगत होना, और उसकी व्यक्तिगत समस्याओं का सहानुभूति पूर्ण अध्ययन करना शिक्षक के लिए आवश्यक माना गया है। इसी आव-श्यकता के कारण शिक्षक को बाल-मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए। पाठशाला में मंद-बुद्धि तथा शारीरिक बाधाओं से पीड़ित बालकों के लिए भी विशेष पाठ्यक्रम

तथा विधियों का आयोजन होता है। शिक्षक प्रत्येक बालक पर पूरा ध्यान देते और उनकी अधिकतम उन्नति एवम् विकास के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

जनतंत्रवादी शिक्षा में शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि शिक्षक अपने जनतंत्रवादी विचारों तथा सद्-व्यवहार द्वारा बालकों में जनतंत्रवाद का प्रसार बड़ी सरलता से कर सकता है। जनतंत्रवाद में उसका दृढ़ विश्वास और उसकी योग्यता ही इन विचारों को फैलाने की सबसे बड़ी शक्ति है। यही नहीं, पाठशाला के बाहर समाज में भी अध्यापक अपने विचारों का प्रसार कर तथा अपने व्यक्तित्त्व के प्रभाव से जनतंत्रवाद की नींव सुदृढ़ कर सकता है। इसी कारण जनतंत्रवाद में अध्यापक का नेतृत्त्व पाठशाला के साथ-साथ बाह्य समाज को भी सुलभ होता है। इस प्रकार वह समाज तथा पाठशाला को निकटतम लाने में भी सहायक होता है।

परन्तु, शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण होने पर भी वह बालकों के लिए ताना-शाह नहीं होता। जनतंत्रवाद में शिक्षक अपने शिक्षार्थियों का मित्र तथा सहायक होता है। वह कक्षा में राज्य नहीं करता, न विद्यार्थी उसके डर से भयभीत रहते हैं। अपितु, वह सब बालकों के सहयोग से, उन्हें ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रेरित कर, सामूहिक रूप में उन्हें आगे ले चलता है। अपने ज्ञान व चरित्र बल से वह बालकों में आदर की भावना पैदा करता है, उनका स्नेह-भाजन बनता है, और अपने विशद् अनुभव के कारण शिक्षार्थी उससे नेतृत्त्व तथा बल प्राप्त करने के लिए आतुर रहते हैं। जिन जनतंत्रवादी विचारों का वह प्रसार करना चाहता है उनमें उसका अडिग विश्वास होता है, तथा वह स्वयं होता है उन सब आदर्शों का एक ज्वलंत उदाहरण।

जनतंत्रवादी शिक्षक में उपर्युक्त मान्यताएँ तथा गुण होने से पाठशाला में विनय की समस्या बड़ी आसानी से सुलझ जाती है। यह समस्या वास्तव में दो कारणों से पैदा होती है: एक तो प्रत्येक बालक पर व्यक्तिगत ध्यान न दिया जाना, और दूसरे, बालकों को अपना उत्तरदायित्व सँभालने के लिए प्रशिक्षित न करना। जन-तंत्रवादी शिक्षा में इन दोनों बातों का ध्यान रखा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति पर सम्यक् ध्यान देने के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। उत्तरदायित्व-वहन की क्षमता पैदा करना तथा बालकों को इस दिशा में अधिकाधिक अनुभव देना जनतंत्रवादी शिक्षा की विशेषता है। पाठ्यविषयांतर क्रियाओं की आयोजना, कक्षा-समितियाँ, शिक्षालय परिषद, पाठशाला की अनेक सभा-समितियों का चुनाव, पाठशाला-प्रबन्ध में विद्या-र्थियों का सहयोग आदि की आयोजना इसीलिए की जाती है कि वे इनमें भाग लेकर आगे समाज में इन कार्यों को करने की योग्यता एवम् अनुभव प्राप्त करें। 'इनसे यह

पता चलता है कि यदि विद्यार्थियों को शिक्षालय के शासन में भाग लेने का अधिकार दिया जाता है तो वे नियमों आदि की आवश्यकता समझने लगते हैं। बालक यह समझता है कि वह शिक्षालय के समाज का एक सदस्य है, जिन नियमों का वह पालन करता है वे उसके हैं, अतः वह उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है। यह आत्मानुशासन प्रजातंत्रवादी अनुशासन का रूप है।' इन विभिन्न क्रियाओं द्वारा प्रत्येक विद्यार्थी अपने दायित्त्व को निबाहने तथा दूसरों के साथ सहयोग करके वास्तविक जीवन में भाग लेने की शिक्षा प्राप्त करता है। यहाँ शिक्षा का मंडनात्मक रूप विशेष कर स्पष्ट होता है।

जनतंत्रवादी शिक्षा में पाठ्यक्रम का रूप भी बदल जाता है। चूँकि जनतंत्रवादी शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक बालक को उसकी रुचि तथा क्षमता के अनुसार विकसित करना होता है, इसलिए पाठ्य-क्रम भी इतना विस्तृत तथा नम्य होता है कि उससे बालकों के विविध उद्देश्यों की पूर्ति संभव हो। पाठशाला में अनेक अथवा अधिक पाठ्य-विषयों को पढ़ाने का प्रबन्ध होता है और विद्यार्थियों को अपनी इच्छानुसार उपयुक्त विषय चुनने की स्वतंत्रता रहती है। कुछ विषय सभी के लिए आवश्यक होने के कारण अनिवार्य रूप में निर्धारित किए जाते हैं, परन्तु बहुत से विकल्प रूप में रहते हैं जिनका प्रवरण विद्यार्थी अपनी रुचि तथा आवश्यकतानुसार करते हैं। अमरीकी माध्यामिक पाठशालाओं में तो इन विषयों की संख्या १५०-२०० तक पहुँच जाती है जिससे सभी बालकों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उपयोगी विषयों का प्रवरण करने में आसानी होती है। जहाँ एकतंत्र शासन में कुछ पूर्व-निश्चित पाठ्य-विषय सभी के लिए उपयोगी मान कर सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक कर दिए जाते हैं, वहाँ जनतंत्रवादी शिक्षा में विषयों के प्रवरण में बालक तथा उनके अभिभावकों की स्वतंत्रता मान्य होती है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति भी यह पाठ्य-क्रम करता है और पाठ्य-विषय सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से भी प्रस्तुत किए जाते हैं।

जनतंत्रवादी शिक्षा में शिक्षण पद्धति तथा विधियाँ भी दूसरे प्रकार की होती हैं। इनमें आदेश अथवा बल का प्रयोग नहीं किया जाता। अध्यापक बालकों का मित्र एवम् पथ-प्रदर्शक होता है, एकतंत्र शासक नहीं। अतएव, उसकी शिक्षण-पद्धति भी शासन अथवा ज़बरदस्ती पर आधारित नहीं होती। विद्यार्थियों को कोई बात ज़बरदस्ती मानना ही पड़ेगा क्योंकि शिक्षक कह रहा है—यह दृष्टिकोण जनतंत्रवादी नहीं है। अतएव, इस शिक्षा में वार्तालाप, प्रश्नोत्तर विचार-विमर्श, सामूहिक विवेचन आदि को प्रधानता दी जाती है। इन सब में अध्यापक आवश्यकतानुसार समय-समय

पर विद्यार्थियों को सहारा और सुझाव देकर उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता है। ज्ञान का अन्वेषण बालक स्वयं अपने प्रयत्न से करता है। इस प्रकार जनतंत्रात्मक शिक्षण प्रणाली में बालक के व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत आवश्यकताओं का ध्यान तो रखा ही जाता है, उनकी सामाजिक भावना को भी कम महत्त्व नहीं दिया जाता।

जनतंत्रवादी पाठशाला का शासन-प्रबंध भी जनतंत्रात्मक होता है। प्रधानाध्यापक डिक्टेटर नहीं होता; वह अन्य अध्यापकों का सहयोगी तथा पथ-प्रदर्शक होता है। पाठशाला का प्रबंध प्रधानाध्यापक, अन्य अध्यापक, कर्मचारी तथा विद्यार्थी सभी मिलकर करते हैं और थोड़ा-थोड़ा उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लेकर एक दूसरे का हाथ बटाते हैं। निरीक्षक भी आलोचक न होकर रचनात्मक सहयोगी होता है। इस सहकारिता की भावना के कारण सब लोग अपने को शासन का अंग समझते हैं और पाठशाला की उन्नति में तत्पर रहते हैं। इसके लिए अध्यापकों, विद्यार्थियों आदि की अनेक कमेटियाँ बनाई जाती हैं और उन्हें भिन्न-भिन्न दिशाओं में देख भाल की ज़िम्मेदारी सौंप दी जाती है। वास्तव में अकेला प्रधानाध्यापक पाठशाला का शासन प्रबंध चला भी नहीं सकता। पाठशाला के हित में उसे सबका सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है। और यह सहयोग भय के कारण नहीं अपितु हार्दिक इच्छा से मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनतंत्रवादी शिक्षा में शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति, पाठशाला- प्रबंध आदि सभी पर यह प्रभाव परिलक्षित होता है और इन सभी में जनतंत्रवाद के गुण पाए जाते हैं। यहाँ हमें यह देखना है कि जनतंत्रवाद की विचार धारा अपनाने के बाद हमारे देश की शिक्षा में जनतंत्रवादी प्रभाव कहाँ तक प्रविष्ट हो पाया है और हमें इस दिशा में अभी और कितना आगे बढ़ना है। एक जनतंत्रवादी देश की शिक्षा पूर्णतया जनतंत्रवादी होनी चाहिए, परन्तु यदि हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था पर ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि अभी इस दिशा में बहुत कुछ करना शेष है। देश में शिक्षा अभी सार्वजनीन नहीं हो पाई है। ६ और ११ वर्ष के बीच की अवस्था वाले सभी बालकों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध अभी नहीं हो पाया है। धन, जाति, बालक-बालिका का भेद अभी शिक्षा के क्षेत्र में बना हुआ है। पाठशालाओं में विविध रुचि तथा आवश्यकताओं के आधार पर विभिन्न बालकों की शिक्षा का समुचित प्रबंध नहीं है। वहाँ सीमित पाठ्यक्रम ही पाया जाता है और बालकों को मजबूर होकर वे विषय पढ़ने पड़ते हैं, चाहे इनमें उनकी रुचि हो अथवा नहीं। मंद-बुद्धि, तीव्र बुद्धि, शारीरिक बाधाओं से ग्रस्त (अंधे, बहरे-गूँगे आदि) बालकों के लिए पूर्ण व्यवस्था नहीं हो पाई है। अध्यापक अभी भी पुरानी आदेशात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हैं। पाठशाला के शासन प्रबंध में उनका तथा विद्या

थियों का हाथ नहीं के बराबर है और पाठशाला-निरीक्षक तथा प्रधानाध्यापक अभी भी एकतंत्र शासकों की तरह राज करते हैं। परन्तु, यह सब होते हुए भी यह कहना उचित होगा कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से देश की शिक्षा में जनतंत्रवाद का प्रवेश अवश्य हुआ है, और उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में थोड़ी-बहुत प्रगति अवश्य दिखाई पड़ती है। अभी इस दिशा में बहुत कुछ कार्य करना है जिसके लिए समय तथा प्रयत्न की आवश्यकता है।

यह निश्चित है कि यदि हमें देश में जनतंत्रवाद को सुदृढ़ बनाना है तो यह काम शिक्षा द्वारा ही भली-भाँति हो सकता है। पाठशाला के जनतंत्रात्मक वातावरण में वर्षों तक रहकर ही बालक जनतंत्रवादी नागरिकों के रूप में पनप सकते हैं और वे तभी समाज में जनतंत्रवादी भावना का प्रसार तथा प्रयोग कर सकते हैं। अस्तु, देश में जनतंत्रवाद का भविष्य निश्चय ही पाठशालाओं के हाथ में है। जनतंत्रवादी समाज का प्रभाव पाठशाला पर पड़ता है और वहाँ की व्यवस्था को परिवर्तित कर देता है, तथा पाठशाला की जनतंत्रवादी व्यवस्था अंत में समाज को प्रभावित करती और देश में जनतंत्रवाद को सुदृढ़ बनाती है। समाज तथा पाठशाला के इस आपसी सम्बंध का हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए

अध्याय १५

शिक्षा के साधन

शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयत्न में अनेक छोटे-बड़े उपकरणों का प्रयोग किया जाता है ; इन्हें शिक्षा के साधन कहते हैं। शिक्षा के साधन वे वस्तु, संस्था तथा प्रयोग हैं जिनकी सहायता से शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति सहज एवम् संभाव्य होती है। इस दृष्टि से शिक्षा के साधनों का महत्त्व बहुत अधिक है, यद्यपि उन्हें शिक्षा के उद्देश्यों से भिन्न स्तर पर मानना पड़ेगा। वे स्वयं साध्य नहीं बन सकते। शिक्षा में प्रायः यह दोष दिखाई पड़ता है कि लोग साधन को ही अपना लक्ष्य मान बैठते हैं। परिणामस्वरूप निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति तो दुःसाध्य होती ही है, हमारा ध्यान भी उद्देश्यों पर से हट कर उनकी प्राप्ति के उपकरणों में भटक जाता है। ग़लत वस्तुओं पर बल देने तथा वास्तविक स्थिति को भली भाँति न समझ पाने से परिश्रम का घोर अपव्यय होता है। अतएव, प्रारम्भ से ही हमें यह निश्चित तथा स्पष्ट रूप में जान लेना चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए किन साधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

शिक्षा के विभिन्न साधनों में हमारा ध्यान सर्वप्रथम शिक्षा-संस्थाओं की ओर जाता है। शिक्षा-संस्था वह स्थल है जहाँ शिक्षण की प्रक्रिया विशेष रूप से परिचालित होती है। इस दृष्टि से शिक्षा-संस्था अथवा शिक्षालय के वाह्य अथवा स्थूल रूप से कोई अंतर नहीं पड़ता। शिक्षालय की इमारत चाहे छोटी हो या बड़ी उसे शिक्षा-संस्था ही कहा जाएगा। वृक्षों के नीचे बैठ कर भी शिक्षा दी जा सकती है ; शान्ति-निकेतन में ऐसी ही व्यवस्था है। उसे भी हम शिक्षा-संस्था कहते हैं। शिक्षण-प्रक्रिया की दृष्टि से छोटी-बड़ी इमारत, खुले मैदान, वन-उपवन आदि में कोई अंतर नहीं ; यदि वहाँ किसी न किसी रूप में शिक्षण-प्रक्रिया परिचालित होती है तो उन्हें शिक्षा-संस्था ही कहा जाएगा। प्राचीन भारत में गुरुकुलों तथा आश्रमों की व्यवस्था छोटे

पैमाने पर थी परन्तु वे शिक्षा-संस्थाएँ अपनी शिक्षा के लिए देश भर में प्रसिद्ध थीं। दूसरी ओर नालंद, तक्षशिला जैसे महान् विश्वविद्यालयों को भी शिक्षा-संस्था ही कहा जाएगा।

शिक्षा-संस्थाओं में केवल शिक्षण-प्रक्रिया का परिचालन ही महत्वपूर्ण नहीं। उनमें शिक्षा के विविध अंग सामूहिक रूप में एक ऐसा वातावरण निर्मित कर देते हैं जो वहाँ की अपनी निजी विशेषता बन जाता है। इसी वातावरण के रूप में शिक्षा-संस्था का प्रस्फुटन होता है। प्रत्येक संस्था की अपनी एक निजी विशेषता होती है। शिक्षार्थी बहुत-कुछ शिक्षा इसी वातावरण से प्राप्त करते हैं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का महत्त्व इसी में है कि वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय है और वहाँ का वातावरण दूसरे स्थानों से भिन्न एक विशेष प्रकार का है।

शिक्षा-संस्था के वातावरण का निर्माण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने में शिक्षा के अन्य साधनों का भी महत्वपूर्ण भाग है। इनमें शिक्षक का स्थान विशेष महत्व का है। संस्था के समस्त शिक्षण-कार्य का नेतृत्त्व, शिक्षा-सामग्री का प्रवरण, समुचित शिक्षा-व्यवस्था, परिस्थिति-उपयोजन तथा कक्षा में अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया का संचालन आदि सब-कुछ उसी को करना होता है। उसके व्यक्तित्व का प्रभाव शैक्षिक वातावरण निर्मित करने में विशेष योग देता है। फिर भी हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि बालक के विकास तथा शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिक्षक एक सहायक के रूप में है। इसीलिए हम उसे साधन अथवा बालक के शैक्षिक वातावरण का प्रमुख अंग कहते हैं, और इसी रूप में उसका महत्व मान्य होना चाहिए। इस विषय का सम्यक् विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

शिक्षा का तीसरा साधन पाठ्य-विषय हैं। शिक्षा किसी विषय की ही दी जाती है और यह ज्ञान-भांडार बालक की शिक्षा तथा उसके विकास में सहायक सिद्ध होता है। पाठ्यक्रम अथवा पाठ्यविषयों के रूप में इसका प्रयोग बालक की शिक्षा में बराबर होता है। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम शिक्षक के हाथ में शिक्षा की उद्देश्य-प्राप्ति में उपकरण-रूप में प्रयुक्त होता है। इसीलिए हम उसे शिक्षा का साधन मानते हैं, साध्य नहीं। प्रायः इस भेद को भूलकर पाठ्यविषयों और पाठ्यपुस्तकों को स्वयं अपने में ही शिक्षा का लक्ष्य मान लेने की ग़लती की जाती है, और इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। अतएव, यह स्पष्टतया जान लेना आवश्यक है कि पाठ्यक्रम की उपयोगिता बालक की शिक्षा के हितार्थ है, वह केवल साधनमात्र है, और उसे इसी दृष्टि से महत्व मिलना चाहिए।

शिक्षा के इन साधनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे छोटे-मोटे उपकरण भी होते हैं जिनका प्रयोग शिक्षक अपने शिक्षण-कार्य में करता है। इन्हें शिक्षा का साधन न कह-

कर शिक्षण-सामग्री कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि ये शिक्षक के हाथ में उसकी इच्छानुसार प्रयुक्त सहायक वस्तुएँ ही हैं, उदाहरणार्थ, कक्षा में प्रयुक्त श्यामपट, दीवार पर टाँगने के मानचित्र, तस्वीरें, फ़िल्म प्रोजेक्टर, रेडियो इत्यादि। शिक्षक इस सामग्री का प्रणयन पाठ्यविषयों को सरल तथा ग्राह्य बनाने के लिए करता है। इससे पाठ की रोचकता भी बढ़ती है; परन्तु, इस सामग्री की उपयोगिता तभी तक है जब तक कि वह पाठ को सुस्पष्ट, सरल तथा रोचक बनाने में सहायक हो। आवश्यक न होते हुए भी केवल नाम तथा आभूषण के लिए इसका प्रयोग भारस्वरूप हो जाना स्वाभाविक है।

आगे के अध्यायों में हम शिक्षा के उपर्युक्त साधनों का क्रमशः विवेचन करेंगे। यहाँ शिक्षा-संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। शिक्षा-संस्थाओं के दो रूप होते हैं: अविधिक तथा सविधिक। अविधिक शिक्षा-संस्थाएँ वे हैं जहाँ विधिवत् शिक्षा प्रदान करने का कोई विधान नहीं होता। घर, समाज, राज्य तथा धर्म—इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। बालक तथा वयस्क इन संस्थाओं द्वारा जीवन पर्यन्त शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु इनकी शिक्षा सहज, स्वाभाविक तथा आडम्बर-हीन होती है। यहाँ तक कि बहुत से लोग उन्हें शिक्षा-संस्थाएँ मानते भी नहीं क्योंकि उनकी व्यवस्था विशेष ढंग से नहीं होती। दूसरी ओर, पाठशाला सविधिक शिक्षा-संस्था है क्योंकि उसकी व्यवस्था केवल शिक्षा प्रदान करने के लिए ही होती है, और यह शिक्षा-संयोजना नियमबद्ध तथा विशिष्टरूप में होती है।

वेदकालीन भारत में परिवार ही एकमात्र शिक्षा-संस्था था। वैदिक शिक्षा पारिवारिक रूप से व्यवस्थित थी। आज की पाठशालाओं के सदृश सविधिक शिक्षा-संस्थाओं का जन्म उस समय तक नहीं हुआ था। समाज का रूप सरल एवम् सूक्ष्म था, अतः शिक्षा भी दैनिक जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध थी। कालांतर में समाज के विकास के साथ-साथ जीवन की जटिलता बढ़ने लगी और केवल पारिवारिक शिक्षा जीवन के लिए यथेष्ट नहीं रही। इसीलिए आगे चलकर गुरुओं के आश्रम अथवा गुरुकुल शिक्षा संस्था के रूप में प्रचलित एवम् प्रसिद्ध हुए। इन आश्रमों में प्रधानतया घर का ही वातावरण पाया जाता था। इसलिए हम इन्हें परिवार का ही विकसित रूप मान सकते हैं। किन्तु, साथ ही साथ उनके संगठन में सविधिक प्रणाली का भी पदार्पण हो गया था और इसीलिए वे आगे आने वाली सविधिक शिक्षा-संस्था—पाठशाला—के पूर्वरूप कहे जा सकते हैं।

समाज के और अधिक विकसित एवम् विस्तृत हो जाने से गुरुकुलों की छोटी-छोटी शिक्षा-संस्थाएँ अपने कार्य के लिए यथेष्ट नहीं रहीं। शिक्षार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और परिवार तथा माता-पिता बालक को केवल प्रारंभिक

शिक्षा ही दे पाते थे। उच्च एवम् विशिष्ट शिक्षा प्रदान करना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। इसीलिए बौद्धकाल में हम नालंद, तक्षशिला आदि के समान विशाल और सुव्यवस्थित शिक्षा-संस्थाओं का रूप पाते हैं। उनमें शिक्षा अपेक्षाकृत अधिकाधिक सविधिक होने लगी थी यद्यपि वहाँ कुछ सीमा तक पारिवारिक वातावरण भी पाया जाता था। यह निश्चित है कि जहाँ सहस्रों की संख्या में विद्यार्थियों का जमाव हो वहाँ पारिवारिक वातावरण बनाना अत्यंत कठिन होता है, फिर भी इन विद्यालयों में ऐसा वातावरण काफ़ी अंशों में वर्तमान था। घर तथा विद्यालय—दो शिक्षा-संस्थाओं का यह सुखद संयोजन शिक्षार्थियों के लिए विशेष लाभदायक था।

मध्यकाल में सविधिक शिक्षा-संस्थाओं का परिपक्व रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया। पाठशालाएँ, मकतब, मदरसे इत्यादि देश में शिक्षा-संस्थाओं के रूप में अपना निश्चित स्थान बना चुके थे। उनमें पारिवारिक वातावरण का अभाव था तथा शिक्षा कृत्रिम एवम् अवैज्ञानिक ढंग से दी जाती थी। इस कारण शिक्षा तथा जीवन का सम्बंध कम हो गया। बालकों के अभिभावक उन्हें मकतब अथवा पाठशाला में भेज कर अपने कर्तव्य को पूर्ण समझ लेते थे यद्यपि अधिकांश परिवार बालकों के प्रति इतना कर्तव्य भी नहीं निबाह पाते थे। व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में घर की संस्था का कर्तव्य अवश्य महत्त्वपूर्ण था। विशिष्ट व्यावसायिक शिक्षालयों का प्रबन्ध न होने के कारण बालक औद्योगिक शिक्षा अपने-अपने घरों में रहकर ही प्राप्त करते थे। उदाहरणार्थ, बढ़ई, कुम्हार, सुनार आदि के बालक घरों में परिवार के सदस्यों की सहायता करके अपने पैतृक व्यवसाय में दीक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी पिता अपने पुत्र को पैतृक व्यवसाय की परम्परागत शिक्षा देता चलता था। अतएव, यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में शिक्षा-संस्था के रूप में घर अपना उत्तर-दायित्व कुछ अंश तक अवश्य निबाह रहा था।

शिक्षा-संस्था के रूप में समाज का जो उत्तरदायित्व हम वर्तमान युग में आवश्यक समझते हैं वह मध्यकाल में अज्ञात था। आज की सी सामाजिक शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था उस काल में नहीं थी। इसका कारण यही है कि उस समय सामाजिक व्यवस्था अत्यंत विशृङ्खल थी और समाज आज जैसा सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित नहीं था। राष्ट्रीय भावना के अभाव में लोग अपने को सामाजिक इकाई का अनिवार्य अंग नहीं समझते थे। परन्तु, फिर भी ग्रामों आदि में छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयाँ अवश्य थीं जिन के द्वारा संचालित अलग-अलग पाठशालाओं का उल्लेख इतिहास में मिलता है। जाति के आधार पर एक जाति के लोगों में अवश्य कुछ सामाजिक एकता का भाव वर्तमान था, परन्तु वह एकता इतनी परिदृढ़ तथा बन्धनयुक्त थी कि

शिक्षा पर उसका प्रभाव हानिकारक ही सिद्ध हुआ। इसी परम्परा के अनुसार आज भी हमारे देश में सामाजिक संस्थाओं के स्थान पर जातीय शिक्षा-संस्थाओं का प्रचलन है।

आदि तथा मध्यकाल में शिक्षा के प्रति राज्य का उत्तरदायित्व सीमित था। आदि काल में तो हम बराबर इस बात का उल्लेख पाते हैं कि शासकगण शिक्षा-संस्थाओं तथा शिक्षित व्यक्तियों को भरसक आर्थिक सहायता देते थे। विद्या के लिए दिया गया दान सर्वोच्च दान कहलाता था और राजाओं के इस दान से छोटी-बड़ी अनेक संस्थाएँ बिना कठिनाई के चलती रहती थीं। मध्यकाल में दिल्ली के सुलतानों तथ मुग़ल बादशाहों ने अनेक शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं और उन्हें आर्थिक सहायता दी। विद्वानों तथा गुणी जनों का राज्य द्वारा सम्मान किया जाता था। परन्तु, आदि और मध्य दोनों युगों में आर्थिक सहायता के उपलक्ष में राज्य ने शिक्षा-संस्थाओं की आन्तरिक व्यवस्था में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। उनकी व्यवस्था पूर्णतया शिक्षकों के अधिकार में थी।

मध्यकालीन शिक्षा-संस्थाओं में धर्म का स्थान और भी अधिक परिपुष्ट हो गया। शिक्षा तथा धर्म का यह सम्बन्ध आदि काल से ही प्रारंम्भ हो गया था और उत्तरोत्तर निकटतर होता गया। मध्यकाल में तो यह सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया—यहाँ तक कि मन्दिर से पृथक किसी पाठशाला तथा मस्जिद से पृथक किसी मकतब का अस्तित्व ही नहीं माना जाता था। शिक्षा-संस्थाओं का पाठ्यक्रम प्रधानतया धार्मिक था और बालकों को मुख्य रूप से धार्मिक ग्रंथ ही पढ़ाए जाते थे। शिक्षा तथा धर्म का यह सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अभी तक चला आ रहा है और विभिन्न धार्मिक संस्थाएँ अपने प्रचार-कार्य में शिक्षा-संस्थाओं का संचालन प्रधान कृत्य समझती हैं।

वर्तमान युग में समाज का रूप बहुत कुछ बदल गया है। सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार विविध प्रकार की सविधिक शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं। परिवार की रचना तथा आकार में परिवर्तन हो रहे हैं जिनसे उसके शैक्षिक उत्तरदायित्व में भी परिवर्तन हो रहा है। शैशवावस्था से ही बालक की शिक्षा परिवार के स्थान पर शिक्षालय द्वारा प्रतिपादित होने का प्रचलन बढ़ रहा है। राज्य की संस्था का रूप ही दूसरा हो गया है और उसके शैक्षिक उत्तरदायित्व भी बहुत-कुछ विस्तृत हो गए हैं। शिक्षा-संस्था के रूप में धर्म के महत्व तथा उपयोग पर विचारकों में बहुत मतभेद है और उसे संक्रमणकाल में होकर गुज़रना पड़ रहा है। शिक्षा-संस्थाओं की इन्हीं समस्याओं का विवेचन हम आगे कुछ अध्यायों में करेंगे।

अध्याय १६
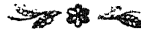
शिक्षा-संस्था के रूप में घर

घर का महत्व सभी प्राणियों के जीवन में अत्यधिक है। पशु, पक्षी, यहाँ तक कि छोटे-छोटे जीव-जन्तु भी परिवार में जन्म लेते, पलते तथा शिक्षा प्राप्त करते हैं। मनुष्य के लिए तो घर का महत्व अपेक्षाकृत और भी अधिक है। वह परिवार में रह कर केवल आत्म-विकास ही नहीं करता अपितु अपने परिवार की सांस्कृतिक निष्पत्ति को आत्मसात् तथा उसकी वृद्धि में अपना योगदान कर आगे आने वाली संतान को उनके हितार्थ सौंपा जाता है। वास्तव में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की नींव घर में ही पड़ती है और घर का प्रभाव व्यक्ति के जीवन-पर्यन्त स्थायी रहता है।

बालक की शिक्षा में घर का स्थान प्रमुख है। केवल मानव-शिशु के लिए ही नहीं अपितु पशु-पक्षी आदि के लिए भी घर का शैक्षिक महत्व असाधारण है। कुत्ते, बिल्ली प्रारम्भ से ही अपने बच्चों को आत्मरक्षा, दौड़ने, शिकार करने आदि की शिक्षा देने लगते हैं। छोटे-छोटे बच्चों को उड़ने तथा दाना चुगने की शिक्षा पक्षियों द्वारा घर में ही प्राप्त होती है। लेकिन, कुछ प्राकृतिक कारणों से मानव-शिशु के लिए घर की महत्ता और भी अधिक बढ़ जाती है। पशु-पक्षियों के बच्चे जन्म के बाद शीघ्र ही आत्मनिर्भर होने लगते हैं। पक्षियों के बच्चे जन्म के कुछ दिनों बाद ही अपने घोसलों से निकल कर दाना चुगने का प्रयत्न करने लगते हैं। बिल्ली, कुत्तों के बच्चे महीने भर के भीतर चलने, कूदने और शिकार करने योग्य बन जाते हैं। गाय का बछड़ा जन्म से ही पैरों पर खड़ा होने लगता है। परन्तु, इसके विपरीत मानव-शिशु जन्म के बाद वर्षों तक अपने माता-पिता पर निर्भर रहता है और पूर्ण वयस्क होने पर ही अपना जीवन आत्म-निर्भर बना पाता है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि बड़े हो जाने पर भी दूसरों के सहारे जीवन निर्वाह करते रहते हैं। पशु-जगत की अपेक्षा मानव-

जगत में इस विशेष प्राकृतिक कारण से शिशु के लिए परिवार का उत्तरदायित्व अधिक विस्तृत एवम् गंभीर हो जाता है।

एक और भी बात है। पशु-पक्षी आदि के बच्चों में आत्म-निर्भरता अति शीघ्र आने के कारण उनका घर तथा परिवार अपेक्षाकृत अल्पकालीन होता है। जैसे ही उनके बच्चे आत्म-निर्भर हुए कि कठोर लगन तथा परिश्रम से बनाया हुआ नीड़ छिन्न-भिन्न हो जाता है। दूसरी ओर, प्राकृतिक कारणों से ही मानव परिवार का अपेक्षाकृत स्थायी होना आवश्यक है जिससे पराश्रयता के लम्बे समय में बालक की उचित देख-भाल, शिक्षा-दीक्षा हो सके।

सब शिक्षा-संस्थाओं में घर को प्राचीनतम कहा जा सकता है। जीवन के साथ ही उसका प्रारम्भ हुआ होगा। किन्तु, शनैः शनैः आज उसका रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है और इतने समय बाद आदियुग के परिवार की रूपरेखा की कल्पना करना भी कठिन है। बर्बरता के युग में मनुष्य अपना जीवन पशु-स्तर पर व्यतीत करता था, किन्तु तब भी परिवार का महत्त्व कम नहीं था। उस समय विवाह-प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था और अनेक स्त्रियों तथा अनेक पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करने में मनुष्य पशु के समान ही स्वच्छंद था। इस प्रकार के अव्यवस्थित परिवार से नवजात शिशु के पालन-पोषण में बहुत कठिनाई होती थी और परिणाम-स्वरूप मानव-परिवार को अधिक स्थायी बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

आधुनिक परिवार का मूलाधार विवाह-प्रथा है। विवाह के बिना घर नहीं बसता। अविवाहित लोगों को प्रायः बिना घर-बार का कहा जाता है। विवाह द्वारा स्त्री पुरुष सम्मिलित होकर नवागंतुक बालक के स्वागतार्थ घर का सुरम्य वातावरण निर्मित करते हैं। बालक के समुचित पालन-पोषण एवम् शिक्षा की दृष्टि से इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि घर अधिकाधिक स्थायी बना रहे, और मानव-समाज इसी स्थायित्त्व के रक्षार्थ एक पति तथा एक पत्नी की प्रथा की ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहा है। सभ्यता के इस युग में भी मानव इस लक्ष्य को पूर्णतया प्राप्त नहीं कर पाया है क्योंकि जहाँ विवाह-प्रथा घर का निर्माण करती है वहाँ विच्छेद की विरोधी शक्ति उसे छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न करती है। विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह द्वारा अन्य बातों की अपेक्षा बालक की शिक्षा में अधिक व्याघात पहुँचता है। उनसे परिवार का स्थायित्त्व तो नष्ट होता ही है सौतेले माँ-बाप के कारण बालक का जीवन कितना कष्टमय हो जाता है यह सर्वविदित है। अतः यह आवश्यक है कि पारिवारिक सम्बन्ध एवम् स्थायित्व को क्षीण करने वाली इन विरोधी शक्तियों का सामना किया जाए।

भारतीय परिवार की विशेषता सम्मिलित कुटुम्ब की रही है। इसमें परिवार के सभी सदस्य, नाते रिश्तेदार, एक साथ सम्मिलित रहते हैं और यह देखा गया है कि किन्हीं-किन्हीं परिवारों में सब सदस्यों की संख्या १००-१५० तक पहुँच गई है। इस प्रकार के परिवार में बालक पर कुटुम्ब का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, तथा अन्य बालकों आदि के साथ रहकर उसे आपसी सहयोग, सौहाद्र, सामंजस्य आदि की शिक्षा अनायास ही मिल जाती है। अनाथ बालकों का पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार के परिवारों में सहज हो जाती है। इसी प्रकार वृद्धों की उचित देख भाल भी संभव है। परन्तु, अब अनेक कारणों से, विशेषकर शहरों में, सम्मिलित परिवार की प्रथा हट रही है, और हर एक परिवार छोटी-छोटी इकाई के रूप में स्थित होने लगा है। यह प्रथा पश्चिम में सामान्य रूप में पाई जाती है और जीवन में नवीन समस्याओं तथा पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप भारत में भी जड़ जमा रही है।

बालक की शैशवावस्था घर में ही व्यतीत होती है। मनुष्य के भावी जीवन को बनाने अथवा बिगाड़ने में शैशवावस्था के अनुभव जो महत्व रखते हैं उनकी ओर मनोवैज्ञानिकों ने बार-बार हमारा ध्यान आकर्षित किया है। घर में माता बालक की प्रथम शिक्षक होती है। उसका प्रभाव बालक पर असीम होता है। उसके पश्चात् पिता, भाई-बहन, तथा परिवार के अन्य सदस्यों का स्थान आता है। केवल सम्बन्धी ही नहीं, घर के नौकर-चाकर, अतिथि आदि भी बालक पर अपना प्रभाव डालते हैं। इन सभी से मिलकर बालक के लिए घर का शैक्षिक वातावरण तैयार होता है। यही बालक का प्रथम समाज है। बालक जन्म से अपने चारों ओर के वातावरण से शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता रखता है और दूसरों के अनजाने ही प्रतिपल इस वातावरण की विशेषताओं को आत्मसात् करके स्वयं उनके अनुसार बनने का प्रयत्न करता है। तभी तो प्रत्येक बालक स्वतः अपने परिवार की रुचि, मनोवृत्ति एवम् परम्पराओं का प्रतीक बन जाता है। जब बालक पाठशाला जाने लगता है तब उस पर अपने परिवार का प्रभाव अपेक्षाकृत कम तथा वाह्य समाज का प्रभाव अधिक होने लगता है। किशोरावस्था में बालक प्रायः घर के बाहर अपने मित्र-समाज में ही रहना अधिक पसंद करते हैं। परन्तु, फिर भी परिवार का सम्बन्ध अथवा प्रभाव पूर्णतया नष्ट कभी नहीं होता; व्यक्ति जीवन भर किसी न किसी रूप में घर का सदस्य बना रहता है।

घर के वातावरण में बालक की मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि एवम् उन्नयन का अवसर मिलता है। परिस्थितियों के अनुसार ही ये मूल प्रवृत्तियाँ सामाजिकता प्राप्त

करती हैं। घर का वातावरण ही बालक की भावनाओं तथा इच्छाओं को प्रशिक्षित करता है, घर के आदर्श जीवन में बालक का पथ-प्रदर्शन करते हैं। परन्तु यह सब तभी होता है जब कि बालक के चारों ओर घर में अनुकूल तथा उन्नायक परिस्थितियाँ हों। बुरी परिस्थितियों में पड़ कर बालक उन्हीं के अनुसार बन जायगा। जिन परिवारों में सब सम्बन्धियों के बीच स्नेह, सौहार्द्र एवम् विश्वास की भावना होती है उनमें बालक का विकास समुचित ढङ्ग से होता है। किन्तु, जिन परिवारों में माता-पिता में संघर्ष चलता है, पिता शराबी है और नशे में भर कर स्त्री-बच्चों को मारता-पीटता है उस परिवार के बालक बड़े होने पर यदि जीवन तथा समाज के प्रति कुटिल मनोवृत्ति रखें तो कोई आश्चर्य नहीं। कुछ परिवारों में बालक के लिए अति कठोर नियंत्रण, डाट-फटकार तथा दंड की व्यवस्था की जाती है। यद्यपि घर की यह व्यवस्था बालक के हित में की जाती है तथापि इसका परिणाम प्रायः उलटा होता है। अतएव, बालक के लिए घर में उपयुक्त शैक्षिक परिस्थितियों की आयोजना अत्यन्त सोच समझ कर करनी चाहिए।

अधिकांश भारतीय परिवारों में बालक के लिए दूषित परिस्थितियाँ ही देखने में आती हैं। इसका बहुत कुछ कारण तो माता-पिता का अज्ञान और भारतीय परिवारों की निर्धनता है, किन्तु साथ ही बालक की शिक्षा के प्रति उनकी उत्तरदायित्वहीनता भी इसका एक मुख्य कारण है। प्रायः निम्न कोटि के घरों में बालकों की रक्षा तथा पालन-पोषण का कोई प्रबन्ध नहीं होता। जिन परिवारों में माता-पिता दोनों नौकरी अथवा बाहर का काम करते हैं उनके बालकों को प्रायः सड़कों पर अरक्षित ही घूमते देखा जाता है, उनकी समुचित शिक्षा-व्यवस्था तो दूर की बात है। रूस आदि देशों में इस प्रकार के बालकों के लिए शिशुसदन आदि बने हुए हैं जहाँ काम पर जाते हुए माता-पिता अपने बच्चों को छोड़ जाते हैं और संध्या समय वापस आते हुये ले लेते हैं। हमारे देश में जिन घरों में न ज्ञानाभाव है और न अर्थाभाव वहाँ भी बालकों के लिए उपयुक्त परिस्थितियों की आयोजना नहीं हो पाती। इसका कारण यही हो सकता है कि अभिभावकगण इस ओर समुचित ध्यान नहीं देते।

जैक्स ने अपनी पुस्तक 'टोटल एडूकेशन' में दोषपूर्ण परिस्थितियों वाले घरों को तीन वर्गों में बाँटा है। एक तो वे घर जिन्हें स्पर्द्धाशील कहा जा सकता है। ऐसे घरों में बालकगण जीवन की एक निश्चित परन्तु सीमित दिशा में एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ करने में लगे रहते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ ऐसे घर देखने में आते हैं जिनमें बालक परीक्षा में उच्च स्थान-प्राप्ति के लिए एक दूसरे से स्पर्द्धा करते रहते हैं। वे जीवन की अन्य दिशाओं में अपनी प्रगति का तनिक भी ध्यान नहीं

रखते। इसी प्रकार, कुछ घर ऐसे होते हैं जिनमें सब कुछ छोड़ कर केवल खेलकूद की प्रतियोगिताओं में पुरस्कार प्राप्त करने की होड़ बालकों में लग जाती है। परिवार के अन्य सदस्यगण भी उन्हें इसके लिए उत्साहित करते हैं। ऐसे स्पर्द्धाशील परिवारों में आपसी स्पर्द्धा के कारण बालकों के एकांगी विकास के दोष के अतिरिक्त उनके आपसी सम्बन्ध में भी एक प्रकार की खींचातानी चलती रहती है जो संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए हानिकारक है। दूसरे प्रकार के परिवार वे हैं जिनमें सांस्कृतिक कार्यों एवम् रुचियों की हँसी उड़ाई जाती है। पाठशाला में सिखाई जाने वाली सांस्कृतिक रुचि का प्रदर्शन यदि बालक घर में अपने व्यवहार में करता है तो परिवार के सदस्य उसका मज़ाक उड़ाते हैं। ऐसे परिवार न तो बालक की रुचि को परिष्कृत होने का ही अवसर देते हैं और न उन्हें उचित दिशा में प्रयत्न करने का। तीसरे प्रकार के घरों को जैक्स ने भावनाप्रदर्शनहीन कहा है। ऐसे घरों में सदस्यगण स्नेह, आह्लाद, सहानुभूति आदि के न्यूनतम प्रदर्शन को भी हेय समझते हैं। परिणामस्वरूप, घर के सब सदस्यगण आपसी व्यवहार में नितांत शीतल तथा जड़ बने रहते हैं। उनके परस्पर व्यवहार में मानवीय भावनाओं की उष्णता नहीं होती। जैक्स ने ऐसे घरों को 'भावनात्मक रेफ्रीजरेटर' कहा है।

अतएव, बालक के पूर्ण विकास के निमित्त घर में अनुकूल परिस्थितियों की योजना करना आवश्यक है। स्पष्ट ही ये परिस्थितियाँ तथा प्रयत्न बालक के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए विविध प्रकार के होने चाहिए। शिक्षा के जिन व्यापक उद्देश्यों का निरूपण हम पहले कर आए हैं उन्हीं की प्राप्ति के लिए घर में ऐसी परिस्थितियाँ तथा वातावरण निर्मित किया जाए जो बालक के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक आदि सभी अंगों को समुचित रूप से विकसित करने में सहायक हो। ऐसी जिन परिस्थितियों का नियोजन परिवार में किया जा सकता है उनका संकेत आगे किया गया है। यह अवश्य है कि भारतीय परिवारों के सीमित साधनों एवम् अर्थाभाव के कारण अपेक्षित परिस्थितियाँ पूर्ण रूप से निर्मित नहीं की जा सकतीं, परन्तु जो परिवार इस योग्य हैं, तथा अन्य भी अपनी सामर्थ्यानुसार इस ओर प्रयत्नशील हो सकते हैं।

स्वास्थ्य की रक्षा तथा शक्ति-वर्द्धन के लिए बालक के परिवार को अपना निवासस्थान ऐसी जगह बनाना चाहिए जहाँ का वातावरण शुद्ध और शान्तिपूर्ण हो। मकान की स्थिति इस ढंग की हो कि उसमें शुद्ध और ताज़ी हवा चारों ओर से बराबर आती रहे क्योंकि शुद्ध वायु हमारे स्वास्थ्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। उसमें ओषजन अधिक मात्रा में मिलती है जो शरीर के विभिन्न अवयवों के विकास में सहा-

यक है। भोजन की पाचन-क्रिया में भी ओषजन विशेष उपयोगी है। मकान के आस-पास कुछ हरियाली तथा पेड़-पौधों का होना लाभदायक है क्योंकि वे वायु में ओषजन की मात्रा बढ़ाते तथा उसे शुद्ध और ताज़ा रखते हैं। प्रत्येक घर में छोटा सा उद्यान न केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है बल्कि हार्दिक प्रसन्नता के लिए भी। इससे प्रारंभ से ही बालकों में फूल पत्तों के प्रति लगाव व रुचि पैदा होती है। घर में बालक के स्वास्थ्य के लिए धूप तथा रोशनी भी आनी चाहिए। कहावत है कि जिस घर में धूप नहीं आती वहाँ डॉक्टर अवश्य आता है। हवादार कमरे तथा खुला हुआ आँगन इसी कारण आवश्यक हैं। भारतवर्ष में ग्रामों में तो बालकों को ऐसी परिस्थितियाँ मिल जाती हैं किन्तु बड़े शहरों में श्रमिकवर्ग प्रायः इन सुविधाओं से वंचित ही रहता है। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि बालकों के शरीर तथा स्वास्थ्य के विकास को दृष्टि में रखते हुए भारतीय मकानों की बनावट में नए सुधार किए जाएँ। बालकों के शयन तथा आराम करने की जगह भी स्वच्छ तथा शुद्ध होनी चाहिए।

स्वास्थ्य के लिए बालकों को पुष्टिकारक भोजन मिलना भी उतना ही आवश्यक है। शरीर का विकास तथा शक्ति का वार्धक्य भोजन के तत्त्वों पर बहुत कुछ निर्भर है। बालकों के लिए वयस्कों से भिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती हैं। क्योंकि उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ वयस्कों से भिन्न होती हैं। उनके लिए अधिक पौष्टिक तथा शक्तिवर्द्धक भोजन होना चाहिए। उससे शरीर के विकास में सहायता मिलती है और क्षय हुए अंगों का पुनः निर्माण एवम् पूर्ति होती है। चूना, पानी, चर्बी, शकर, तथा फ़ासफ़ोरस इसके लिए अत्यंत उपयोगी हैं। साधारणतया बालक को घर में स्वास्थ्य और शारीरिक विकास के लिए निम्न तत्त्वों वाले पदार्थों का प्रबन्ध होना आवश्यक है :—

(१) कार्बोहाइड्रेट के लिए चावल, गेहूँ, आलू आदि।
(२) प्रोटीन के लिए दूध, अंडा, दाल आदि।
(३) चर्बी के लिए मक्खन, घी, मूँगफली, बादाम, गरी इत्यादि। और,
(४) नमक के लिए हरी तरकारियाँ, फल इत्यादि।

उपर्युक्त तत्त्वों वाले सम्पूर्ण भोजन के प्राप्त होने पर भी कुछ बालक प्रायः अस्वस्थ एवम् दुर्बल बने रहते हैं। इसका कारण विटामिन की कमी होता है। उसकी कमी से भोजन के तत्त्व पचकर शरीर में नहीं लगते। अतः बालक के भोजन में विटामिन की यथेष्ट मात्रा का प्रबन्ध करना परिवार का कर्त्तव्य है। विटामिन 'ए' की कमी से ठंड और छूत की बीमारियाँ होती हैं तथा नेत्र-रोग होते हैं। इस विटामिन की प्राप्ति दूध, मक्खन, गाजर आदि से होती है। विटामिन 'बी' की न्यूनता से

रुधिर के लाल कण कम हो जाते हैं और उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। पेट सम्बन्धी रोग इसी की कमी से होते हैं। अतएव, बालकों के लिए ऐसे खाद्य पदार्थों का प्रबन्ध घर में आवश्यक है जिनमें विटामिन 'बी' यथेष्ट मात्रा में हो, यथा गेहूँ, अंडा, मटर इत्यादि। विटामिन 'सी' बालक की रक्तवाहिनी नालियों को स्वस्थ रखने तथा उसे चर्म-रोग से बचाने के लिए आवश्यक है। यह नीबू, नारंगी, हरी तरकारियों आदि में पाया जाता है। विटामिन 'डी' की कमी से बच्चों को सूखाहारी जैसे रोग हो जाते हैं। दाँतों के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है और हड्डी की बढ़वार विटामिन 'डी' पर ही आधारित है। इसकी प्राप्ति मक्खन, दूध, मछली आदि से होती है।

इस प्रकार परिवार के बालकों के लिए संतुलित भोजन की व्यवस्था होना आवश्यक है। संतुलित भोजन से तात्पर्य है कि उसमें सब आवश्यक तत्त्व आनुपातिक ढंग से प्राप्त होते हैं जिससे बालक के शरीर तथा स्वास्थ्य का विकास पूर्णरूप से होता है। धनाभाव के कारण अधिकांश भारतीय परिवार इस प्रकार के भोजन की व्यवस्था नहीं कर सकते किन्तु जो परिवार समर्थ हैं उनमें भी उपयोगी तथा आवश्यक तत्त्वों वाले भोजन का प्रबन्ध बालकों के लिए सुचारु रूप से नहीं किया जाता। इसका कारण इस विषय में लोगों का अज्ञान ही है। अतएव, अच्छे भोजन के साथ-साथ बालकों को भोजन के नियमों का ज्ञान कराना परिवार का प्रधान कर्त्तव्य है। बालकों को नियत समय पर भोजन करने का अभ्यास पड़ना चाहिए। प्रायः बालकों को ज़बर-दस्ती पकड़ कर भोजन कराया जाता है जो उचित नहीं क्योंकि अनिच्छापूर्वक भोजन करने से भोजन भली प्रकार पचता नहीं और न वह उनके शरीर में लगता है। भोजन शान्तिपूर्वक, भलीभाँति चबा-चबा कर करना चाहिए। बालक को सड़ा-गला भोजन नहीं देना चाहिए। घर के भोजनालय में भी स्वच्छता का होना आवश्यक है।

बालक के जीवन में खेल-कूद का विशेष महत्व है। खिलौनों द्वारा छोटे-छोटे बच्चों का न केवल मनोरंजन होता है अपितु मानसिक विकास भी। अतएव, बालक के अवस्थानुसार घर में उपयुक्त खिलौनों की व्यवस्था होना आवश्यक है। कुछ खिलौने केवल इन्द्रियानुभूति कराते हैं और इसीलिए बालकों को प्रिय होते हैं, यथा, सीटी, बिगुल, बाजे, चर्खी इत्यादि। और, कुछ खिलौने बालक को मानसिक व्यायाम कराकर उसका बौद्धिक विकास करते हैं, उदाहरणार्थ, गिट्टख जमा करके तस्वीरें बनाना, मेकानो, छल्ले में से छल्ला निकालना आदि। बालकों को शनैः शनैः बौद्धिक खिलौनों की ओर आकृष्ट करना चाहिए। यह सत्य है कि अधिकांश भारतीय परिवार निर्धनतावश बालकों के लिए छोटे-मोटे खिलौने भी नहीं जुटा पाते, परन्तु यह

अवश्य कहा जाएगा कि जो परिवार समर्थ हैं वे भी बालकों के लिए उपयोगी ढंग से खिलौनों की व्यवस्था करने का प्रयत्न नहीं करते। यहाँ यह सुझाव दिया जा सकता है कि क़ीमती विदेशी खिलौनों की अपेक्षा सस्ते देशी खिलौनों का उपयोग करना चाहिए। इससे न केवल पर्याप्त खिलौने ही बालकों को प्राप्त होंगे अपितु भारतीय खिलौना-व्यवसाय भी उन्नत होगा।

परिवार में बालकों के लिए अनेक खिलौने जुटा देना ही पर्याप्त नहीं। बालकों के खेल-कूद में वयस्कों को भी भाग लेना चाहिए। हमारे परिवारों में वयस्क लोग बालकों के खेल में प्रायः कोई रुचि नहीं लेते और परिणामस्वरूप बालक मनमाने ढंग से खेलते हैं जिससे उन्हें यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचता। यूरोपवासियों तथा अंग्रेज़ों में इसके विपरीत वयस्कों का बालकों में मिलकर खेलने का बड़ा प्रचलन है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है वह खिलौनों को छोड़कर अपने संगी-साथियों में खेलने लगता है। उस समय उसके लिए अच्छे संगी-साथी जुटाना तथा अन्य बाहरी खेलों में उचित नेतृत्व प्रदान करना भी परिवार का कर्त्तव्य है।

स्वास्थ्य के लिए स्वच्छता की अत्यंत आवश्यकता है। धीरे-धीरे बालकों में शरीर तथा इन्द्रियों की सफ़ाई की ओर ध्यान देने की आदत पड़नी चाहिए। उन्हें भली प्रकार हाथ-मुँह धोने तथा स्नान करने का अभ्यास पड़ना चाहिए। जीवन की अन्य दैनिक क्रियाओं की भी आदत होनी चाहिए। निद्रा, पाख़ाना-पेशाब आदि के विषय में समय-पालन तथा नियमों की पूर्ति आवश्यक है। यदि बालक में कोई शारीरिक नुक़्स हो तो उसे प्रारंभ में ही ठीक करा लेना परिवार का कर्त्तव्य है। अनेक अंगदोष बचपन में सरलता से ठीक किए जा सकते हैं, बाद में कठिनाई होती है।

जहाँ तक व्यावसायिक शिक्षा का सम्बन्ध है परिवार में उसका प्रबन्ध कठिन होगा। यद्यपि बहुत से घरों में बालक अपना पैतृक व्यवसाय आज भी घर में ही कार्य करके सीखते हैं परन्तु धीरे-धीरे व्यावसायिक प्रशिक्षण में विशिष्ट प्रयत्नों की अवश्यकता के कारण अब घर की शिक्षा यथेष्ट नहीं होती। पुरानी परिपाटी के अनुसार छोटे-छोटे बालकों को प्रारंभ से ही व्यावसायिक शिक्षा देने लग जाना उचित नहीं। फिर भी, इस दिशा में कुछ प्राथमिक कर्त्तव्यों को परिवार अवश्य निबाह सकता है जिससे आगे चलकर बालक की उचित व्यावसायिक शिक्षा की पृष्ठभूमि तैयार हो सके। प्रत्येक व्यवसाय तथा हस्तकौशल में शारीरिक अवयवों का प्रशिक्षण आवश्यक होता है। यह कार्य परिवार में प्रारंभ से ही किया जा सकता है। बालक को शारीरिक अंगों तथा इन्द्रियों का उचित प्रयोग करना सिखाना इस दिशा में प्रथम पग होगा। शारीरिक कार्य में रुचि, कर्त्तव्य-परायणता, स्वावलम्बन आदि की शिक्षा भी

इस दिशा में उपयोगी है। साथ ही, परिवार के सदस्यों को इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि बालक किन कामों में रुचि रखता है, उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति किस ओर है तथा किन व्यवसायों में उसका सहज आकर्षण है। इससे आगे चलकर उसके व्यवसाय-निर्धारण तथा व्यावसायिक निर्देशन में सहायता मिलेगी।

बालक के बौद्धिक विकास के निमित्त घर का वातावरण बौद्धिक होना आवश्यक है। इसके लिए खिलौनों के उपयोग पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं, किन्तु पुस्तकों का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक परिवार में बालकों के लिए कुछ शिशु-साहित्य होना अत्यंत आवश्यक है। यह अवश्य है कि निर्धनता के कारण अधिकांश परिवारों में पुस्तकों का प्रबन्ध असंभव सा है, किन्तु जो परिवार जिस अंश तक समर्थ हों इस दिशा में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अवश्य करें। प्रारंभ में पढ़ना-लिखना न जानने के कारण शिशुओं को तस्वीरों वाली पुस्तकें ही रुचिकर होंगी, और फिर उन्हें धीरे-धीरे अन्य पुस्तकें भी दी जा सकती हैं, यद्यपि इनमें भी चित्रों का बाहुल्य आवश्यक है। चित्रों द्वारा न केवल ज्ञानवर्द्धन होता है अपितु बालक में सौन्दर्यानुभूति भी जाग्रत होती है। हमारे देश में मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित बाल-साहित्य का पूर्ण अभाव है। जो साहित्य बालक पढ़ते हैं वह न तो उनकी अवस्था के अनुरूप तैयार किया जाता है और न उसमें उनकी क्षमता एवम् रुचि का ही ध्यान रखा जाता है। अंग्रेज़ी में प्रकाशित बिभिन्न विषयों का रोचक तथा आकर्षक बाल-साहित्य हमारे अनुकरण की वस्तु है। फिर भी, हमारी देशी भाषाओं में जो उत्तम पुस्तकें उपलब्ध हैं बालकों में उन्हें एकत्र करने तथा पढ़ने की रुचि जाग्रत करनी चाहिए। कई परिवारों में सम्मिलित होकर बाल-पुस्तकालय भी चलाए जा सकते हैं जिनमें पुस्तकों के अतिरिक्त उपयोगी पत्र-पत्रिकाओं की भी व्यवस्था की जा सकती है। इस दिशा में राज्य से उचित सहायता तथा उत्साहवर्द्धन की आवश्यकता है।

बालकों में प्रत्येक बात को जानने की विशेष उत्कंठा रहती है। इसीलिए वे प्रायः वयस्कों से अनेक विषयों पर तरह-तरह के प्रश्न पूछते रहते हैं। बहुत से प्रश्न तो वयस्कों को भी परेशानी में डाल देते हैं और वे प्रायः बालकों को डाट-डपट देते हैं अथवा बहलावे का उत्तर देते हैं। इससे बालकों की वास्तविक संतुष्टि नहीं होती। यह आवश्यक है कि बालकों के प्रश्नों का सहज, सत्य उत्तर दिया जाए और उनकी मानसिक भूख शांत की जाए। इसके लिए परिवार के सदस्यों को स्वयं अपना ज्ञान-कोष बढ़ाना चाहिए, अन्यथा जैसा कि प्रायः होता है बालक नौकरों अथवा अपढ़ लोगों से अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर लेंगे जो और भी हानिकारक है। एक सीमा तक

बालकों को वस्तुएँ देखने, जानने तथा उनके भीतर पैठने की भी अनुमति दी जा सकती है जिससे उनका कौतूहल शांत हो।

बालक के बौद्धिक विकास में पहेलियों, कहानियों आदि का भी स्थान महत्त्व-पूर्ण है। कहानियों द्वारा उनकी कल्पना-शक्ति उत्तेजित होती है तथा उन्हें जीवन की शिक्षा प्राप्त होती है। परिवारों में वृद्ध जनों द्वारा बालकों को सोते समय कथा-कहानी सुनाने की प्रथा अत्यन्त लाभदायक है। पश्चिमी देशों में भी आग तापते समय इस प्रकार कहानियाँ सुनाने का प्रचलन है। पहेलियों द्वारा बालक का मानसिक व्यायाम होता है और एकाग्रता, चिंतन तथा विश्लेषण की योग्यता बढ़ती है। साथ ही घर का वातावरण बालक के लिए सहायक तथा उन्नायक होना भी आवश्यक है। यदि बालक पाठशाला जाने लगा है तो उसे पाठशाला का कार्य पूरा करने तथा पाठ याद करने में परिवार को उत्साह दिलाना चाहिए। परिवारों में व्यक्तिगत अध्यापक रखकर भी बालक की कमज़ोरी दूर की जा सकती है और उसे कक्षा के काम के लिए पहले से ही तैयार किया जा सकता है।

बालक के चरित्र का निर्माण घर में होता है। पाठशाला अथवा समाज का अंग बनने के पूर्व ही बालक एक अंश तक अपना चरित्र-निर्माण कर चुकता है और उसमें परिवार का हाथ प्रधान रूप से रहता है। यदि चरित्र को केवल समाजोपयोगी आदतों के रूप में देखा जाए तो यह आदतें परिवार में रहकर ही पड़नी प्रारंभ होती हैं, और आगे चलकर इन्हीं की नींव पर बालक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व बनता है। अत-एव, बालक में अच्छी आदतें डालना परिवार का कर्त्तव्य है। समझ आने पर धीरे-धीरे उसमें उचित-अनुचित का विवेक पैदा किया जा सकता है। यह केवल आदेश द्वारा ही संभव नहीं। वास्तव में परिवार में स्वयं ऐसा वातावरण हो जिसमें रहकर बालक अपने आप ईमानदारी, सच्चाई, भलमनसाहत, स्नेह, बलिदान आदि गुणों को आत्म-सात् कर सके। यह स्पष्ट है कि परिवार का नैतिक वातावरण बालक के चरित्र को प्रभावित करता है और आगे चलकर बालक इस प्रभाव को समूचे समाज में विकसित करता है। बालक अनुकरण से बहुत-कुछ सीखता है अतः आपसी सौहार्द्र, सदाचार, सद्व्यवहार, नैतिकता आदि का आदर्श परिवार के सभी सदस्यों को उसके सम्मुख रखना चाहिए। उच्च आदर्शों पर आधारित पारिवारिक परम्पराएँ इस दिशा में बालक का विशेष मार्ग-दर्शन करती हैं।

बालक के चरित्र पर केवल पारिवारिक सदस्यों का ही प्रभाव नहीं पड़ता अपितु उसके साथ खेलने वाले अन्य बालकों, घर के अतिथियों, नौकरों आदि का प्रभाव भी अत्यधिक होता है। प्रायः अच्छे परिवार के बालक केवल नौकरों के कारण

बिगड़ते देखे गये हैं। अतएव, परिवार का कर्त्तव्य है कि बालक के ऊपर इन दिशाओं से आते हुए अवांछित प्रभावों की रोक-थाम करे। चरित्र-निर्माण में बाल्यावस्था में दंड तथा पुरस्कार की व्यवस्था द्वारा यथेष्ट सहायता ली जा सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दण्ड तथा पुरस्कार सार्थक हो और भली भाँति सोच समझ कर दिया जाए। आगे चलकर बालक दण्ड की अपेक्षा सामाजिक अनुमति एवम् प्रशंसा से अधिक प्रभावित होते हैं। वे ऐसे कार्य करना चाहते हैं जिन्हें समाज अच्छा समझता है, और समाज द्वारा बुरे समझे जाने वाले कार्यों से विरत रहने का प्रयत्न करते हैं। शाबाशी, उत्साहवर्द्धन तथा उचित नेतृत्व व मार्ग दर्शन द्वारा इस दिशा में बहुत-कुछ किया जा सकता है।

चरित्र-निर्माण का बीज आत्मविश्वास तथा बालक के अहम् में है। इसे जाग्रत करने के लिए बालक को परिवार में अन्य सदस्यों की भाँति सुरक्षा तथा उच्च स्थान मिलना चाहिए। अनेक बालक परिवार में अपने को त्यक्त तथा अरक्षित सा पाकर मानसिक पीड़ा एवम् कष्ट पाते रहते हैं। वे अपने सन्तोष की वस्तुएँ घर से बाहर पाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार दूषित पथ की ओर अग्रसर होते हैं। बालक के प्रति आवश्यक स्नेह और श्रद्धा रखना परिवार के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। साथ ही, उसे घर में अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपे जा सकते हैं, उदाहरणार्थ, रात को दरवाज़े बन्द करना, छोटे भाई-बहिन की रखवाली करना, अतिथि-सत्कार आदि। इससे उनमें अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करने की भावना और आत्म-विश्वास आदि बढ़ते हैं। आत्मनिर्भरता, कर्त्तव्यपरायणता आदि गुण इसी प्रकार परिवार में रहकर प्रस्फुटित किए जा सकते हैं।

बालक में सौन्दर्यानुभूति की शक्ति बढ़ाना भी परिवार का कर्त्तव्य है। प्रायः बालक के इस अङ्ग के विकास का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता और परिवार इस दिशा में अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देता। घर के छोटे-छोटे कार्यों द्वारा बालक में सौंदर्य-बोध जाग्रत किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, पहनने के कपड़ों का रङ्ग अथवा डिज़ाइन पसन्द करना, कमरे की सजावट, घर की स्वच्छता, शारीरिक स्वच्छता आदि। घर में यदि बाग़ है तो उसके द्वारा प्रकृति-निरीक्षण तथा सौन्दर्यानुभूति की शिक्षा दी जा सकती है। भ्रमण, गोष्ठी, प्रदर्शनी आदि में सम्मिलित हो कर परिवार बालकों में सौन्दर्यात्मिक रुचि पैदा कर सकता है। यदि परिवार में सदस्यगण स्वयं कलाप्रेमी हैं तो बालकों में भी कलात्मक रुचि सरलता से जाग्रत की जा सकती है। पशु-पक्षी पालकर, चित्र, टिकट आदि संग्रह कर अथवा खिलौनों द्वारा बालक की भावनाओं को संतुलित एवम् शिक्षित किया जा सकता है।

बालक को परिवार में धार्मिकता की शिक्षा देना भी वांछनीय है। यह स्पष्ट है कि छोटे-छोटे बालक न तो धर्म के गूढ़ तत्वों को समझ सकते हैं और न उसका पालन करने में ही पूर्णतया समर्थ हैं। किन्तु धार्मिक व्यक्तियों के जीवन-चरित्र, धार्मिक जीवन की मोटी मोटी बातें तथा धार्मिक भावनाओं का ज्ञान और उद्भव उनमें अवश्य कराया जा सकता है। महात्मा गाँधी के अनुसार अपने कर्त्तव्यों एवम् उत्तर-दायित्वों का ज्ञान तथा निर्वाह ही धर्म है। अतः बालक को अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का ज्ञान कराना चाहिए। उसके अन्दर सद्भाव, स्नेह, दया, दान, करुणा तथा सदाचार की भावना भरना ही उसकी धार्मिक शिक्षा का प्रधान रूप है। जीवन में नियमपालन, संयम, एकाग्रता, लगन आदि को पृष्ठभूमि इसी आयु में तैयार की जा सकती है। परिवार में सामूहिक प्रार्थना का आयोजन अच्छी परम्परा है जो पाश्चात्य देशों में प्रचलित है। इसमें भाग लेकर बालक प्रारम्भ से ही धार्मिक भावना से प्रभावित होने लगते हैं। साथ ही, घर में बालक के जीवन से सम्बन्धित धार्मिक उत्सव भी मनाए जा सकते हैं यद्यपि उनके विषय में प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। परिवार के सदस्यों का जीवन भी उच्च धार्मिक आदर्शों द्वारा संचालित होना चाहिए, जिससे बालक अपने वातावरण से धर्म-शिक्षा सहज ही ग्रहण कर सकें।

उपर्युक्त सभी दिशाओं में बालक के विकासार्थ परिवार को सजग तथा प्रयत्न-शील होना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि परिवार में बालक की प्रत्यक्ष, सविधिक शिक्षा का प्रयत्न नहीं हो सकता। वह तो परोक्ष रूप में अपने चारों ओर के वाता-वरण से स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है। उसके मानसपटल पर अंकित शैशवावस्था के चित्र अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। अतएव, इस विषय में परिवार के सदस्यों का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। उन्हें अपने व्यवहार में सहज, स्वाभाविक ढङ्ग से उन्हीं आदर्शों को अपनाना चाहिए तथा वैसे ही कार्यों में संलग्न होना होना चाहिए जिनकी प्रतिष्ठा वे बालकों में करना चाहते हैं। ऐसा एक दो दिन नहीं अपितु निरन्तर, प्रतिपल, जीवन भर करना है। कृत्रिम तथा अस्वाभाविक व्य-वहार को बालक सहज ही पहचान लेते हैं और परिणाम-स्वरूप बड़ों के प्रति उनकी श्रद्धा घट जाती है।

परिवार का कर्त्तव्य बालक को पैदा करके केवल उसे बड़ा कर देना ही नहीं। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि बालक अपना निजी व्यक्तित्व विकसित करे। प्रत्येक बालक दूसरे से भिन्न होता है, अतएव एक ही परिवार में सब बालक भिन्न व्यक्तित्व के होंगे इस सत्य को स्वीकार करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। कभी-

कभी परिवारों में बालक के निजत्व को कुचलने तथा उसे ठोक-पीट कर एक समान बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यह अनुचित है। परिवार में तो बालक के व्यक्तित्व के विकास को पूर्ण अवसर तथा सुविधा मिलनी चाहिए और पर्याप्त सीमा तक उसकी निजी रुचियों, इच्छाओं तथा प्रयत्नों की संतुष्टि भी की जा सकती है। परन्तु, बालकों के बीच भेद-भाव रखना और एक को छोड़ कर दूसरे की तरफ़दारी करना भी दोष-युक्त है। प्रायः भारतीय परिवारों में बालक और बालिकाओं के साथ भिन्न व्यवहार होता है। यह रूढ़िगत भावना बदलनी चाहिए। जीवन में दोनों के कृत्य भिन्न होते हुए भी परिवार में लड़के-लड़कियों को एक समान स्नेह, संरक्षण एवम् सुविधाएँ मिलनी चाहिए। बन्धन तथा नियमन के भी कृत्रिम भेद नहीं करने चाहिए। ऐसा न होने से ही भारतीय परिवारों के बालक प्रायः उद्दंड और बालिकाएँ मानसिक दासी बनकर जीवन में प्रविष्ट होती हैं।

अध्याय के प्रारम्भ में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि बालक अपने परिवार में रहकर पारिवारिक संस्कृति, आदर्शों तथा परम्पराओं का प्रतीक बनता है और फिर अपने वंशजों को यह पैतृक सम्पत्ति सुरक्षित तथा संवर्द्धित रूप में सौंप देता है। अतएव, परिवार का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक बालक के निजत्व के विकास को प्रोत्साहित करते हुए भी उन सब में पारिवारिक आदर्शों तथा परम्पराओं की प्रतिष्ठा करे। तभी एक परिवार के सब बालक एक सूत्र में पिरोये हुये अनेक मोतियों की माला के रूप में सुशोभित होंगे। प्रत्येक मोती का मूल्य, प्रत्येक की दमक तथा प्रत्येक का निजत्व भिन्न होगा, किन्तु पारिवारिक एकता के सूत्र में वे पूर्णतया एक दूसरे में गुँथे होंगे।

अध्याय १७
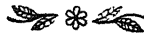
शिक्षा-संस्था के रूप में पाठशाला

पाठशाला सविधिक शिक्षा-संस्था के रूप में समाज में स्थित है। उसमें बालक की शिक्षा की व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से की जाती है। पाठशाला का प्रत्येक अंग बालक की शिक्षा के निमित्त संचालित होता है।

पाठशाला के जन्म की कहानी परिवार की शैक्षिक असमर्थता से सम्बद्ध है। यदि परिवार अपने शैक्षिक कर्त्तव्यों का पूर्णतया पालन करने में समर्थ है तो बालक की सम्पूर्ण शिक्षा घर ही में सम्भव हो सकती है, और उसे पाठशाला में भेजने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। किन्तु, मुख्यतया दो कारणों से परिवार बालक के प्रति अपना उत्तरदायित्व स्वयं निबाहने में असमर्थ रहता है, और इसी कारण बालक को ऐसी संस्था में भेजने की आवश्यकता पड़ती है जहाँ उसकी देख-भाल सुचारु रूप से हो सके। एक कारण तो यह है कि माता-पिता आदि के पास इतना अवकाश नहीं होता कि वे बालक की शिक्षा की व्यवस्था स्वयं कर सकें। अपनी दिनचर्या, व्यवसाय तथा आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहने के कारण उन्हें बालकों की देख-भाल को यथेष्ट समय नहीं मिल पाता। अधिकांश आधुनिक परिवारों में तो माता-पिता दोनों ही घर के बाहर काम करते हैं, अतएव बालक को उनका साहचर्य कम मिल पाता है। ऐसी दशा में बालक को पाठशाला भेजने की आवश्यकता हो जाती है। दूसरे, यदि माता-पिता समय दें भी तो वे शिक्षण की वैज्ञानिक प्रणाली तथा शिक्षा-शास्त्र से इतने अनभिज्ञ होते हैं कि शिक्षा का प्रबन्ध उचित रूप से नहीं कर पाते। अब शिक्षण विशेष योग्यताप्राप्त शिक्षकों का कार्य हो गया है। सर्वसाधारण तथा शिक्षा के नियमों से अनभिज्ञ अभिभावकगण अपने बालकों की मनोदशा को न तो भली भाँति समझते हैं और न उनकी समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझा ही सकते है। इसीलिए, सर्व-

साधारण के लिये यह आवश्यक होता है कि वे अपने बालकों को पाठशाला में विशेषज्ञों के हाथ में सौंपकर उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था करें।

पाठशाला की एक व्यावहारिक उपयोगिता यह भी है कि बालकों को परिवार तथा समाज के दूषित वातावरण से हटकर पाठशाला के सुव्यवस्थित तथा उन्नत वातावरण में कम से कम कुछ काल के लिये तो रहने का अवसर मिलता ही है। घर पर शैतान तथा हुड़दंगी बालकों से ऊबकर अनेक माता पिता उन्हें पाठशाला में भेजकर कुछ घंटे चैन पा लेते हैं, और बालक भी सही मार्ग पर लग जाते हैं। अतः यह निश्चित है कि पाठशाला शिक्षा-संस्था के रूप में बालक और समाज दोनों की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। उसकी इस उपयोगिता तथा महत्व के कारण ही प्रत्येक समाज अपने बालकों के हित में पाठशालाओं का संचालन आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी समझता है। जिस समाज अथवा राष्ट्र में अच्छी पाठशालाओं की व्यवस्था नहीं होती उसे अवनत समाज माना जाता है।

पाठशाला वाह्य समाज से पृथक् नहीं होती। जिस समाज में उसकी स्थिति है उसका अंग बनकर ही वह क्रियाशील होती है। अतएव यह स्वाभाविक है कि समाज के गुण-दोष पाठशाला में किसी न किसी रूप में अवश्य परिलक्षित हों। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज के दोष—अस्पृश्यता, स्त्री-पुरुष भेद आदि—पाठशालाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। पर, अपने समाज का अभिन्न अंग होते हुये भी पाठशाला समाज से कुछ बातों में भिन्न होती है। पाठशाला की योजना समाज के भीतर एक सुव्यवस्थित तथा उच्चतर समाज के रूप में की जाती है। अतः उसमें वाह्य समाज के गुण तो अधिकांश में प्राप्त होते हैं किन्तु दोष न्यूनतम होते हैं। इस प्रकार पाठशाला को हम सम्पूर्ण समाज के अन्तर्गत एक छोटा परिष्कृत समाज कह सकते हैं। अध्यापक, पाठ्य-पुस्तकें, शासन-व्यवस्था, सदाचरण तथा शिक्षण-कार्य आदि के सामूहिक प्रभाव से यह परिष्कृत समाज निर्मित होता है।

घर की कमियों को पूरा करने के लिये पाठशाला की योजना हुई है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। परन्तु, आज घर का महत्त्व पाठशाला के समक्ष उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा है और बालक के प्रति पाठशाला के उत्तरदायित्व बढ़ते जा रहे हैं। बालक को शैशवावस्था से ही पाठशाला में भर्ती कराने का प्रचलन बढ़ रहा है और रूस आदि देशों में तो काम करने वाली स्त्रियाँ अपने नन्हें शिशुओं को दिन के लिए शिशु-सदन में छोड़ आती हैं। अतएव, पाठशाला का उत्तरदायित्व बालक के जन्म के कुछ दिन बाद से ही प्रारम्भ हो जाता है। पहले पाठशाला में केवल पठन-पाठन अथवा ज्ञानार्जन ही कराया जाता था, किन्तु अब बालक के स्वास्थ्य, चरित्र,

संवेगों आदि के सम्यक् विकास के प्रति भी उसका महान् उत्तरदायित्व हो गया है, और इनकी अवहेलना करके जो पाठशाला केवल ज्ञानार्जन पर ही बल देती है उसे अच्छा नहीं समझा जाता। यही नहीं, पाठशालाओं का यह भी प्रयत्न होता है कि बालक घर से सर्वथा विलग होकर छात्रावास में रहे और पूर्णतया पाठशाला के व्यवस्थित जीवन का अंग बन जाए। इन सब प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि पाठशाला तथा अध्यापकों का कार्यक्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा है और उसका विस्तार घर के ऊपर भी जा पहुँचा है। शिक्षक इस बढ़ते हुये उत्तरदायित्व को कहाँ तक निबाह सकेंगे यह भी एक गंभीर प्रश्न है।

घर तथा पाठशाला की उपर्युक्त परिस्थिति के विषय में दो भिन्न मत हैं। एक तो यह कि घर की असमर्थता को देखते हुये पाठशाला को बालक की शिक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इस मत को मानने वाले प्रत्येक पाठशाला के साथ छात्रावास की व्यवस्था अनिवार्य मानते हैं। बालक छात्रावास में रहकर पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करें और घर एवम् दूषित बाह्य समाज से कम से कम सम्पर्क रखें। पाठशाला तथा छात्रावास का परिष्कृत समाज अत्यन्त उन्नत, नियमित तथा सुव्यवस्थित होता है और उनमें शिक्षित होकर बालक स्वतः परिष्कृत व्यक्ति बन जाता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर कई देशों में 'पब्लिक स्कूलों' की व्यवस्था की गई है। ऐसे कुछ शिक्षालय हमारे देश में भी हैं।

इस प्रकार की पाठशालाओं में अनेक गुण होते हुए भी कुछ ऐसे दोष तथा न्यूनताएँ हैं जिनके कारण उनकी व्यवस्था पूर्णतया उपयोगी नहीं कही जा सकती। बहुत ही उन्नत तथा परिष्कृत पाठशाला-समाज की व्यवस्था करने से उसमें कृत्रिमता आ जाती है। ऐसे वातावरण में रहने से बालक का सम्पर्क अपने वास्तविक समाज से एकदम छूट जाता है। शिक्षा-प्राप्ति के बाद बालक को रहना तो अपने ही समाज में है फिर चाहे उसकी दशा उन्नत हो अथवा अवनत। वास्तव में अपने समाज में रहकर उसको उन्नत करने का प्रयत्न ही शिक्षित व्यक्ति का कर्त्तव्य है। किन्तु 'पब्लिक स्कूलों' में शिक्षाप्राप्त बालक अपने वास्तविक समाज से सामंजस्य स्थापित करने में पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करते हैं। परिष्कृत समाज में रह चुकने के बाद सर्वसाधारण से उनका मेल नहीं खाता, उनमें आत्माभिमान हो जाता है और साधारण लोगों को नीची निगाह से देखने की आदत पड़ जाती है।

इस प्रकार की पाठशालाओं में व्यय भी बहुत अधिक होता है और केवल धनी तथा उच्च वर्ग के बालक ही उनसे लाभ उठा सकते हैं। भारत जैसे बड़े देशों में एक दर्जन के लगभग ऐसे पब्लिक स्कूलों का होना इस बात का द्योतक है कि

सामान्यतः यह शिक्षा-व्यवस्था केवल धनी देशों के लिए ही संभव हो सकती है। साथ ही पाठशाला से संलग्न छात्रावास अधिक से अधिक प्रयत्न करने पर भी घर के प्राकृतिक एवम् स्वाभाविक वातावरण का स्थान नहीं ले सकता। माता-पिता, भाई-बहिन आदि का सरल स्नेह तथा संरक्षण जो बालक को घर में सहज ही प्राप्त होता है, छात्रावास में अप्राप्य रहता है। घर में स्त्रियों तथा बालिकाओं के साथ रहकर बालक कोमल भावनाओं तथा उनके प्रति सद्व्यवहार की शिक्षा अनायास ही प्राप्त करता चलता है। छात्रावास में केवल लड़कों के साथ रहने पर उसे यह शिक्षा नहीं मिल पाती।

अतएव, यह स्पष्ट है कि पाठशाला चाहे जितनी उन्नत तथा व्यवस्थित क्यों न हो घर का स्थान नहीं ले सकती। यह अवश्य है कि जिन परिवारों की शैक्षिक तथा नैतिक दशा बहुत अधिक गिरी हुई है, अथवा जिनमें विमाता आदि के कारण बालक का जीवन कष्टमय है, उनके बालक यदि छात्रावास में रखे जाएँ तो अधिक उपयुक्त होगा। साधारणतया बालकों के लिए अपने परिवार में रहते हुए पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करना उचित है। न तो पाठशाला और न घर ही एक दूसरे का स्थान ले सकते है। एक को दूसरे का पूरक ही मानना होगा। पाठशाला में आने से पूर्व बालक का बहुत-कुछ निर्माण घर में हो चुकता है। अतः घर के प्रभाव को पूर्णतया हटा देना असंभव है। इसलिए, यह उचित है कि बालक के विकास के निमित्त घर तथा पाठशाला में सतत सम्पर्क बना रहे। एक संस्था दूसरे के सहयोग के बिना अपने कार्य में सफल नहीं हो सकती और इस सहयोग की आवश्यकता बालक के अभिभावक एवम् पाठशाला के अध्यापक निरंतर अनुभव करते रहते हैं। इसीलिए आज की पाठशालाओं में इस बात का अधिकाधिक प्रयत्न किया जाता है कि उन्हें बालक के परिवार का सहयोग पूर्णरूप से प्राप्त हो और इसके लिए अभिभावक-परिषद् आदि का आयोजन किया जाता है। या फिर, अध्यापकगण स्वयं परिवारों में जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं।

ग्रीव्ज़ का कथन है कि, "पिछले कुछ वर्षों में पारिवारिक जीवन में जो परिवर्तन हुए है उनके साथ-साथ पाठशालाओं पर एक नया उत्तरदायित्व आ गया है। उनसे बालक के विकास के निमित्त अधिकाधिक अपेक्षा की जाने लगी है और उसी अनुपात से घर का उत्तरदायित्व कम होता जा रहा है। यह तो कहना ही पड़ेगा कि यह स्थिति माता-पिता तथा अध्यापकों के अनजाने ही उपस्थित हो गई है, किन्तु अध्यापकों की महत्वाकांक्षा, तथा स्वार्थपूर्ण अथवा वास्तविक कारणों से अपना उत्तरदायित्व पाठशालाओं पर लाद देने की अनेक अभिभावकों की प्रवृत्ति ने इसमें

विशेष योग दिया है। बुद्धि अथवा साधन की कमी के कारण माता-पिता की अपने बालकों के प्रति कर्त्तव्य पूरा करने की असमर्थता देखकर पाठशालाओं ने भी यह उत्तरदायित्व उत्तरोत्तर अपने हाथ में ले लिया है। पुराने विचारानुसार ये सब कृत्य घर के थे, तथा इसे घर में पाठशाला का हस्तक्षेप ही कहा जाएगा। परन्तु, शिक्षा को पारिवारिक परिस्थितियों का ध्यान अवश्य रखना है। शिक्षा-शास्त्रियों को अब यह धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है कि यदि घर को अपने सब कृत्य सफलतापूर्वक सम्पादित करने हैं तो पारिवारिक सुख के लिए पाठशाला की शिक्षा को निश्चय ही अपना योगदान देना होगा।"

घर तथा पाठशाला के बीच सम्पर्क एवम् सहयोग की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए जैक्स ने कहा है—"घर बालक की प्रथम पाठशाला है, और पाठशाला वास्तव में घर का विस्तार है। भरसक प्रयत्न करने पर भी पाठशाला शिक्षा-संस्था के रूप में घर का स्थान नहीं ले सकती। दोनों को विशेष सहयोग से कार्य करना है।" वे आगे चलकर कहते हैं, "घर की स्वाभाविक परिस्थितियों में बालक अपने अधिकारों तथा दायित्वों, व्यवस्था, नियम-पालन आदि की शिक्षा प्राप्त करता है। घर में उसे बड़ों के प्रति आदर तथा आज्ञा-पालन की शिक्षा मिलनी चाहिए।...सर्वोत्तम स्थिति तो वह है जिसमें माता-पिता तथा अध्यापकगण बालक के प्रति सच्ची उत्सर्ग-भावना से प्रेरित हों।"

पाठशालाओं का वर्गीकरण भिन्न देशों में भिन्न ढंग से किया जाता है। किन्तु, इस वर्गीकरण के मूल में प्रायः समान तत्व कार्य करते हैं और छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ यह सभी देशों में एक समान पाया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ पाठशालाएँ केवल बालकों के लिए होती हैं तथा कुछ केवल बालिकाओं के लिए, यद्यपि अन्य प्रकार की पाठशालाओं में बालक और बालिकाएँ एक साथ भी शिक्षा प्राप्त करते हैं। शिक्षा के स्तर तथा शिक्षार्थियों की आयु के अनुसार भी पाठशालाओं का वर्गीकरण किया जाता है। शिशु-सदन अथवा नर्सरी स्कूल प्रायः दो से छः वर्ष के शिशुओं के लिए आयोजित किए जाते हैं। इसके उपरान्त प्राथमिक शिक्षा के निमित्त प्राथमिक पाठशालाएँ बारह वर्ष तक के बालकों के लिए नियोजित होती हैं। इनमें कक्षा छः अथवा सात तक की पढ़ाई की जाती है। फिर माध्यमिक विद्यालय होते हैं जिनका उच्च माध्यमिक शिक्षा का स्तर बारहवीं कक्षा तक जाता है। उच्च शिक्षा के लिए महा-विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों की आयोजना की जाती है। हमारे देश में बेसिक शिक्षा की योजना लागू होने से पाठशालाओं का वर्गीकरण जूनियर बेसिक तथा सीनियर बेसिक स्कूलों के नाम पर हो गया है। इसके अनुसार छः से ग्यारह

वर्ष की अवस्था के विद्यार्थियों के लिए जूनियर बेसिक तथा ग्यारह से चौदह वर्ष के लिए सीनियर बेसिक पाठशालाएँ हैं। इसके उपरान्त माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था है। पाठ्यक्रम के अनुसार भी पाठशालाओं का वर्गीकरण संभव है। कुछ पाठशालाएँ व्यावसायिक शिक्षालय के रूप में स्थित हैं तथा अन्य केवल संस्कारी शिक्षा की आयोजना करती हैं। संगीत, चित्रकला आदि कलाओं के लिए भी पृथक विद्यालय होते हैं।

पाठशाला का रूप अथवा आकार कुछ भी हो उसे निश्चय ही घर के सहयोग से बालक के सर्वांगीण विकास का प्रयत्न करना चाहिए। नवीन विचारधारा के अनुसार उसके प्रयत्न सब दिशाओं में संतुलित ढंग से होने चाहिए। पुरानी पाठशालाएँ अपना कृत्य केवल पाठ्यपुस्तकों के पठन-पाठन तक ही सीमित रखती थीं किन्तु आज उन्हें उन सब विशद उद्देश्यों के पालन के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता है जिनका निर्धारण हम पहले कर आए हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा बालक के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए पाठशाला को विविध दिशाओं में जो व्यवस्था करनी पड़ती है और जिन परिस्थितियों का निर्माण करना अपेक्षित है यहाँ उनपर संक्षेप में विचार कर लेना उचित है।

बालकों को पूर्ण स्वस्थ तथा शक्तिशाली बनाना पाठशाला का कर्त्तव्य है। आज सामान्य विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की हीनावस्था देखकर पाठशाला के इस कर्त्तव्य-पालन की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है। पाठशाला को अपने चारों ओर ऐसा वातावरण एवम् परिस्थिति का निर्माण करना है जिसमें रहकर विद्यार्थियों का स्वास्थ्य स्वतः सहज रूप में विकसित हो। इसके लिए सर्वप्रथम पाठशाला की स्थिति शांत एवम् स्वस्थ वातावरण में होनी चाहिए। उसके चारों ओर थोड़ी-बहुत खुली जगह अवश्य हो तथा धूप, हवा, रोशनी आदि का समुचित प्रबन्ध हो। पाठशाला के प्रत्येक कमरे में रोशनदानों, खिड़कियों आदि की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक पाठशाला में एक बड़े हॉल की भी सुविधा होनी चाहिए जहाँ सब बालक एक साथ एकत्र हो सकें। पाठशाला के चारों ओर पेड़-पौधों तथा छोटे-मोटे उद्यान का होना भी स्वास्थ्यकारी है। खेल-कूद के लिए प्रत्येक पाठशाला के साथ काफ़ी खुला हुआ मैदान होना आवश्यक है।

पाठशाला की स्थिति ऐसी हो जहाँ चारों ओर के विद्यार्थी बिना कठिनाई पढ़ने के लिए आ सकें, और किसी भी स्थान से उन्हें दूरी का अनुभव न हो। परन्तु, साथ ही, पाठशाला को शहर के बाज़ार आदि से हटकर स्थित होना चाहिए। कोलाहल और शोरगुल की बाधाओं के अतिरिक्त बाज़ार आदि का दूषित एवम् अस्वास्थ्यकारी

प्रभाव भी बालकों पर पड़ता है। पाठशाला में स्वास्थ्य-शिक्षण का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। इसके अन्तर्गत व्यायाम, खेल-कूद, सैनिकशिक्षण, तैरना आदि रखा जा सकता है। पाठशाला को अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के खेलों का भी प्रबन्ध करना चाहिए। प्रायः विदेशी खेल अत्यन्त ख़र्चीले तथा अधिक स्थान लेने वाले होते हैं। साधारण पाठशालाएँ उनके लिए यथेष्ट साधन नहीं जुटा पातीं। साथ ही, इन खेलों से अपेक्षाकृत कम बालक ही लाभ उठा पाते हैं। अतएव, इस बात का सुझाव दिया जा सकता है कि विदेशी ख़र्चीले खेलों के स्थान पर सस्ते किन्तु रोचक देशी खेलों को प्रोत्साहन दिया जाए। परन्तु, अपनी सामर्थ्यानुसार प्रत्येक पाठशाला अच्छे विदेशी खेलों की भी आयोजना करे।

खेल, व्यायाम अथवा ड्रिल आदि की सामग्री एकत्र कर देना तथा उनका आयोजन मात्र ही यथेष्ट नहीं। पाठशाला को यह भी देखना है कि सब विद्यार्थी उस व्यवस्था से पूरा लाभ उठाएँ। आजकल हमारी पाठशालाओं में केवल गिनती के विद्यार्थी ही इन खेलों में भाग ले पाते हैं, शेष बस तमाशा देखते और ताली पीटते हैं। खेल-कूद के निमित्त निश्चित किया गया धन भी इन्हीं गिने-चुने लोगों पर व्यय कर दिया जाता है। शेष विद्यार्थियों को उससे कोई लाभ नहीं पहुँचता। अतएव, यह चेष्टा होनी चाहिए कि पाठशाला के सब छात्र खेल-कूद में थोड़ा-बहुत भाग अवश्य लें। कभी-कभी पाठशाला में ड्रिल अथवा व्यायाम के लिए ऐसा समय निर्धारित किया जाता है जिससे बालकों को लाभ के स्थान पर हानि ही होने की संभावना रहती है। दोपहर में भोजन के पश्चात् बारह-एक बजे व्यायाम का समय नियत करना अत्यन्त हानिकारक है। व्यायाम अथवा ड्रिल की आयोजना वस्तुतः प्रातःकाल ही होनी चाहिए। खेल-कूद संध्या समय नियोजित किए जा सकते हैं। पढ़ने-लिखने के समान खेल-कूद में भी बालकों को शिक्षकों का नेतृत्व प्राप्त होना चाहिए। पाठशाला के प्रत्येक अध्यापक की स्वयं खेल-कूद में रुचि होनी चाहिए। आजकल पाठशालाओं में सैनिक प्रशिक्षण, एन० सी० सी०, आदि की व्यवस्था है। शारीरिक विकास के साथ ही साथ अनुशासन की दृष्टि से यह व्यवस्था अत्यन्त लाभदायक है।

पाठशाला में बालकों को अधिक समय तक रहना पड़ता है। दस से चार बजे तक के बीच छः घंटे के लम्बे समय में इनके नाश्ते का कुछ प्रबन्ध होना भी अत्यावश्यक है। हमारी पाठशालाओं में अधिकांश विद्यार्थी इस बीच कुछ खाने-पीने की इच्छा तथा आवश्यकता अनुभव करके भी धनाभाव के कारण उसका प्रबन्ध नहीं कर पाते। कुछ बालक अपने घर से भोजन ले आते हैं, किन्तु अनेक विद्यार्थी सड़क के ख़ोंचे वालों से सड़ी-गली और हानिकारक चीज़ें लेकर अपना काम चलाते हैं।

इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है और बच्चों में चटोरेपन की आदत बढ़ती है। अतएव, पाठशाला को सब विद्यार्थियों के लिए ऐसे नाश्ते का प्रबन्ध करना आवश्यक है जो स्वास्थ्यवर्द्धक, रुचिकर तथा सस्ता हो। उसके वितरण की व्यवस्था भी ठीक ढंग से होनी चाहिए। हमारे देश में इस दिशा में कुछ पाठशालाओं ने पग बढ़ाया है। मद्रास में प्राथमिक पाठशालाओं में सब बालकों को दिन का भोजन देने की व्यवस्था बड़ी सफलता के साथ चल रही है। उन्नत देशों, यथा रूस, इंग्लैंड, अमरीका आदि में इस प्रकार की व्यवस्था सामान्यतः सभी पाठशालाओं में पाई जाती है।

पाठशाला के व्यायाम-निर्देशक प्रायः खेल-कूद तथा विभिन्न प्रकार के व्यायाम कराने में निपुण होते हैं। यह उचित भी है। परन्तु, उन्हें बाल-मनोविज्ञान का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिससे वे प्रत्येक बालक की रुचि तथा स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखकर उसके उपयुक्त खेल अथवा व्यायाम निर्धारित कर सकें। खेल आदि का प्रबंध बालकों की आयु तथा शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रख कर करना चाहिए, उदाहरणार्थ, निर्बल अथवा अस्वस्थ बालक के लिए अधिक थकाने वाली कसरतों की योजना नहीं होनी चाहिए।

वास्तव में पाठशाला को स्वास्थ्य-शिक्षा की एक सामूहिक योजना पूर्वनिश्चित करके भली प्रकार कार्यान्वित करनी चाहिए। इस योजना के अन्तर्गत खेल-कूद, व्यायाम आदि की व्यवस्था के अतिरिक्त स्वास्थ्य-नियम, भोजन-विज्ञान तथा व्यायाम के विषयों पर व्याख्यान एवम् प्रदर्शन, चलचित्रों आदि के द्वारा उनका रोचक स्पष्टीकरण, स्वच्छता अथवा सफ़ाई के महत्त्व पर प्रकाश आदि को भी सम्मिलित करना आवश्यक है। पाठशाला में विद्यार्थियों से इस बात की अपेक्षा की जानी चाहिए कि वे अपने शरीर तथा वस्त्रों, पुस्तकों आदि की स्वच्छता पर पूरा ध्यान दें। इस योजना के अन्तर्गत उन्हें संक्रामक रोगों के लगने के कारण तथा उनसे बचने के उपाय भी बताने चाहिए। बालकों को प्रारंभिक चिकित्सा की शिक्षा अनिवार्य रूप से देने की व्यवस्था करना आवश्यक है जिससे वे ज़रूरत पड़ने पर अपनी तथा दूसरों की प्रारंभिक चिकित्सा कर सकें। स्वास्थ्यवर्द्धक, संतुलित तथा स्वच्छ भोजन के विषय में भी उनका ज्ञान विकसित होना चाहिए।

पाठशाला में प्रत्येक बालक के स्वास्थ्य का पूर्ण विवरण तथा अभिलेख रखा जाना चाहिए, और समय-समय पर उनके स्वास्थ्य की जाँच, नाप-तौल आदि की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। बालक की इन्द्रियों का परीक्षण विशेष रूप से होना आवश्यक है जिससे इस बात का पता चलता रहे कि उसे देखने, सुनने आदि में कोई कठिनाई तो नहीं होती है। स्वास्थ्य को बनाए रखने तथा इस दिशा में बालकों को

उत्साहित करने के लिए समय-समय पर प्रतियोगिता व पारितोषिक वितरण की व्यवस्था होनी चाहिए। स्वच्छता के लिए भी यदा-कदा परीक्षण एवम् पारितोषिक-वितरण किए जा सकते हैं। इन सब प्रयत्नों द्वारा बालकों को स्वच्छता तथा स्वास्थ्य-नियमों में स्वाभाविक रीति से अभ्यस्त कराया जा सकता है।

स्वास्थ्य-विकास के अतिरिक्त पाठशाला का दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह है कि बालक का बौद्धिक एवम् मानसिक विकास किया जाए। बालक के लिए ज्ञान-प्राप्ति का व्यापक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। पाठशाला का प्रयत्न संकुचित, अव्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना नहीं होना चाहिए। बालक के सभी नैसर्गिक गुणों का पूर्ण विकास ही उसका ध्येय होना चाहिए। उसे सभी मोटी-मोटी बातों का ज्ञान करा देना ही पाठशाला का कर्तव्य नहीं, न पाठशाला का यह उद्देश्य है कि किसी प्रकार बालक को रटा-रटा कर परीक्षा में पास करा दे। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास तथा उन्नयन पाठशाला का वास्तविक उद्देश्य है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए उत्सुकता एवम् जिज्ञासा उत्पन्न करने में पाठशाला को भरसक योग देना चाहिए।

पाठशाला में बालक को विविध आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। ये विषय उसके जीवन की आवश्यकताओं तथा मूल-प्रवृत्तियों से सम्बद्ध होने चाहिए। उदाहरणार्थ, पाठशाला में भाषा, भूगोल, इतिहास, गणित, विज्ञान, प्रकृति-निरीक्षण, कला आदि विषयों के अध्यापन का समुचित प्रबंध होना चाहिए। यह ज्ञान उन्हें व्यावहारिक ढंग से प्रदान किया जाना चाहिए जिसके लिए कक्षा की आदेश-प्रणाली की अपेक्षा विचार-विनिमय, वाद-विवाद, क्रियाशीलता आदि के प्रयोगात्मक ढंग अधिक लाभदायक हो सकते हैं। विभिन्न विषयों के अध्ययन के लिए बालक के मन में उत्साह तथा रुचि जाग्रत कराना प्राथमिक आवश्यकता है। इसके लिए पुस्तकालय में अध्ययन, रेडियो, सभा-समिति आदि का उपयोग किया जा सकता है तथा बालकों को स्वयं अपनी जिज्ञासा शांत करने और बौद्धिक विकास के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

पाठशाला में बालक को किस सीमा तक संस्कारी शिक्षा दी जाए तथा किस सीमा तक व्यावसायिक, इस विषय में यथेष्ट मतभेद है। प्रायः पाठशालाओं का मुख्य कर्तव्य बालकों को संस्कारी शिक्षा देना ही माना जाता रहा है, किन्तु अब धीरे-धीरे उनमें व्यावसायिक विषयों को भी प्रमुखता दी जाने लगी है। जीवन में व्यावसायिक उद्देश्य का महत्त्व बढ़ जाने के कारण पाठशालाओं में शिक्षा का व्यावसायिक दृष्टिकोण स्पष्ट लक्षित होने लगा है। माध्यमिक कक्षाओं के बाद से ही बालकों को किसी निश्चित व्यवसाय में निर्देशित करने के प्रयत्न प्रारंभ हो जाते हैं और उनके लिए ऐसे पाठ्य-विषयों की आयोजना की जाती है जो उन्हें आगे चलकर अपने निर्दिष्ट व्याव-

सायिक प्रशिक्षण में सहायता दे सकें। कहीं-कहीं तो प्राथमिक श्रेणियों में भी हस्तकला, उद्योग तथा छोटे-मोटे व्यवसाय का प्रशिक्षण प्रारंभ कर दिया जाता है। भारतीय बेसिक योजना में व्यावसायिक दृष्टिकोण स्पष्ट है।

कुछ शिक्षाविदों का विचार है कि पाठशालाओं में व्यावसायिक दृष्टिकोण की व्यापकता से बालक की उचित संस्कारी शिक्षा में बाधा पहुँचती है। व्यावसायिक विषयों को अधिक महत्त्व देने से उसकी संस्कारी शिक्षा पूर्ण रूप से नहीं हो पाती। दूसरे, पाठशाला के उच्च स्तर तक तो बालक को जीवन की सर्वांगीण शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे वह प्रथमतः अच्छा सामाजिक मनुष्य बन सके। इसके उपरान्त ही उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रारंभ करना चाहिए। ऐसा न होने पर व्यक्ति में प्रारंभ से ही संकुचित व्यावसायिकता घर कर लेती है और उसमें सामान्य मानवीय गुणों का अभाव रहता है। पश्चिमी देशों में इस प्रकार की शैक्षिक संकुचितता के प्रति आजकल यथेष्ट असंतोष प्रगट किया जा रहा है और इससे बचने के प्रयत्न भी किए जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्राथमिक स्तर पर बालक को व्यावसायिक शिक्षा देने लगना उचित नहीं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विरुद्ध भी है। छोटा बालक ऐसी शिक्षा का महत्त्व भली भाँति नहीं समझ सकता। प्राथमिक कक्षाओं के बाद भी बालक को यथेष्ट काल तक संस्कारी शिक्षा ही मिलनी चाहिए जिससे उसे विविध विषयों की सम्यक् जानकारी हो जाए। पाठशाला की उच्च कक्षाओं में भी संस्कारी शिक्षा की प्रधानता रहनी चाहिए, यद्यपि गौण रूप से बालकों को विभिन्न विषयों तथा पाठ्यक्रम का व्यावसायिक उपयोग समझाने की चेष्टा की जा सकती है। इस अवस्था में बालक अपने भविष्य के विषय में चिंतन करने लगते हैं तथा निश्चित व्यावसायिक कार्यों में उनकी रुचि भी बढ़ने लगती है। अतएव, उपयुक्त सहायक विषयों के प्रवरण पर विचार करने के लिए यही उचित समय है।

बालक का व्यावसायिक प्रशिक्षण विशिष्ट व्यावसायिक शिक्षालयों में होता है। वहाँ निश्चित व्यवसाय अथवा उद्योग में अलग-अलग ज्ञान प्रदान करने का प्रबंध होता है। व्यवसायिक प्रशिक्षण के पूर्व व्यावसायिक निर्देशन की परम आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति के गुण, रुचि तथा क्षमता आदि के आधार पर उसके उपयुक्त व्यवसाय में काम करने का निर्देशन किया जाता है। उचित वैज्ञानिक व्यावसायिक निर्देशन द्वारा व्यक्ति की आत्मसंतुष्टि तथा उत्पादन-वृद्धि हो सकती है। अतएव, पाठशाला की उच्च कक्षाओं में व्यावसायिक निर्देशकों द्वारा बालक का योग्य मार्ग-निदर्शन होना आवश्यक है। इस क्षेत्र में काम करने वाली विशेष संस्थाओं द्वारा भी उन्हें उचित

निर्देशन प्राप्त हो सकता है। परन्तु जिस बात को औद्योगिक शिक्षाकेंद्रों में विशेष रूप से सुधारने की आवश्यकता है वह है उनका पूर्णतया संकुचित व्यावसायिक दृष्टिकोण। इसी कारण अन्य देशों में औद्योगिक एवम् व्यावसायिक शिक्षालयों में भी मानवीय तथा संस्कारी विषयों को अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जाने लगा है। हमारे देश के व्यावसायिक तथा औद्योगिक महाविद्यालयों में भी इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। एक डॉक्टर अथवा इंजीनियर को अपने कार्य में दक्ष तो होना ही है, उसमें चरित्र, दया, सहानुभूति, सहयोग आदि मानवीय गुणों का विकास भी अत्यावश्यक है। एक प्रकार से व्यावसायिक कुशलता की अपेक्षा इन मानवीय गुणों का महत्त्व अधिक है। और व्यावसायिक कुशलता का उपयोग भी इन्हीं की अपेक्षा रखता है। इस हेतु औद्योगिक शिक्षाकेन्द्रों में जीवन-दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति आदि के अध्ययन की अति-बहुत व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

बालक के चारित्रिक विकास के निमित्त पाठशाला में ऐसा वातावरण निर्मित करना आवश्यक है जिसमें रहकर वह स्वतः नैतिकता की ओर उन्मुख हो। कक्षा में आदेश देकर बालकों को नैतिक बनाना अत्यंत कठिन है। वास्तव में आदर्श उदाहरण देकर ही उन्हें सच्चरित्रता के लिए प्रेरित किया जा सकता है। अपने से बड़ों के आदर्शों तथा आचरण की बालक सहज ही नक़ल करने लगते हैं। अतएव उन्हें सच्चरित्र बनाने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि पाठशाला के सब अध्यापक स्वयं उच्च तथा आदर्श चरित्र वाले हों। उनका आचरण तथा व्यवहार इतना परिष्कृत एवम् परिमार्जित हो कि बालक स्वतः उनकी ओर आकर्षित हों। पाठशाला में अध्यापक नियुक्त करते समय अधिकारियों को उनके चारित्रिक गुणों पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

बालकों में विविध चारित्रिक गुणों का विकास करने के लिए उन्हें पाठशाला में अनुकूल परिस्थितियों में रखा जाए। कर्त्तव्य-परायणता, सेवाभाव आदि के लिए उन्हें पाठशाला के छोटे-मोटे कार्यों में उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए। बालचर-संघ, समाज-सेवा-समिति, सहायता-कोष आदि के कार्यों में भाग लेकर उन्हें इन दिशाओं में प्रोत्साहित किया जा सकता है। चरित्र-निर्माण में पारितोषिक तथा दंड-विधान का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। प्रशंसनीय कार्य करने वाले बालक को पारितोषिक प्रदान कर सम्मानित किया जाए, तथा बुरे आचरण के लिए उसे यथोचित दंड दिया जाए। यह अवश्य है कि दंड निष्पक्ष भाव से दोष की गंभीरता के अनुसार निर्धारित हो और बालक के प्रति बदले की भावना से न दिया जाए। कुछ बड़े होने पर बालक पारितोषिक प्राप्त कर उतने उत्साहित नहीं होते जितने प्रशंसा अथवा शाबाशी प्राप्त कर।

अतएव सामाजिक सम्मान का इस विषय में पूरा उपयोग करना चाहिए। बालक के चरित्र में शनैः शनैः आत्म-सम्मान तथा चारित्रिक दृढ़ता अंकुरित करनी चाहिए। वह कोई अच्छा कार्य वस्तुतः इसलिए करे कि वह उसे अच्छा समझता है, इसलिए नहीं कि उसके करने पर उसे पुरस्कार प्राप्त होगा।

बालक में सौन्दर्यानुभूति जाग्रत करने के लिए पाठशालाओं में प्रकृति-निरीक्षण उद्यान, फूलों तथा क्यारियों की सजावट आदि का प्रबंध होना चाहिए जिसमें विद्यार्थी भाग ले सकें। प्राकृतिक सौंदर्य तथा प्रकृति-निरीक्षण द्वारा उनमें सौंदर्य के प्रति आकर्षण पैदा किया जा सकता है। यात्रा, देशाटन, पिकनिक आदि के द्वारा भी यह भावना उन्नत की जा सकती है। पाठशालाओं में विभिन्न कलाओं आदि की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इनके लिए पाठशाला को अच्छे कलाकारों का सहयोग प्राप्त करना होगा। नाटक, नृत्य, प्रदर्शिनी, गोष्ठी, उत्सव-समारोह आदि का आयोजन भी विद्यार्थियों की आन्तरिक भावनाओं को प्रशिक्षित करने में विशेष सहायता करता तथा उनकी सौंदर्यानुभूति को जाग्रत करता है। इसी के द्वारा आगे चलकर उन्हें चिर सत्य, चिर सुन्दर तथा चिर शिव की ओर प्रेरित किया जा सकता है।

पाठशाला में धर्म-शिक्षा के स्थान के विषय में लोगों में यथेष्ट मतभेद है। कुछ लोग पाठशाला में धर्म-शिक्षा प्रदान करना उचित समझते हैं तथा अन्य लोग अनुचित। भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना के कारण पाठशालाओं में धर्म-शिक्षा को कोई भी स्थान न देने की नीति अपनाई जा रही है। इस विषय पर हम आगे यथेष्ट विचार करेंगे, किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि बालक की शिक्षा में आध्यात्मिक उन्नति का प्रयत्न उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके लिए पाठशाला में धर्म-शिक्षा का उपयोग उचित ही नहीं आवश्यक भी है। परन्तु, ऐसा करने में धर्म का व्यापक अर्थ लेना चाहिए, संकुचित नहीं। यदि धर्म का अर्थ हम अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान तथा पालन मानते हैं, तो पाठशाला बालकों को इस दिशा में प्रेरित करके उनका जीवन उन्नत कर सकती है। ईश्वर में विश्वास, सत्य, शिव तथा सुन्दर की साधना, उच्च आदर्श आदि ही धार्मिक व्यक्ति के गुण हैं। और बिना धार्मिक मत-मतान्तर के झगड़े में पड़े भी पाठशाला बालकों में इन गुणों की स्थापना का प्रयत्न कर सकती है। उनके अंदर लोक-कल्याण तथा लोक-रंजन की प्रवृत्ति धीरे धीरे जाग्रत की जा सकती है।

परन्तु, इसके लिये कोरे आदेश सफल नहीं हो सकते। यदि पाठशाला की समस्त व्यवस्था ऊँचे आदर्शों तथा उन्नत भावना पर आधारित है तो बालक सहज ही

इस वातावरण में रहकर उन गुणों का विकास कर लेगा। इस दिशा में अध्यापकों का कर्त्तव्य विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण है। कक्षा में भी धर्म-शिक्षा का विशद दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। विभिन्न धर्मों की मूल शिक्षा, धार्मिक व्यक्तियों के जीवन-वृत्त, धार्मिक भावना का विकास, धर्म का सामाजिक महत्त्व आदि विषयों की चर्चा कक्षा में बालकों के साथ की जा सकती है। सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति वह है जिसमें बालक संकुचित साम्प्रदायिकता के घेरे से निकल कर विशद मानव धर्म का भाव अपनाएँ। भारत में विशेष रूप से इस समस्या का समाधान करने में पाठशाला को समुचित योगदान करना चाहिए जिससे बालकों में प्रारम्भ से ही संकुचित साम्प्रदायिक भावना दूर की जा सके, और वयस्क होकर वे प्रत्येक विषय को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने की त्रुटि न करें।

इन दिशाओं में पूरा प्रयत्न करके ही हमारी पाठशालाएँ बालक तथा राष्ट्र की पूर्ण उन्नति में सहायक हो सकती हैं। वर्तमान पाठशालाओं में इन सभी दिशाओं में यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। वे प्रायः संकुचित ज्ञानार्जन अथवा अच्छे परीक्षाफल का उद्देश्य ही अपने सामने प्रमुख रूप में रखती हैं, और परिणामस्वरूप विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के अन्य आवश्यक अंगों का विकास कुंठित रह जाता है। इसका परिणाम हम अपरिपक्व तथा अविकसित नागरिकों के रूप में अपने चारों ओर प्रतिदिन ही देखते हैं।
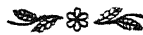
अध्याय १८

शिक्षा-संस्था के रूप में समाज

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज का निर्माण करता है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति जब एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो समाज का निर्माण होता है। किन्तु दो व्यक्तियों के केवल समीपस्थ होने से ही समाज का निर्माण नहीं हो जाता, इसके लिए उनमें आपसी व्यवहार तथा आदान-प्रदान होना अत्यावश्यक है। इस विषय पर विचार करते हुए डीवी ने कहा है कि मशीन के विभिन्न पुर्ज़े एक दूसरे के समीप तथा आपस में सम्बद्ध होते हुये भी समाज नहीं कहला सकते। समाज कहलाने के लिए उनमें आपसी सम्बन्ध एवम् एकत्त्व की भावना और उसकी चेतना आवश्यक है। यह चेतना मशीन तथा उसके पुर्ज़ों में नहीं होती। दूसरों में रुचि तथा उनसे सम्बद्ध होने की भावना ही व्यक्तियों को सामाजिक रूप देती है। अन्यथा, दो पड़ोसी एक-दूसरे के साथ रहकर भी मशीन के पुर्ज़ों की तरह सामाजिक एकता के सूत्र में नहीं बँध पाएँगे।

समाज का आकार छोटे से छोटा तथा बड़े से बड़ा हो सकता है। दो व्यक्तियों का समूह उसका सूक्ष्मतम रूप है और समस्त ब्रह्मांड उसका बृहत्तम रूप। एक बड़े समाज के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयाँ हो सकती हैं तथा एक ही व्यक्ति अनेक सामाजिक इकाइयों का सदस्य भी हो सकता है। विश्व-समाज के अन्तर्गत अनेक राष्ट्रीय समाज, राष्ट्र के अन्तर्गत प्रान्त तथा नगर के समाज, नगर के अन्तर्गत मोहल्ले के अनेक समाज, तथा मोहल्ले में सभा, परिषद् आदि के अनेक सामाजिक रूप संभव हैं। ये सब सामाजिक इकाइयाँ परस्पर किसी न किसी अंश तक सम्बद्ध होती हैं। घर तथा पाठशाला भी इसी प्रकार की सामाजिक इकाइयों के रूप हैं।

यद्यपि प्रत्येक समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है, फिर भी संयुक्त सामाजिक भावना व्यक्तियों की पृथक-पृथक भावनाओं का योग मात्र नहीं होती। एक व्यक्ति दूसरे

से क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा नवीन सामाजिक भावनाओं को जन्म देता है। इसीलिए प्रायः सामूहिक भावनाएँ उस समूह के सदस्यों की व्यक्तिगत भावनाओं से बहुत-कुछ भिन्न होती हैं। इसी आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने समूह-मनोविज्ञान का पृथक् ही अस्तित्त्व मान लिया है। तभी तो एक समाज का सदस्य बन जाने पर निर्धन, धनवान स्त्री, पुरुष, सभी अपने व्यक्तिगत भेद-भाव भुलाकर एक हो जाते हैं। एक राष्ट्र का सामाजिक एकत्त्व भी इसी से स्पष्ट है कि उसमें प्रत्येक नागरिक व्यक्तिगत भेद-भाव रखते हुए भी एक ही सामाजिक भावना से प्रेरित होता है। फिर भी, प्रत्येक व्यक्ति की अच्छाई और बुराई पर ही सम्पूर्ण समाज की उन्नति तथा अवनति निर्भर है। छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयों की अवनति अन्त में समस्त बड़े समाज की अवनति का कारण बन जाती है। किसी एक व्यक्ति की दार्शनिक विचारधारा सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों को जन्म दे सकती है और उसी में श्वास लेकर सब सदस्यगण अपनी विचारधाराओं को परिपक्व बनाते हैं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्ति तथा समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि व्यक्ति ही समाज का निर्माण करता है तथापि वह स्वयं समाज से निरन्तर प्रभावित भी होता रहता है। समाज का सदस्य बनने पर उसका शैक्षिक प्रभाव व्यक्ति पर पड़ने लगता है और उसे सामाजिक विचारों व्यवहारों तथा आदर्शों से परिवेष्ठित करता है। वास्तव में समाज के प्रभाव से परिवर्तित एवम् परिवर्द्धित व्यक्ति ही शिक्षित कहा जाता है। परिवार, पाठशाला, राज्य आदि सभी सामाजिक संस्थाओं के रूप में बालक को शिक्षित करने में अपना योगदान करती हैं। समाज का प्रभाव बालक पर जन्म के बाद से ही पड़ने लगता है, और यह प्रभाव कितना सहज एवम् महत्त्वपूर्ण होता है यह हम बालक की भाषा के विकास को देखकर स्पष्ट जान सकते हैं। बालक का जीवन अपने समाज के अनुरूप ढलता है। जो बातें वह पाठशाला तथा पाठ्यक्रम की शिक्षा से नहीं सीख पाता वह सहज ही अपने समाज के वातावरण द्वारा सीख लेता है। विलियम कॉबेट का कथन है कि, "यह अखाड़ा ही वह स्थल है जहाँ मैंने वास्तविक शिक्षा प्राप्त की। इस शिक्षा का रूप ग्राम्यजीवन तथा खेलकूद था। विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय नामक कृत्रिम संस्थाओं की अपेक्षा मैं इसकी शिक्षा को अधिक महत्त्व देता हूँ।"

बालक के जन्म के बाद से ही प्रत्येक सामाजिक संस्था का कर्तव्य हो जाता है कि वह उसके विकास के लिए समुचित व्यवस्था करे तथा अनुकूल वातावरण की आयोजना करके उसके सामाजीकरण में योग दे, परन्तु सामाजीकरण की यह प्रक्रिया इस ढंग से हो कि बालक को कम से कम कठिनाई का अनुभव हो। किसी-किसी

सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का समस्त शैक्षिक उत्तरदायित्व राज्य को सौंप दिया जाता है, जैसे रूस आदि में। दूसरी ओर, प्रजातंत्रवादी सामाजिक व्यवस्था में समाज का प्रत्येक सदस्य बालक के विकासार्थ अपना उत्तरदायित्व निबाहता है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में समाज की समस्त इकाइयाँ यथा पंचायत, नगर-पालिका, महा-पालिका, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि अपनी निजी संस्थाओं द्वारा बालक की शिक्षा में राज्य का हाथ बटाती हैं। बालक की शिक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर डाल कर समाज अपनी ज़िम्मेदारी से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

यदि समाज अपनी दशा में सुधार तथा उन्नति चाहता है तो उसे बालक की समुचित व्यवस्था करनी होगी। आज के बालक की शिक्षा पर कल के समाज की उन्नति निर्भर करती है। अतएव, समाज को बालक की शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व ईमानदारीपूर्वक सम्भालना चाहिए और ऐसा सामाजिक वातावरण निर्मित करना चाहिए जिसमें रहकर बालक अपने आप पुष्पित-पल्लवित हो। एक-एक बालक को उन्नत मानव बनाने में ही सम्पूर्ण समाज तथा विश्व का कल्याण है।

अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा करने और प्रत्येक सदस्य को पूरी तरह सामाजिक बनाए रखने के प्रयत्न में समाज प्रायः उचित सीमा का अतिक्रमण भी कर जाता है। अनेक व्यक्ति सामाजिक नियमों, रूढ़ियों तथा परम्पराओं के बंधन में ग्रस्त होने के कारण अपना विकास नहीं कर पाते। समाज उन्हें पूर्णतया अपना दास बना कर रखता है। ऐसी दशा में व्यक्ति को सामाजिक नियमों की अवहेलना करने पर कठोर दण्ड भुगतने होते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे देश में 'हुक्का-पानी' बंद होने का भय इतना अधिक रहता है कि कोई व्यक्ति जाति तथा समाज के कर्णधारों की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकता। इससे व्यक्ति का निजत्व कुंठित हो जाता है और समाज की प्रगति रुक जाती है। व्यक्ति के सामाजीकरण का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उसे पूर्णतया समाज का दास बना दिया जाए। वास्तव में समाज की खुली हवा में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का पूरा अवसर मिलना चाहिए। व्यक्ति तथा समाज में संघर्ष होने से दोनों की हानि है; उनके सहयोग तथा सामंजस्य में दोनों की उन्नति है।

समाज के समस्त शैक्षिक प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब कि विभिन्न सामाजिक इकाईयों तथा संस्थाओं में सहयोग हो। परिवार एवम् पाठशाला, तथा पाठशाला एवम् समाज को एक दूसरे के सहयोग से कार्य करना चाहिए। परिवार और समाज का सम्बन्ध तो स्वाभाविक तथा सुस्पष्ट है क्योंकि परिवार के सदस्य समाज के सदस्य होते हैं, परन्तु पाठशाला तथा समाज का सम्बन्ध प्रायः सन्तोषजनक नहीं होता।

ाविधिक शिक्षण-प्रणाली तथा विशिष्ट प्रयत्नों के कारण पाठशाला एक प्रकार से माज से पृथक संस्था बन गई है। उसमें एक विशिष्ट उन्नत सामाजिक वातावरण क निर्माण का प्रयत्न होने के कारण बहुत-कुछ कृत्रिमता आ जाती है और परिणाम-वरूप पाठशाला बाह्य समाज का अंग नहीं बन पाती। वास्तविक समाज तथा पाठ-ााला के कृत्रिम समाज में कभी-कभी तो इतना अंतर हो जाता है कि बालक दो भेन्न वातावरणों में पलते प्रतीत होते हैं और उनकी शिक्षा वास्तविक समाज के लिए न होकर पाठशाला के कृत्रिम समाज के लिए ही हो पाती है। इस कारण सभी शेक्षाविद् पाठशाला और समाज में घनिष्ट सम्बन्ध अथवा एकत्व-स्थापन के लिए बार-बार ज़ोर देते हैं। डीवी तो इसी आधार पर शिक्षा को सामाजिक जीवन के अनुभवों से उद्भूत मानते हैं।

शिक्षालय तथा समाज का सम्बन्ध वास्तव में अटूट है। शिक्षालय के अध्यापक तथा विद्यार्थी बाह्य समाज के सदस्य होते हैं और इस नाते पाठशाला में समाज के प्रभाव का प्रवेश कराते हैं। बालकों के अभिभावक भी अपनी माँगों द्वारा पाठ-शाला पर बाह्य समाज का प्रभाव डालते हैं। परन्तु, यह सब होने पर भी पाठशाला का कृत्रिम तथा विशिष्ट वातावरण उसके और समाज के बीच की खाई पटने नहीं देता। अतएव, पाठशाला को बाह्य समाज से सम्बद्ध करने के लिए उसमें कुछ विशेष प्रयत्न आवश्यक हो जाते हैं। एक तो यही कि शिक्षालय का पाठ्यक्रम सामा-जिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। पाठशालाओं की अभिभावक-समितियाँ तथा प्राक्तन-छात्र-परिषद् जनसाधारण को पाठशाला में बुलाकर उन्हें उसकी कार्य-विधि से परिचित कराने का प्रयत्न करती हैं। इसके अतिरिक्त अब यह प्रयत्न भी किया जा रहा है कि पाठशाला के अध्यापकगण स्वयं बालकों के घर जाकर उनके परिवारों से सम्पर्क स्थापित करें तथा बालकों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों आदि को समझने का प्रयत्न करें। यह भी सुझाया गया है कि अपने-अपने मोहल्ले में अध्या-पकगण समस्त शैक्षिक एवम् सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन और नेतृत्व करें। इस प्रकार के प्रयत्न से पाठशाला का शैक्षिक एवम् उन्नायक प्रभाव समाज पर भी पड़ेगा।

शिक्षालय तथा समाज का यह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रूस में अत्यन्त व्यापक बन गया है। वहाँ समाज पाठशाला है और पाठशाला समाज का अभिन्न अंग। जैक्स के शब्दों में, "और स्थानों की अपेक्षा रूस में समाज तथा शिक्षालय का सम्बन्ध घनिष्टतम है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज के हित में समाज की शिक्षा समाज द्वारा समाज के ही माध्यम से हो। वहाँ शिक्षक तथा शिक्षार्थी एकाकार हो जाते हैं और प्रत्येक सामाजिक मंडली अपनी स्वशिक्षण-संस्था बन जाती है।"

स्पष्ट ही समाज तथा शिक्षालय में सम्पर्क स्थापित करने की दो रीतियाँ संभव हैं। एक तो यह कि शिक्षालय को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया जाए। भारत में पहले यही व्यवस्था थी। ग्राम पाठशालाओं के अध्यापक अपने क्षेत्र के मुखिया होते थे तथा गाँव के समस्त कार्य, पंचायत, उत्सव-समारोह आदि वहीं होते थे। जापान में आज भी पाठशाला अपने क्षेत्र के समस्त सामाजिक कार्यों का केन्द्र-स्थल है। इससे पाठशाला तथा समाज के बीच घनिष्टता बढ़ने के अतिरिक्त समाज को पाठशाला का योग्य नेतृत्व प्राप्त होता है। इससे समाज की अपनी शिक्षा-व्यवस्था तथा शिक्षा-संस्थाओं में आस्था बढ़ती है। वर्तमान भारत में समाज एवम् जन साधारण को प्रचलित शिक्षा-प्रणाली तथा शिक्षा-संस्थाओं में तनिक भी विश्वास नहीं रह गया है। इस विश्वास को पुनः स्थापित करने तथा शिक्षा को सामाजिक महत्त्व दिलाने की अत्यंत आवश्यकता है। मॉरिस के शब्दों में, "इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक स्थानीय समाज शिक्षात्मक समाज बन जाए और समाज का आकर्षणकेन्द्र वह स्थल हो जहाँ उन्नयन एवम् विकास की शिक्षा मिलती है।"

दूसरे, यह भी हो सकता है कि समाज को पाठशाला में लाने के स्थान पर स्वयं पाठशाला को ही समाज में प्रविष्ट कराया जाए, अर्थात्, पाठशाला के अध्यापक, विद्यार्थी आदि सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश कर क्रियाशील हों और उसपर अपना शैक्षिक प्रभाव डालें। इस प्रक्रिया में वे स्वयं भी समाज की अच्छाइयों से प्रभावित होंगे। इससे समाज पाठशाला का मूल्य तथा उपयोगिता समझने लगेगा और शिक्षित व्यक्तियों में समाज-सेवा की भावना जाग्रत होगी। हमारे देश की स्थिति देखते हुए तो इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि समाज तथा पाठशाला को एक दूसरे में प्रवृत्त कराया जाए। इससे दोनों का लाभ है और दोनों में आपसी विश्वास तथा सहयोग उत्पन्न होगा। इसके लिए हमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रयत्नों से लाभ उठाना चाहिए।

जैक्स का कथन है कि, "बालकों में यह भावना पैदा करनी चाहिए कि पाठशाला हमारे समाज का एक अभिन्न अंग है। यहाँ जो कुछ भी होता है वह समाज के हितार्थ है तथा उसकी सुख-समृद्धि के लिए प्रत्येक को अपना निजी योगदान देना चाहिए। पाठशाला में प्रयुक्त पाठ्यक्रम की जड़ें स्थानीय जीवन की आवश्यकताओं में जमी होनी चाहिए। यह तभी संभव है जब कि अध्यापक अपने समाज की दशा से पूर्णतया परिचित हो और अपने सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेता हो"। हमारे देश में भी आज यही समस्या है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षा को भारतीय जीवन से सम्बद्ध किया जाए, पाठशाला में समाज तथा देश के प्रति

सद्भावना पैदा की जाए, पाठशालाएँ समाज की समस्याओं को सुलझाने में सहायता दें, और प्रत्येक नागरिक को यह विश्वास हो कि शिक्षा द्वारा ही मेरा उद्धार संभव है।

समाज का कर्तव्य केवल बालक के प्रति ही नहीं है, अपितु बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सभी समाज के सदस्य होते हैं। अतएव, उन सभी के विकास तथा उन्नति के लिए प्रयत्नशील होना समाज का कर्तव्य है। बालक के लिए घर का वातावरण सुधारने में योग देना, वयस्कों के लिए कार्यालयों, कारखानों, खेतों आदि में कार्य करने की दशाओं में सुधार, समाज में स्त्रियों, अछूतों आदि की दशा में सुधार आदि भी समाज के अपने कर्तव्य हैं। इसके अतिरिक्त समाज का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकता है जब कि उसके बालकों के सर्वतोमुखी विकास की दिशा में प्रारंभ से ही प्रयत्न किया जाए।

कोई भी समाज बालक के शारीरिक विकास की अवहेलना नहीं कर सकता। उसके शारीरिक उन्नयन के लिये समाज को भरसक प्रयत्न करना चाहिए। जिस समाज में बालकों को स्वस्थ तथा सुपुष्ट बनने के लिये उत्साहित किया जाता है उसके बालक स्वतः अपने शारीरिक विकास में रुचि लेने लगते हैं। समाज को इस हेतु समस्त साधन जुटाना आवश्यक है। व्यायामशाला, अखाड़ा, खेलकूद के मैदान आदि समाज द्वारा निर्मित किए जा सकते हैं। प्रायः मोहल्ले में लोग मिल-जुलकर बालकों के खेलकूद आदि का अच्छा प्रबन्ध कर लेते हैं। ये प्रयत्न और अधिक व्यापक बनाए जा सकते हैं जिससे प्रत्येक सामाजिक इकाई अपनी स्वाध्य रक्षा तथा स्वास्थ्यवर्द्धन का प्रबंध स्वयं कर सके।

भारतीय समाज को गन्दगी के विरुद्ध तो जेहाद ही बोल देना चाहिए। हमारे समाज में जहाँ बिना हाथ धोए पानी का गिलास छूना अपवित्र समझा जाता था वहाँ अब गन्दगी का सर्वत्र राज्य हो गया है। इससे अनेक रोग फैलते हैं और सामाजिक स्वास्थ्य का ह्रास होता है। हमारे समाज में निरन्तर फैली छूत की बीमारियाँ इन्हीं गन्दी आदतों तथा अशुद्ध जीवन का परिणाम हैं। समाज को स्वयं अपनी स्वच्छता का ध्यान रखना होगा जिससे घर, मोहल्ले, नगर आदि में आवश्यक सफाई रहे और बालक अपना स्वास्थ्य अच्छा रख सकें। विविध सामाजिक संस्थाएँ इस दिशा में प्रयत्नशील हो सकती हैं। चिकित्सालयों की स्थापना तथा संचालन का कार्य भी समाज अपने ऊपर ले सकता है। परन्तु चिकित्सालयों का कृत्य केवल ओषधि-वितरण नहीं। बीमारियों से बचने, स्वस्थ रहने, खाने-पीने आदि के विषय में बालकों के लिये उपयोगी ज्ञान इन्हीं संस्थाओं द्वारा प्रसारित होना चाहिए। समाज

द्वारा बालकों के लिये पार्क, उद्यान, भ्रमण-स्थल आदि का भी प्रबन्ध होना चाहिए जिससे उनमें बाहर निकलकर खुली हवा में घूमने की आदत पड़े।

बालक की व्यावसायिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना भी समाज का कर्तव्य है। समाज के प्रत्येक सदस्य को क्रियाशील होकर जीविकोपार्जन में समर्थ होना चाहिए। जो समाज व्यक्तियों की अकर्मण्य तथा बेकारी सहज स्वीकृत कर लेता है और उसका निराकरण नहीं करता वह स्वयं अपने तथा उस व्यक्ति के साथ अन्याय करता है। सज्जन पुरुष वह है जो समाज से जितना प्राप्त करता है उससे अधिक उसे लौटा दे। समाज को इसी दृष्टिकोण से व्यक्ति में आत्मनिर्भरता तथा परमार्थ की भावना विकसित करनी चाहिए। यह तभी संभव है जब कि बचपन से ही व्यक्ति को आत्मनिर्भरता के निमित्त हस्तकार्य तथा कला-कौशल की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाए। प्रायः सुविकसित देशों में अनेक व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाएँ समाज द्वारा ही संचालित होती हैं और उनका देश की शिक्षा व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

यह आवश्यक है कि समाज में नवीन उद्योग-धन्धों को उत्साहित किया जाए, शिक्षित व्यक्ति की हाथ से काम करने की झिझक छुड़ाई जाए, कला-कौशल, कृषि आदि के क्षेत्र में सुधार किया जाए तथा उन्हें रुचिकर एवम् लाभदायक बनाया जाए। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश होते हुए भी अपनी आवश्यकता भर को अन्न नहीं पैदा कर पाता। कृषक-समाज को मिल-जुलकर स्वयं अपने ही हित में कृषि-सुधार की योजनाएँ तथा कृषि-प्रशिक्षण की संस्थाएँ चालू करनी चाहिए। अन्य देशों में समाज स्वयं जाग्रत तथा क्रियाशील होता है। हमारे देश में ऐसे प्रयत्नों का सर्वथा अभाव है। समाज को इस दिशा में अपना उत्तरदायित्व समझकर आगे बढ़ना चाहिए। यह अवश्य कहा जाएगा कि बालक को पूर्णतया व्यावसायिक बना देने में भी हानि है। समाज का आधार भौतिकता तथा धन-संचय होने से अनेक दोष तथा कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं, जिनपर हम पहले विचार कर चुके हैं। अतएव, समाज को इस विषय में संतुलित दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है।

बालक को मानसिक विकास का पूरा अवसर देना समाज का दूसरा कर्त्तव्य है। समाज में प्रत्येक सदस्य को स्वयं सोचने, विचारने तथा निर्णय करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। प्रायः समाज में बालक के विचार-स्वातंत्र्य को प्रारम्भ से ही कुंठित बना दिया जाता है और उससे सामाजिक नेताओं के विचारों के अक्षरशः पालन की अपेक्षा की जाती है। यह नितांत दोषपूर्ण है। बालकों का मानसिक विकास ऐसे वातावरण में हो कि वे बड़े होने पर देश की विषम से विषम समस्याओं को हल करने

में दृढ़तापूर्वक सचेष्ट रहें। उन्हें अपनी तथा देश की समस्याओं को स्वयं सुलझाने में समर्थ होना चाहिए। साथ ही समाज बालकों के लिए पुस्तकालय, नाट्यशाला, सिनेमा आदि का निर्माण एवम् संचालन कर सकता है। अपने ढङ्ग की उपयोगी, उन्नत तथा आदर्श पाठशालाओं का संचालन समाज का कर्त्तव्य है। पत्र-पत्रिकाएँ, प्रेस, रेडियो आदि की गणना भी सामाजिक संस्थाओं में की जाती है। वर्तमान समय में इनका स्थान बालक की शिक्षा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समाज को इनकी समुचित व्यवस्था करनी चाहिये।

बालकों के अतिरिक्त प्रौढ़ स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा का प्रबन्ध करना भी समाज का कर्त्तव्य है। इसीलिए वर्तमान समय में सामाजिक शिक्षा कहकर प्रौढ़ शिक्षा का बोध कराया जाता है। हमारे देश की उन्नति तथा विकास के लिए समुचित प्रौढ़ शिक्षा का प्रबन्ध अत्यंत आवश्यक है। राज्य तो इस दिशा में प्रयत्नशील है ही, समाज को भी अपना उत्तरदायित्व भली भाँति निबाहना चाहिए। केवल साक्षरता ही प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य नहीं; साक्षरता तो वास्तविक शिक्षा के लिए साधनरूप है। शिक्षा के लिये संगीत, नाटक, रेडियो, सिनेमा आदि के समान पठन-पाठन का भी आश्रय लिया जा सकता है, परन्तु जो वास्तविक उद्देश्य है वह यह कि समाज के सदस्य अपने प्रतिदिन के क्रियाकलापों में अधिक योग्यतापूर्वक भाग ले सकें तथा उन्नत हों। भारत में अधिकांश जनता कृषि करती है। उसके लिए कृषि के नवीन प्रयोग, उपज बढ़ाने के उपाय, पशु-पालन आदि का ज्ञान कराना ही प्रौढ़ शिक्षा का वास्तविक रूप है। इसी दृष्टिकोण से हमें भारत के सात लाख ग्रामों की शिक्षा का प्रबन्ध स्वयं समाज की सहायता से करना होगा। महात्मा गांधी के अनुसार प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत अपढ़ वयस्कों की प्रतिदिन की आवश्यकताओं, स्वच्छता, देश-विदेश की बातों, क्रिया-कलापों के विषय में ज्ञानोन्नति होनी चाहिए।

समाज को बालक के नैतिक विकास के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। चरित्रवान व्यक्ति ही समाज को गौरवान्वित करता है। वास्तव में व्यक्ति के चरित्र तथा आचरण की परीक्षा सामाजिकता के आधार पर होती है। समाज के विरुद्ध जाने वाला व्यक्ति दुश्चरित्र समझा जाता है। परन्तु सच्चरित्रता के फेर में पड़कर व्यक्ति को सामाजिक दासता में जकड़ देना उचित नहीं। यदि स्वयं समाज में विनय, नम्रता, उदारता, सहयोग, धैर्य, कर्त्तव्यपरायणता आदि का नैतिक वातावरण है तो बालक स्वतः अपने चरित्र में इन गुणों को आत्मसात् कर लेगा। जो समाज अपने बीच अनैतिकता, अनाचार एवम् चरित्रहीनता को सहन करता है वह बालकों में उच्च गुणों की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। हमारे देश में चोरबाज़ार, दूकानदारों की

बेईमानी, लोगों की कामचोरी, घूस आदि इसी कारण हैं कि समाज इन्हें सहन करता है। कोई सत्ता इन कमज़ोरियों को केवल क़ायदे-क़ानून के बल पर दूर नहीं कर सकती। इसके लिए लोगों का चरित्र ऊँचा उठाना होगा और इस कार्य में समाज स्वयं अपनी बहुत-कुछ सहायता कर सकता है।

समाज के जीवनादर्श, धारणाएँ तथा मूल्य इतने उच्च तथा प्रवैगिक होने चाहिए कि उसमें निम्न कोटि का व्यक्ति क्षण भर भी न ठहर पाए। आत्मसम्मान, स्वावलम्बन, परिश्रम तथा ईमानदारी के आधार पर ही व्यक्ति को समाज में सम्मान तथा उच्च स्थान मिलना चाहिए, अन्य किसी कारण से नहीं। संसार में स्वास्थ्य, सुन्दर शरीर, आकर्षक वस्त्रों तथा स्वच्छ घरों का जितना महत्त्व है, सामाजिक जीवन को सुखी बनाने में उससे कहीं अधिक महत्त्व तथा गौरव नैतिकता का है। अतएव, चरित्र-विकास का वह व्यापक दृष्टिकोण जिस पर हम पहले विचार कर आए हैं, लेकर समाज को इस ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। यहाँ यह दोहरा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि समाज के वयस्क सदस्य ही इस दिशा में बालकों का नेतृत्व कर सकते हैं। नई पीढ़ी उधर ही जाएगी समाज उसे जिधर ले जाना चाहेगा।

बालक की सौंदर्यानुभूति को विकसित करने में भी समाज को अपना उत्तर-दायित्व निबाहना चाहिए। सौंदर्यबोध द्वारा बालक लोक-मर्यादा का पालन करना सीखेंगे, उनमें लोक-कल्याण की भावना जाग्रत होगी तथा उनके जीवन में कुरूपता एवम् अश्लीलता का ह्रास होगा। वास्तव में शिवम् तथा सुन्दरम् में अधिक भेद नहीं। जो शिव है वही सुन्दर है और जो सुन्दर है उसे शिव होना है। यदि समाज के सदस्य उच्च कोटि की सौंदर्य भावना से प्रेरित हैं तो वे मानव-कल्याण में समर्थ बन सकते हैं। इसके लिए समाज में ललित-कलाओं यथा संगीत, चित्रकला, नृत्य आदि को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। प्रायः सामाजिक दुर्भावनाओं के कारण कला दूषित हो जाती है, यह कला का नैतिक पतन है। समाज को इस बात का प्रयत्न करना होगा कि सभी कलाओं की सार्थकता जीवन की उन्नति में हो। प्रतिदिन के व्यवहार में नम्रता, विनय, उदारता आदि भी सौंदर्यात्मक वृत्ति के द्योतक हैं। घर, मोहल्ले आदि की स्वच्छता, नगरों में सौंदर्यस्थलों का निर्माण, सरिता, सरोवर, उद्यान आदि जीवन में सौंदर्यानुभूति का विकास करते हैं। हमारे देश में इस ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। प्रकृति का दिया हुआ सौंदर्य हम अपनी गंदी आदतों से नष्ट करके उसे कुरूप बना देते हैं। कश्मीर इसका स्पष्ट उदाहरण है। अतएव, इस दिशा में समाज को क्रियाशील होना पड़ेगा जिससे सुन्दर जीवन-यापन का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति में पड़े। नगर पालिकाएँ इस दिशा में विशेष कार्य कर

सकती हैं। प्रकृति-निरीक्षण, भ्रमण, प्रदर्शिनी, संगीत-समारोह, पशु-वाटिका, अजायबघर आदि की व्यवस्था समाज को करना आवश्यक है। सामाजिक उत्सवों, त्यौहारों आदि में भी सौंदर्यात्मक गुणों की स्थापना करना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण क़दम होगा। अल्पना, बन्दनवार आदि इसके उपयुक्त साधन हैं। समाज को यह भी देखना चाहिए कि उसका साहित्य कुरूप तथा अश्लील न हो, और जो साहित्य बालकों को पढ़ने के लिए दिया जाए वह उनकी सौंदर्यानुभूति को विकसित करने में सहायक हो।

धर्म के प्रति समाज का दृष्टिकोण विशेष महत्त्व रखता है। एक ही समाज में अनेक धर्मावलम्बी होते हैं और उन्हें अपने धर्म-पालन की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसीलिए समाज को अपने सदस्यों में धार्मिक सहिष्णुता का बीज बोना आवश्यक है। धार्मिक असहिष्णुता से सामाजिक संघर्ष बढ़ता है तथा उसके संगठन में बाधा पहुँचती है। यह अवश्य है कि धर्म पूर्णतया व्यक्तिगत चीज़ है, किन्तु प्रत्येक धर्म का एक सामाजिक रूप भी होता है और वह है लोक-कल्याण के लिए उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा। धर्म समाज को व्यक्ति के प्रति अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कराता है तथा व्यक्ति को समाज से सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होता है। वास्तविक रूप में धार्मिक व्यक्ति सहयोग, भ्रातृत्व तथा विश्वबंधुत्व की भावना से प्रेरित होता है और यही सामाजिकता है। धर्म द्वारा उसमें समाज-सेवा की भावना जाग्रत होती है तथा वह परमार्थी बनता है। इसलिए, यद्यपि हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण समाज का अपना कोई एक निश्चित धर्म नहीं होता तथापि समाज का आधार उच्च धार्मिक आदर्शों में निहित होना अत्यंत आवश्यक है।

इन सब प्रयत्नों द्वारा समाज अपने शैक्षिक कर्त्तव्यों को निबाह सकता है। इसी में व्यक्ति तथा उसका अपना कल्याण है। हमारे भारतीय समाज को इस दिशा में अधिकाधिक प्रयत्नशील होना चाहिए। परन्तु बालकों की शिक्षा के लिए समाज के इन कर्त्तव्यों पर विचार करते समय हमारा ध्यान एक विशेष परिस्थिति पर जाता है जो हमारे देश में इस समय विशेष रूप से परिलक्षित हो रही है। हमारा समाज अपने शैक्षिक उत्तरदायित्व को न तो भली-भाँति समझ रहा है और न इस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए उत्सुक है। लोग यही सोचते हैं कि सारा शैक्षिक प्रबंध तथा व्यवस्था राज्य ही करे, हमें स्वयं कुछ करने की जरूरत नहीं। इसी कारण राजकीय पाठशालाओं की संख्या बढ़ रही है, शिक्षा-संस्थाओं पर राज्य का अधिकार अधिक होता जा रहा है और सामाजिक संस्थाओं की दशा शोचनीय हो रही है। इस मनोवृत्ति का एक दूसरा परिणाम यह भी हो रहा है कि अपने बालकों की शिक्षा

के विषय में समाज अपना अधिकार धीरे-धीरे छोड़ता जा रहा है और राज्य अपना अधिकार बढ़ा रहा है। शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य एकतंत्री शासन-व्यवस्था की विशेषता है, लोकाभिमुख शासन-व्यवस्था की विशेषता नहीं। यदि हमारे देश में जनतंत्रात्मक व्यवस्था को दृढ़ बनाना है तो इस बात पर ध्यान देना होगा कि बालकों की शिक्षा काफी सीमा तक समाज अथवा जनता के अपने हाथों में रहे, और उसमें राज्य का हस्तक्षेप कम से कम हो। परन्तु यह तभी संभव है जबकि समाज अपने उत्तरदायित्व को निबाहने में रुचि व सामर्थ्य प्रदर्शित करे। यदि सामाजिक शिक्षा-संस्थाएँ, उदाहरणार्थ नगर पालिका अथवा महापालिका द्वारा चलाई हुई पाठशालाएँ या व्यक्तिगत संस्थाएँ, उसी दशा में पड़ी रहेंगी जैसी कि वे आज हैं, तो जनता की यह माँग स्वाभाविक है कि इन्हें शासन अपने हाथ में ले ले। अतएव, हमारे देश में जनतंत्रवादी व्यवस्था के अनुरूप सामाजिक प्रयत्नों को प्रश्रय मिलना चाहिए, लोगों को अपने लाभ के लिए शैक्षिक कार्यों में प्रोत्साहन मिलना चाहिए तथा शिक्षा के क्षेत्र में शासन का आधिपत्य कम से कम होना चाहिए। दूसरी ओर समाज को भी अपने प्रयत्नों में सजग तथा समर्थ होना चाहिए, और शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध स्वयं करके उनका स्तर ऊँचा उठाना चाहिए।

अध्याय १९

शिक्षा-संस्था के रूप में राज्य

राज्य एक प्रकार की सामाजिक संस्था है। जब कार्याधिक्य तथा अन्य कारणों से समूचा समाज अपनी रक्षा एवम् देख-भाल करने में कठिनाई अनुभव करने लगा तो लोगों ने अपने में से ही कुछ योग्य व्यक्तियों को शासक नियुक्त कर लिया, और उनका कार्य अपने समाज की देख-भाल तथा रक्षा करना निश्चित हुआ। इस कार्य-भार को भली-भाँति वहन करने के लिये उन्हें अनेक अधिकार सौंपे गए और सत्ता उनके हाथ में दी गई। इससे स्पष्ट है कि शासन-व्यवस्था का निर्माण एवम् संचालन सामाजिक सेवा के मूल-भाव पर आधारित है। शासनकर्ताओं के अधिकार उनके कर्त्तव्यों से ही उद्भूत होते हैं। परन्तु शनैः शनैः राजा तथा शासकगण अपने कर्त्तव्य तो भूलने लगे लेकिन अपने अधिकारों के प्रति अधिकाधिक जागरूक होते गये। सत्ता एवम् अधिकार का मद वैसे ही उन्मत्तकारी होता है; शासकों के हाथ में अनियन्त्रित सत्ता होने से उन्होंने उसका प्रयोग दूसरों पर अत्याचार तथा अपनी लिप्सा-शान्ति के लिए करना प्रारम्भ कर दिया। मध्यकालीन भारत तथा यूरोप के कतिपय अत्याचारी सम्राटों के उदाहरण से इस बात की पुष्टि भली भाँति होती है।

वर्तमान युग जनतन्त्रात्मक है। इससे सत्ता कुछ हाथों में ही सीमित न होकर समाज के सब सदस्यों में बँटी रहती है। सामंतशाही शासकों तथा उत्तराधिकार की प्रणाली द्वारा किये गये सत्ता के दुरुपयोग के कारण अब जनता द्वारा अधिकार पुनः अपने हाथ में ले लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही कही जायेगी। प्रजातंत्रवादी शासन में समाज के सब सदस्य आपसी सहयोग तथा सहकारिता द्वारा सामूहिक सुख-समृद्धि की वृद्धि के लिये प्रयत्नशील होते हैं। जो लोग शासनभार वहन करने के लिये चुने जाते हैं उनके हाथ में वास्तविक सत्ता नहीं होती, उन्हें तो समस्त समाज की अनुमति से पूर्वनिर्धारित काल के लिये राज्यभार सँभालने को नियुक्त किया जाता

सत्ता का दुरुपयोग करने तथा अयोग्य सिद्ध होने पर जनता उनके हाथों से अधिकार छीन कर दूसरों को नियुक्त करने का पूरा अधिकार रखती है। इस प्रकार जनतंत्रवादी समाज में स्वशासन की पद्धति अपनाई जाती है। इसीलिये उसे जनता द्वारा, जनता के लिये, जनता का शासन कहा जाता है।

कुछ देशों में तो जनता एवम् शासकों को पूर्णतया एक कर देने का प्रयत्न किया जा रहा है। ऐसे देशों की राज्य-व्यवस्था में ग्राम-पंचायतें स्वयं अपने-अपने क्षेत्र की देख-भाल करती हैं, शासन केन्द्र द्वारा संचालित होने के बजाय स्थानीय सामाजिक इकाइयों को सौंप दिया जाता है और उनमें काफी अंश तक स्वायत्त-शासन की व्यवस्था होती है। रूस के विभिन्न सांस्कृतिक प्रदेशों में बहुत-कुछ ऐसी ही व्यवस्था है। हमारे देश की ग्राम-पंचायतें भी इसी आधार पर निर्मित थीं।

शासन-व्यवस्था का रूप चाहे जो हो समाज के साथ उसका सम्बन्ध निश्चित है। सामाजिक स्थिति का प्रभाव राज्य-व्यवस्था पर पड़ता है। शासन को अपनी सारी शक्ति समाज से ही प्राप्त होती है। दूसरी ओर, सुव्यवस्थित राज्य तथा वैज्ञानिक शासन-प्रणाली सामाजिक विकास एवम् उन्नति का कारण बनती है। अच्छी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों से ही समाज का स्तर ऊँचा उठता है और शासन में दृढ़ता तथा शक्ति आती है। इसीलिए शासन का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने समाज तथा राष्ट्र की उन्नति के लिए बालकों एवम् अन्य सदस्यों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करे।

शिक्षा के प्रति अपने इस उत्तरदायित्व को निबाहने में राज्य ने अभी तक बड़ी स्वार्थपरता दिखाई है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार अनेक देशों में सत्ताधारियों ने बालकों की शिक्षा द्वारा स्वयं अपने लिए सैनिक तैयार किए हैं। प्रत्येक शासकवर्ग यही चाहता है कि बालक की शिक्षा उसी राजनीतिक व्यवस्था एवम् विचारधारा के अनुसार हो जिस पर तत्कालीन शासन आधारित है। राज्य आदेश देता है और शिक्षक पाठशालाओं में उसी प्रकार के बालक तैयार करने लगते हैं। जर्मनी, रूस, अमरीका, जापान आदि सभी देशों में यही देखने में आता है। शिक्षा पर राज्य का यह आधिपत्य सहर्ष स्वीकृत करने वालों की संख्या कम नहीं। अरस्तू ने बहुत पहले से यह कह रखा है कि राजनीति ही शिक्षा की निर्माणकर्त्री है और इसलिए राज्य जैसा उचित समझे बालकों को शिक्षा दिलावे। आज भी बहुत से व्यक्ति इसी मत के हैं।

किन्तु इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्तियों का मत है कि शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य उचित नहीं। इससे अनेक कठिनाइयाँ एवम् दोष उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः सभी देशों में इन दो विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष दिखाई पड़ता है। भारत

में भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि शिक्षा में राज्य का हस्तक्षेप किस सीमा तक उचित है और किस सीमा तक शिक्षालयों को कार्य-संचालन की स्वतंत्रता दी जा सकती है। यहाँ इन दोनों विचारधाराओं पर कुछ विस्तार से विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

शिक्षा में राज्य के हस्तक्षेप तथा आधिपत्य का विरोध करने वालों का कथन है कि इससे शिक्षा का विकास कुंठित हो जाता है। शिक्षा के समुचित विकास तथा उसकी प्रगति के लिए स्वतंत्र एवम् अनुकूल वातावरण होना आवश्यक है। शिक्षा की बागडोर राज्य के हाथ में होने से उसका सहज तथा समुचित विकास रुक जाएगा, वह केवल राजनीतिज्ञों तथा शासकों की दासी बनी रहेगी। राज्य का आधिपत्य होने से स्वतंत्र वैज्ञानिक खोज एवम् अनुसंधान में बाधा पहुँचती है। ऐसी स्थिति में वही ज्ञान प्रतिपादित किया जाता है जो शासकवर्ग चाहता है अथवा जो राज्य-व्यवस्था के अनुरूप हो। इससे वास्तविक सत्य की खोज नहीं हो पाती क्योंकि सत्यान्वेषण के लिए स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता सब से अधिक है।

राज्य का आधिपत्य होने से शिक्षा में बालक के व्यक्तित्व का महत्त्व घट जाता है। उसकी व्यक्तिगत रुचियों, सीमाओं तथा इच्छाओं की अवहेलना करके उसे ज़बरदस्ती राज्य-सेवा के निमित्त एक पूर्व-निश्चित साँचे में ढाल दिया जाता है। पिछले महायुद्ध में रूस के कितने ही कलाकारों, कवियों तथा साहित्यिकों को सैनिक बनने के लिए बाध्य किया गया था। पूर्णतया राज्याधीन शिक्षा-व्यवस्था में बालक को आत्म-विकास का कोई अवसर नहीं मिलता; उसे प्राणहीन वस्तु के समान इच्छानुसार गढ़ लेना समस्त मानवीय नियमों के विरुद्ध है। यदि नैसर्गिक गुणों के आधार पर बालक को कवि, गायक अथवा चित्रकार नहीं बनने दिया जाएगा, और शिक्षा इन अन्तर्निहित प्रवृत्तियों के प्रस्फुटन में स्वतंत्रतापूर्वक सहायता नहीं पहुँचाएगी तो न जाने कितने कलाकार नैसर्गिक गुणों के होते हुए भी अविकसित ही रह जाएँगे और परिणामस्वरूप देश का सांस्कृतिक पतन होगा।

जो लोग शिक्षा पर राज्य का पूर्ण अधिकार उचित समझते हैं उनमें से कुछ सीमान्तरस्थ व्यक्तियों का कहना है कि देश की समस्त शिक्षा-संस्थाएं राज्य द्वारा संचालित होनी चाहिए। शिक्षा में व्यक्तिगत प्रयत्न को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए क्योंकि व्यक्तिगत संस्थाएँ बालक के हित में न होकर व्यावसायिक दृष्टिकोण ही रखती हैं। उनमें न तो शिक्षण-सामग्री ही यथेष्ट होती है और न शिक्षा के अन्य आवश्यक साधन। अध्यापकों का भी पूरा विदोहन किया जाता है। उन्हें न समय पर वेतन मिलता है और न नौकरी का स्थायित्त्व ही प्राप्त होता है। अपने सीमित कार्य-

क्षेत्र में भी उन्हें कोई स्वतंत्रता नहीं होती। दूसरी ओर, राजकीय संस्थाओं में धन अथवा साधन की कोई कमी नहीं होती। उनकी शिक्षण-व्यवस्था भी व्यक्तिगत संस्थाओं की अपेक्षा समुन्नत होती है। इन तर्कों की पुष्टि आमने-सामने स्थिति राजकीय तथा व्यक्तिगत पाठशालाओं में परिलक्षित अंतर के रूप में हम स्वयं अपने देश में देख सकते हैं।

दूसरे, यह भी कहा जाएगा कि शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों का उचित उपयोग तो राज्य को ही करना है। शिक्षा प्राप्त कर चुकने के बाद इन बालकों को अपने देश का सुयोग्य नागरिक बनने के साथ-साथ देश तथा समाज के लिए उपयोगी कार्यक्षेत्र में जुटना है। इस कार्यक्षेत्र का निर्धारण राज्य के हाथ में है और शिक्षित व्यक्तियों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किस क्षेत्र में हो सकता है यह भी उसी को निश्चित करना है। यदि वास्तविकता यह है तो राज्य को यह कहने का अधिकार है कि बालकों को कैसी शिक्षा दी जाए और उन्हें किस प्रकार के वयस्कों के रूप में विकसित किया जाए। यदि देश की सुरक्षा के हित में राज्य यह शैक्षिक उत्तरदायित्व ग्रहण करता तथा निबाहता है तो उसे शासन की स्वार्थपरता नहीं कहा जा सकता। यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि जनतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था में राज्य अपने समाज की इच्छाओं का प्रतीक होता है और समाज के सदस्य बालकों के माता-पिता एवम् अभिभावकगण हैं। अतएव, राज्य की इच्छा बालकों के अभिभावकों, माता-पिताओं तथा शुभचिंतकों की इच्छा का प्रतीक है। उसे बालकों के लिए हानिकारक कैसे कहा जा सकता है? और इस दृष्टि से यदि राज्य बालक के कल्याण के लिए अपनी इच्छापूर्वक शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था करना चाहता है तो उसे बुरा नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि शिक्षा का राज्याधिकरण सर्वथा निर्दोष स्थिति नहीं और न राज्य की इस दिशा में पूर्ण उत्तरदायित्व-हीनता ही उचित है। सर्वोत्तम स्थिति तो वह है जिसमें मूलतः समाज स्वयं अपनी व्यक्तिगत संस्थाएँ चलाकर अपने सदस्यों तथा उनके बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करे और फिर उन्हें राज्य द्वारा विशेषज्ञों की राय, धन आदि की सहायता आवश्यकतानुसार प्राप्त होती रहे। यदि समस्त शैक्षिक उत्तरदायित्व राज्य अपने ऊपर ले लेता है तो वह सामाजिक प्रयत्नों तथा उसकी आत्मनिर्भरता को कुंठित करता है। कोई भी राज्य समाज के समस्त कृत्य स्वयं नहीं निबाह सकता। शिक्षा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सत्यान्वेषण की आज़ादी सभी को होनी चाहिए। साथ ही समाज के प्रति उसे अपने शैक्षिक कर्तव्य निबाहना भी आवश्यक है। राज्य के ये शैक्षिक कर्तव्य व्यक्ति तथा समाज की सर्वाङ्गीण शिक्षा को दृष्टि में रखकर निर्धारित किए जा सकते हैं।

राज्य का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह देश में उपयोगी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का निर्माण एवम् संचालन करे। यह कार्य न तो समाज कर सकता है और न व्यक्ति। केन्द्रीय शासन ही देश के सब नागरिकों के हित में राष्ट्रीय शिक्षा-योजना की व्यवस्था समुचित रीति से कर सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि राष्ट्रीय शिक्षा-योजना की क्या विशेषताएँ होती हैं? उसका क्या रूप होता है? साधारणतया, राष्ट्रीय शिक्षा-योजना एक सुव्यवस्थित योजना होती है। उसमें राष्ट्र के सभी नागरिकों—शिशु, बालक, स्त्री, पुरुष आदि—की शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाती है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में शिशु, प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च तथा प्रौढ़ शिक्षा एक दूसरे से सुसम्बद्ध एवम् उचित रीति से नियोजित होती है। उसमें सब बालकों को शिक्षा-प्राप्ति का समानाधिकार होता है। जाँति-पाँति, रंग, धन आदि का भेद-भाव राष्ट्रीय शिक्षा में मान्य नहीं होता। साथ ही, देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक आदि परम्पराओं का प्रभाव राष्ट्रीय शिक्षा पर पूर्णतया लक्षित होना चाहिए। शिक्षा वास्तविक जीवन से कदापि अछूती नहीं रह सकती। राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्रीय एकता तथा सामूहिक आदर्शों को लेकर पनपती है और राष्ट्र की मान्यताएँ उसमें पूर्णतया प्रतिबिम्बित होती हैं।

"राष्ट्रीय शिक्षा का तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों ने आत्मपरीक्षण करके अपना यह मत निश्चित कर लिया है कि राष्ट्र के रूप में उन्हें अभी बहुत-कुछ उन्नति करना है। इसलिए वे सामूहिक रूप से उन्हीं दिशाओं में क़दम बढ़ाते जा रहे हैं जिनमें उन्हें संतोष-प्राप्ति होगी। इस दृष्टि से समस्त राष्ट्र को एक व्यक्ति के रूप में मानना होगा।" परन्तु, राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का यह अर्थ कदापि नहीं कि उससे स्वार्थपूर्ण राजनीतिक लिप्सा की शांति हो। किसी भी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना के निर्माण में राष्ट्र के नागरिकों का सहज सहयोग उसकी प्रथम आवश्यकता है। कोई भी योजना जो जनता की भावना के विरुद्ध उस पर लादी जाती है राष्ट्रीय शिक्षा-योजना नहीं कहला सकती।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक बाल-नागरिक के सर्वांगीण विकास के निमित्त राज्य को अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करना आवश्यक है। इस कार्य में राज्य को जो प्रयत्न करना है उसका महत्व कम नहीं। परिवार की न्यूनताओं की पूर्ति के निमित्त पाठशालाओं की स्थापना की जाती है और पाठशालाओं को प्रभावशाली बनाना समाज का कर्त्तव्य है। किन्तु यदि ये सभी शिक्षा-संस्थाएँ अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं चलातीं तो बालक के हित में राज्य को उनकी सारी कमियों को पूरा करना उसका प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है।

शासक वर्ग का महत्तम कर्त्तव्य अपने देश की रक्षा है। इसके लिए प्रायः बड़ी-बड़ी सेनाओं का संघटन किया जाता है। कोई स्वतंत्र राज्य अपने देश की रक्षा से उदासीन नहीं हो सकता, और आज के युग में जल, थल और वायु-सेनाओं को लम्बे-चौड़े पैमाने पर रखने के अतिरिक्त नवयुवकों के सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी आवश्यक हो जाती है। परन्तु, यह स्पष्ट है कि कोई राष्ट्र केवल बड़ी भारी सेना के बल पर ही सुरक्षित नहीं समझा जा सकता। जनसाधारण की समृद्धि, सर्वतोमुखी विकास और उन्नयन तथा संतुष्टि ही राष्ट्र को सुरक्षा प्रदान करती है। जनतंत्रवादियों का सेना के बल पर जनतंत्रवाद की रक्षा का प्रयत्न उपहासास्पद सा लगता है। यदि जनतंत्रवाद की रक्षा कोई शक्ति कर सकती है तो वह शिक्षा ही है, बन्दूकें नहीं। शिक्षित व्यक्तियों का राष्ट्र सुयोग्य नागरिकों का राष्ट्र होता है और ऐसे राष्ट्र को किसी का भय नहीं होता। इसीलिए हमारे देश में शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय संगठन को उत्साहित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। तब राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या अत्यन्त सरल हो जाएगी। इसीलिए कहा जाता है कि हमें बाहरी के बजाय भीतरी शत्रु से अधिक सचेत रहना चाहिए। अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास, बलहीनता आदि भीतरी शत्रुओं का सामना शिक्षा ही कर सकती है।

राज्य को शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों के सैनिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है। स्पष्ट ही सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था छोटे-छोटे बालकों के लिए नहीं होती, उच्च विद्यालयों में ही उसका प्रबन्ध किया जाता है। परन्तु, अच्छे सैनिक प्रशिक्षण की आधारभूमि शारीरिक विकास एवम् बलवर्द्धन के रूप में छोटी अवस्था से ही तैयार की जा सकती है। राज्य विविध प्रकार के सैनिक विद्यालयों का भी संचालन कर सकता है। साथ ही, युद्धकला में नवीन अनुसंधान के लिए प्रयोगशालाओं की परम आवश्यकता है। नवीन युद्ध सामग्री और युद्धकौशल में उन्नति के लिए अनेक शैक्षिक प्रयत्न किए जा सकते हैं। हमारे देश में इस दिशा में अच्छी प्रगति हो रही है और अनेक प्रकार की प्रशिक्षण योजनाएं कार्यान्वित हो रही हैं। परन्तु, अभी इस दिशा में हमें बहुत-कुछ आगे बढ़ना है।

बालक के समुचित शारीरिक विकास के निमित्त राज्य का विशेष उत्तरदायित्व है। राज्य की सुरक्षा एवम् बल प्रत्येक नागरिक के स्वास्थ्य एवम् शक्ति में निहित होता है। अतएव, राज्य शारीरिक प्रशिक्षण की ऐसी योजना कार्यान्वित करे जिससे प्रत्येक नागरिक का पूर्ण शारीरिक विकास हो। यदि इस विषय में परिवार, पाठशाला तथा समाज अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग नहीं तो राज्य को उन्हें प्रशिक्षित करना होगा और स्वयं आगे बढ़ कर इस उत्तरदायित्व को निबाहना

होगा। राज्य को यह देखना है कि देश में स्वच्छ, शुद्ध तथा यथेष्ट अन्न एवम् खाद्य पदार्थ सब को सरलता से प्राप्त हों। खेल-कूद को प्रोत्साहन देना, खिलाड़ियों के प्रशिक्षण को उत्साहित करना, अन्य देशों में खिलाड़ियों को भेजने में सहायता करना तथा दूसरे देश के खिलाड़ियों को अपने यहाँ आमन्त्रित करना, खेल के मैदान आदि बनवाना कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें राज्य को सम्पादित करना चाहिए।

बालकों के लिए उपयुक्त व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध करना तथा औद्योगिक प्रशिक्षण-संस्थाएँ खोलना भी राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य को इस बात की देख-भाल करनी है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार काम करने को मिले और कोई भी बेकार न रहे। बेकार नागरिकों का देश शक्तिशाली नहीं हो सकता। व्यावसायिक शिक्षण का प्रबन्ध करने तथा उसके लिए संस्थाएँ खोलने में यथेष्ट धन की आवश्यकता होती है। व्यक्ति तथा समाज ये साधन भली भाँति नहीं जुटा पाते। अतएव, राज्य को इस दिशा में सहयोग देकर अपना कर्त्तव्य निबाहना चाहिए। राष्ट्र के औद्योगीकरण तथा व्यवसायों के आवश्यक यांत्रीकरण का प्रबन्ध भी राज्य को करना होता है। इसके लिए बालकों को कला-कौशल, उद्योग एवम् हस्तकार्य की शिक्षा देने का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

राज्य को प्रत्येक बालक के मानसिक एवम् बौद्धिक विकास की ओर भी ध्यान देना होगा। इसके लिए देश के प्रत्येक बालक को प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य रूप से मिलनी चाहिए। हम अपने देश में अभी अनिवार्य शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा निर्धारित नहीं कर सकते, किन्तु यह आवश्यक है कि देश में सात से चौदह वर्ष के सब बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा अनिवार्य की जाए। हमारे संविधान में भी राज्य का यह शैक्षिक कर्त्तव्य सम्मिलित है। इसकी पूर्ति के लिए राज्य को अधिकाधिक प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, राज्य को अन्य प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं को खोलने में धन, उत्साहवर्द्धन आदि के रूप में सहायता देनी चाहिए। समाज स्वयं अपने बालकों की सम्पूर्ण शिक्षा की व्यवस्था भली भाँति नहीं कर सकता। अपने विस्तृत साधनों द्वारा राज्य को इस क्षेत्र में उसकी भरसक सहायता करनी चाहिए।

प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ उच्च शिक्षा का भी समुचित आयोजन करना राज्य का कर्त्तव्य है। प्रौढ़ शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इस सब का उद्देश्य यही है कि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अपनी अवस्था एवम् इच्छानुसार ज्ञानवर्द्धन तथा मानसिक विकास का अवसर मिले। प्रायः शासकवर्ग शिक्षा द्वारा बालकों की विचारधारा का स्वतंत्र विस्तार नहीं होने देते, वे उनकी बुद्धि तथा मस्तिष्क का उपयोग केवल अपने समर्थन में करना चाहते हैं। यह अनुचित है।

प्रत्येक नागरिक में स्वतंत्र चिंतन, विचार तथा निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति जाग्रत होनी चाहिए और शासन को चाहिए कि वह बालकों को मानसिक दास न बनाए। मानसिक स्वतंत्रता तथा निष्पक्ष विचार की आदत डालने तथा ज्ञानवर्द्धन के निमित्त राज्य रेडियो, प्रेस, सिनेमा आदि का सहारा ले सकता है। राज्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि ये संस्थाएँ व्यक्ति के मानसिक विदोहन का प्रयत्न तो नहीं कर रही हैं।

अध्यापकों के लिए उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना भी राज्य का कर्त्तव्य है। शिक्षा की समस्त कार्यवाही शिक्षक द्वारा संचालित होती है। शिक्षा की उन्नति अध्यापकों की योग्यता पर निर्भर है। अतएव, राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। राज्य इस उत्तरदायित्व की अवहेलना करके अपनी सब योजनाओं को असफल ही बनाएगा।

राज्य को व्यक्ति तथा समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज का नैतिक स्तर राज्य पर अवश्य प्रतिबिम्बित होता है और इसीलिए कहा जाता है कि समाज को अपनी योग्यता के अनुसार ही शासक प्राप्त होते है, परन्तु राज्य अपनी ओर से भी समाज को प्रभावित कर सकता है। यदि राज्याधिकारी, शासकवर्ग तथा राजकर्मचारी नैतिक तथा चारित्रिक दृढ़ता रखते हैं और अपने कार्य में कुशल होते हैं तो समाज पर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। बेईमान, चरित्रहीन तथा अयोग्य शासक समाज को नीचे गिरा देते हैं। अतएव, इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि शासक स्वयम् उच्च चरित्रवान हों। वे उपयुक्त न्यायालयों, दंड-विधान तथा राजसम्मान द्वारा बुराइयों को दंडित और अच्छाइयों को प्रोत्साहित कर सकते हैं। शासन का आधार सब के लिए न्यायसम्मत तथा एक होना चाहिए।

वर्तमान युग में पत्र-पत्रिकाओं, चलचित्रों, तथा रेडियो आदि का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र पर विशेष रूप से पड़ता है। इन साधनों से जितना लाभ है उतनी ही हानि की संभावना भी है, और प्रायः व्यावसायिक लाभ के लिए उनका प्रयोग समाज के नैतिक पतन का कारण बनता है। राज्य को यह देखना आवश्यक है कि ये सब संस्थाएँ समाज के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हों, उसके पतन के लिए नहीं। हमारे देश में सरकार को साहित्य, चलचित्र आदि को उचित मार्ग पर लाने के लिए सहानुभूतिपूर्ण नेतृत्व प्रदान करना चाहिए। शिक्षाप्रद चलचित्र एवम् साहित्य के निर्माण तथा उनके लिए जनता में रुचि पैदा करना राज्य का प्रयत्न होना चाहिए।

कलाकारों का सम्मान करके कलाओं को प्रोत्साहन देना भी राज्य का कर्त्तव्य है। विविध प्रकार की कला-प्रदर्शनियों का आयोजन राज्य द्वारा किया जा सकता है।

कलाकारों का संरक्षण राज्य का कर्त्तव्य है। प्राकृतिक सौंदर्यस्थलों की रक्षा तथा उन्नयन, नगरों को सुन्दरतर बनाने की योजना, उपवनों तथा सरोवरों आदि का निर्माण इस दिशा में राज्य के कुछ कार्य हो सकते हैं। सड़कों, सुन्दर मकानों, मोहल्लों आदि के कलापूर्ण निर्माण में भी राज्य विशेष सहयोग प्रदान कर सकता है। हमारे देश में वर्षों की परतंत्रता के कारण लोगों की स्वाभाविक कलात्मकता तथा देशीय सांस्कृतिक सौन्दर्य के प्रति रुचि मन्द पड़ गई है। राज्य को देश के कलात्मक एवम् सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है जिससे व्यक्ति के जीवन का प्रतिक्षण सुन्दरतापूर्ण हो।

राज्य को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए। प्रत्येक राज्य में सब धर्मावलम्बियों को अपने धर्मपालन की पूर्ण स्वतंत्रता तथा सुविधा होनी चाहिए। परन्तु, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि राज्य अधार्मिक अथवा धर्महीन हो। उसका संघटन उच्च मानवधर्म के आदर्श पर होना चाहिए और उसके द्वारा समाज को उचित-अनुचित में भेद करने की क्षमता प्राप्त होनी चाहिए। उच्च जीवनादर्शों के पालन तथा उनके हित में जीवन अर्पित कर देने की प्रेरणा राज्य से ही प्राप्त हो सकती है। लौकिक कार्यों द्वारा राज्य अलौकिकता की ओर अग्रसर हो सकता है। अतएव, राज्य को बालक के आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

राज्य के उपर्युक्त कर्त्तव्य सामान्य व्यक्तियों की शिक्षा के निमित्त सुझाए गए हैं। परन्तु, राज्य का विशेष कर्त्तव्य उन असामान्य अथवा विशिष्ट वर्गों की शिक्षा के प्रति भी है जो समाज द्वारा उपेक्षित तथा तिरस्कृत हैं। अंधे, बहरे-गूँगे, अंग-भंग वाले तथा बुद्धिहीन बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध राज्य द्वारा होना चाहिए। इन लोगों को दान-दक्षिणा देकर ही समाज इनके प्रति अपने कर्त्तव्य की इति समझ लेता है। अतएव, राज्य को विशेष रूप से इनकी शिक्षा की व्यवस्था करके इन्हें भी अपनी नागरिकता का लाभ उठाने का अवसर देना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों, अछूतों आदि की शिक्षा के लिए भी हमारे शासन द्वारा उचित प्रोत्साहन प्राप्त होना चाहिए। राज्य को परिवार के नायक के समान राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य की देखभाल समान रूप से करना उसका धर्म है। इस राजधर्म की स्थापना प्रत्येक राज्य में होनी चाहिए।

हमारे देश में अन्य कई देशों की भाँति कल्याण-राष्ट्र की विचारधारा पल्लवित हो रही है। इसका तात्पर्य यही है कि जिन क्षेत्रों में जनता के हितों की रक्षा तथा उसकी उन्नति आवश्यक है उन सभी में राज्य को ध्यान देना तथा क्रियाशील होना चाहिए। इस दृष्टि से राज्य के कर्तव्यों का विस्तार बहुत-कुछ बढ़ जाता है और परिवार-नियोजन, खान-पान, रहन-सहन के ढंग आदि भी राज्य के ज़िम्मे आ पड़ते हैं।

और, राज्य शिक्षा के माध्यम से इन सभी दिशाओं में नागरिकों का हित-साधन करता है। जनतंत्रवादी देश में भी जनता गिरती चले और शासन निष्क्रिय बैठे रहें—ऐसा विचार इस दृष्टिकोण में नहीं। परन्तु, यहाँ भी हमें यह देखना है कि सुधार, उन्नति तथा हित-साधन के प्रयत्न में राज्य अपनी अधिकार-सीमा का अतिक्रमण तो नहीं करता और व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतंत्रता पर प्रहार करके उनकी अपनी कर्मण्यता को तो कुंठित नहीं बनाता है। हमारे देश में आज इस दिशा में सचेत रहने की विशेष आवश्यकता है।
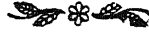
अध्याय २०

शिक्षा तथा धर्म

मानव-जीवन में धर्म का स्थान सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है। मनुष्य की आध्यात्मिक शान्ति के लिए धर्म ने आदिकाल से सफल प्रयत्न किए हैं, उसे कष्ट तथा दुःख के समय सान्त्वना एवम् सहायता पहुँचाई है। मनुष्य को समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त महानतम दिव्य शक्ति की अनुभूति भी धर्म ही कराता है। वास्तव में सकल विश्व में जो कुछ भी सत्य, शिव तथा सुन्दर है मनुष्य को उसकी ओर उन्मुख कराने का प्रयत्न धर्म ने ही किया है, यहाँ तक कि मनुष्य-जीवन के सभी अंगों पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, तथा कुछ व्यक्तियों के जीवन में तो प्रत्येक कार्य धर्म द्वारा ही संचालित होता है।

धर्म एवम् जीवन के इस प्रगाढ़ सम्बन्ध की शृंखला अतीतकाल से चली आ रही है। मनुष्य-जीवन को सँवारने तथा सुधारने के प्रयत्न में धर्म ने उसकी शिक्षा का प्रबन्ध भी अपने हाथ में रखा और प्रारंभ से ही बालक को धर्म के पथ पर आरूढ़ कराने में उसका नेतृत्व किया। परिणामस्वरूप, एक शिक्षा-संस्था के रूप में भी धर्म का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। प्राचीन काल से अब तक धार्मिक संस्थाओं ने शिक्षा में जो योगदान दिया है यहाँ उस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मण एवम् बौद्धकालीन शिक्षा एकमात्र धर्म पर ही आधारित थी। धार्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन, धार्मिक कृत्यों का पालन तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करना ही शिक्षा कहलाता था। शिक्षा-संस्थाएँ प्रधानतया धार्मिक संस्थाएँ थीं, अथवा धार्मिक संस्थाओं से पूर्णतया सम्बद्ध थीं। यूरोप में भी प्रारम्भ में बालकों की शिक्षा का आयोजन मठों एवम् चर्चों द्वारा होता था। चर्च के पादरी ही शिक्षक का कार्य करते थे। यद्यपि मध्यकाल में धर्म का रूप बहुत-कुछ संकुचित हो गया तथापि शिक्षा के साथ उसका सम्बन्ध अक्षुण्ण बना रहा। भारत में पाठशाला

तथा मकतब प्रायः मंदिरों एवम् मस्जिदों से सम्बद्ध होते थे। उन्हीं के पुजारी अथवा मुल्ला इन शिक्षालयों में अध्यापकों का कार्य करते थे। पाठ्यक्रम में धार्मिक ग्रंथों की प्रधानता होती थी। हिन्दू तथा इसलाम दोनों सम्प्रदाय के बालकों का विद्यारंभ धार्मिक संस्कार से होता था। यूरोप में मध्यकाल में 'कैथीड्रल' तथा 'मोनेस्टिक' पाठशालाओं का अत्यधिक प्रचलन था जो चर्च द्वारा संचालित होती थीं। उनके समस्त कार्यक्रम धर्म पर आधारित थे।

वर्तमान काल में भी शिक्षा-संस्थाएँ प्रायः धार्मिक संस्थाओं द्वारा प्रेरित होती हैं। भारत में धार्मिक संस्थाओं और सम्प्रदायों ने अनेक पाठशालाएँ चलाईं और आज भी शिक्षा के विस्तार तथा प्रसार में वे यथेष्ट प्रयत्नशील हैं। वर्तमान युग के प्रारंभ में हमारे यहाँ ईसाई पादरियों और प्रचारकों ने जो शैक्षिक कार्य किए तथा शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यूरोप में अभी तक असंख्य शिक्षा-संस्थाएँ ईसाई प्रचारकों द्वारा संचालित हो रही हैं। अमरीका में शिक्षा-संस्था के रूप में चर्च अभी भी एक महती शक्ति है जिसके सम्मुख राज्य तक को कभी-कभी झुकना पड़ता है।

संभवतः आज भी शिक्षा पर धर्म का अखंड राज्य बना रहता यदि मध्यकाल में धार्मिक संकुचितता एवम् धर्मान्धता ने अपनी सीमा का अतिक्रमण करके मनुष्य के शोषण का प्रयत्न न किया होता। धर्म के नाम पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मावलम्बियों के संघर्ष, घोर अत्याचार एवम् हत्याकांड भारत क्या संसार के सभी देशों में हुए और धर्म के नाम को कलंकित करते रहे। परिणामस्वरूप, लोगों के मन में धर्म के प्रति विश्वास की सुदृढ़ दीवार हिल उठी। धीरे-धीरे लोगों में यह भावना घर करती गई कि धर्म उनकी उन्नति का साधन न होकर उन्हें मूर्ख बनाने तथा शोषण करने का प्रयास है। यूरोप में रूसो, लॉक आदि दार्शनिकों ने शिक्षा पर धर्म के आधिपत्य का घोर विरोध किया तथा मानव की तर्कबुद्धि पर विशेष बल दिया। धार्मिक संस्थाओं के आन्तरिक दोषों, उनके अंदर फैले हुए दुराचार तथा कलुषित जीवन ने लोगों के सम्मुख धार्मिक व्यक्तियों के वास्तविक जीवन का नग्न चित्र उपस्थित कर दिया। परिणामस्वरूप, धर्म द्वारा प्रचारित संकुचित विचार एवम् अंधविश्वास धीरे-धीरे दूर होने लगे और लोगों की आँखें खुलने लगीं। आज विज्ञान के प्रभाव तथा आर्थिक, राजनीतिक एवम् भौतिक जीवन की समस्याओं ने व्यक्ति पर धर्म के प्रभाव को न्यूनतम कर दिया है।

धर्म क्या है ?

धर्म शब्द से शिक्षा के क्षेत्र में अनेक अर्थों तथा विचारधाराओं का बोध होता है। भिन्न व्यक्ति इस शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में करके उसका वास्तविक अर्थ सम-

झने में और भी कठिनाई उत्पन्न कर देते हैं। कुछ लोग धर्म का अर्थ केवल कर्मकांड तथा पूजा-अर्चना ही समझते हैं। उनके अनुसार प्रार्थना, नमाज़, हवन आदि ही धर्म है। मूल भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार धर्म का आदिरूप अत्यंत व्यापक था। शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जो धारण करे वही उसका धर्म है, अर्थात् धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्त्तव्य से है। कुछ लोग धर्म का सामाजिक रूप अधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार समाजसेवा ही मनुष्य का धर्म है और इस दृष्टि से ईश्वर की कल्पना दरिद्र-नारायण के रूप में की गई है।

यहाँ पर सर्वप्रथम 'धर्म' तथा 'मत' के अर्थों में भेद कर लेना उचित है। 'धर्म' व्यापक अर्थ का द्योतक है, तथा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की ओर लक्षित करता है। इसके विपरीत 'मत' एक निश्चित एवम् सीमित विचारधारा है जिसकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। इसी कारण एक धार्मिक मत का रूप दूसरे से भिन्न होता है और प्रायः सभी धर्मों के अन्तर्गत अनेक मत-मतांतर पाए जाते हैं। अंग्रेज़ी का 'रिलिजन' शब्द वास्तव में धर्म के व्यापक भारतीय दृष्टिकोण का बोध नहीं कराता। उसका तात्पर्य धार्मिक मत से होता है। प्रत्येक मत में अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय भी होते हैं जिन्हें अंग्रेज़ी में 'सेक्ट' कहा जाता है। हिन्दू धर्म में दादूपंथी, नानकपंथी, राधास्वामी आदि मत अथवा सम्प्रदाय हैं।

धर्म के अर्थ के विषय में चाहे जितना मतभेद हो साधारणतया यह सभी मानते हैं कि वह मनुष्य की आध्यात्मिकता से सम्बन्ध रखता है और उसे आध्यात्मिक सुख एवम् शान्ति प्रदान करता है। इसके लिए धर्म ने मानव-आत्मा से उच्चतर एक परमआत्मा की कल्पना की है जो अपने रूप एवम् गुणों में सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ है। उसे ईश्वर कहा गया है। ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है। सब कुछ उसी से उद्‌भूत तथा उसी में लय होता है। विश्व का प्रत्येक कण उसी का अंश है। आदर्शवाद के अनुसार सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ही ईश्वर का रूप है। मानव आत्मा की उन्नति इसी परमात्मा की अनुभूति एवम् प्राप्ति में निहित है। धर्म आत्मा और परमात्मा के सम्बंध को एकाकार बनाता है। इसीलिए धर्म को ईश्वर-प्राप्ति का साधन कहा जाता है।

ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न मानव के लिए तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने में ईश्वरीय गुणों का विकास करे ये ईश्वरीय गुण सत्य, शिव तथा सुन्दर से उद्‌भूत होने के कारण क्रमशः उसके मानसिक, नैतिक एवम् भावनात्मक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। व्यक्ति को इन सभी दिशाओं में उन्नति करनी होती है। इसीलिए कहा जाता है कि धर्म व्यक्ति को बुराइयों से रोकता तथा अच्छाइयों की ओर उन्मुख करता

है। इस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का उन्नयन धर्म के क्षेत्र में आ जाता है, यथा :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस मनुष्य में धैर्य हो, क्षमा हो, जो विषयों में फँसा न हो, जो दूसरों की वस्तु को मिट्टी के समान समझता हो, जो बाहर-भीतर से स्वच्छ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकता हो, जो विद्वान एवम् विवेकशील हो, जो सत्य-वादी हो तथा जो क्रोध न करता हो, ऐसे लक्षणों वाला मनुष्य ही धार्मिक होता है।

"विस्तृत अर्थों में धर्म हमारी आत्माओं के परमात्मा—समस्त प्रेरणादायक एवम् गतिशील करने वाली शक्ति जिसे साधारण शब्दों में 'ईश्वर' कहते हैं—से सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। यह सम्बन्ध हमारी पूर्णता-प्राप्ति की तीव्र, अनन्त इच्छा को तृप्त करता है। अपनी आत्मा के परमात्मा से सम्बन्ध की अनुभूति पाकर मनुष्य की पूर्णता-प्राप्ति की इच्छा को तृप्ति मिलती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भौतिक वस्तुओं से उसकी इस इच्छा का शांत होना असंभव है। मनुष्य सदैव अपने से उच्चतर व श्रेष्ठतर वस्तु की खोज में सतत निरत रहता है। वह अनादि काल से इस आध्यात्मिकता की खोज में संलग्न है। पूर्णता प्राप्ति की यही अतृप्त आकांक्षा मनुष्य को सृष्टि के प्रति भक्तिभाव रखने, समस्त प्राणियों से प्रेम करने तथा भ्रातृभावना की ओर प्रेरित करती है। इसी से उसमें नैतिकता का आविर्भाव होता है। धर्म के इन्हीं विस्तृत अर्थों के कारण नैतिकता पूर्णतया आध्यात्मिक वस्तु बन जाती है तथा धर्म मनुष्य का चिर पथ-प्रदर्शक। धर्म के इन्हीं विस्तृत अर्थों को मानने वाले उसे समस्त नैतिक आचरणों, नैतिक गुणों तथा नैतिक तत्त्वों का आधार मानते हैं।"

अतएव, धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अधिक वाद-विवाद में न पड़कर संक्षेप में यही कहना यथेष्ट होगा कि 'जीवन के आध्यात्मिक तत्वों एवम् मानव से ईश्वर के सम्बन्ध का कारण धर्म है'। रॉस के अनुसार, "यह विश्वास कि शिव, प्रेम, सौंदर्य तथा सत्य जीवन की महानतम मान्यताएँ हैं—वस्तुतः धर्म है। अपने तथा समाज के जीवन में इनकी उपलब्धि का जो प्रयत्न हम करते हैं उसमें एक शक्ति हमारी सहायता करती है, हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। अपने तथा अन्य व्यक्तियों के जीवन में सत्य, शिव तथा सुन्दर का प्रवेश कराने लिए हमारी समस्त शारीरिक, मान-

सिक एवम् आध्यात्मिक चेष्टाएँ इस शक्ति के प्रयोजन को सिद्ध करने में सहायता करती हैं। यही शक्ति ईश्वर अथवा धर्म है।"

धर्म के व्यापक तथा सीमित रूपों का भेद स्पष्ट समझ लेने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि शिक्षा में धर्म से हमारा तात्पर्य संकुचित मत-मतांतर की भावना से नहीं होना चाहिए। धर्म का व्यापक दृष्टिकोण ही उसे सर्वदेशीय, सर्वकालीन एवम् सर्वव्यापक बना सकता है। तभी धर्म का सम्बन्ध जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं से जुड़ सकेगा! इस दृष्टि से 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग दोषपूर्ण हो जाता है। इसका वास्तविक तात्पर्य यही है कि धार्मिक सम्प्रदाय के विषय में निरपेक्षता हो, 'धर्म' के विषय में नहीं।

शिक्षा तथा धर्म का सम्बन्ध

वर्तमान समय में शिक्षा तथा धर्म के सम्बंध के विषय में यथेष्ट मतभेद पाया जाता है। यूरोप तथा अमरीका आदि में 'सन्डे स्कूल मूवमेन्ट', 'रिलिजस एड्डकेशन मूवमेन्ट', 'कैरेक्टर एड्डकेशन मूवमेन्ट' आदि ने शिक्षा में धर्म को पुनः उच्च स्थान दिलाने में अपनी सारी शक्ति लगा रखी है। हमारे देश में धार्मिक परम्परा की ज्योति आज भी प्रज्ज्वलित होने के कारण लोगों को 'धर्म-विहीन' शिक्षा की बात विचित्र सी लगती है। देश के नेता एवम् दार्शनिक, यथा महात्मा गांधी, राधाकृष्णन, मदनमोहन मालवीय आदि, शिक्षा में धर्म की व्यवस्था आवश्यक मानते हैं। इसके विपरीत ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है जो शिक्षा में धर्म का कोई स्थान नहीं मानते। आज की विचारधारा मुख्यतः आर्थिक एवम् राजनीतिक भावनाओं से आच्छादित है। धर्म निरपेक्ष राज्यों में शिक्षा भी धर्म-निरपेक्ष बनाई जा रही है, और प्रगतिशील विचारक शिक्षक को धर्म के भार से लाद कर उसके विकास को कुंठित नहीं बनाना चाहते।

जो लोग शिक्षा में धर्म को कोई स्थान नहीं देना चाहते उनका तर्क है कि पाठशाला में धार्मिक शिक्षा से अनेक हानियाँ हैं और उसकी समुचित व्यवस्था में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। व्यावहारिक कठिनाई तो यही है कि पाठशाला में अनेक धर्मावलम्बी बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः प्रश्न उठता है कि उन्हें किस धर्म की शिक्षा दी जाए? दूसरे, पाठशाला में पढ़ने वाले बालकों की अवस्था इतनी अपरिपक्व होती है कि धर्म जैसे दुरूह विषय का अध्ययन एवम् उसकी अनुभूति उनसे सम्भव नहीं। उन्हें धार्मिक विचारों तथा सिद्धान्तों को समझाना कठिन होता है। अध्यापक के लिए तो धर्म की शिक्षा देना तलवार की धार पर चलना है। सर्वथा निष्पक्ष होकर धर्म का विवेचन तथा धार्मिक विचारों का विश्लेषण अत्यन्त कठिन है। साधारण अध्यापक

धर्म के प्रति इस प्रकार का पक्षपातरहित वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं अपना पाते। परन्तु, धर्म के प्रति निरा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना दूसरी कठिनाई उत्पन्न कर देता है। उससे धार्मिक आस्था एवम् विश्वास की नींव हिलने लगती है। यह भी आवश्यक होता है कि धर्म-शिक्षक स्वयं धर्माचारी हो, अन्यथा उसके शिक्षण का प्रभाव बालकों पर उल्टा ही पड़ेगा।

इन लोगों का कथन है कि धर्म का वास्तविक महत्त्व एवम् उपयोगिता समस्त मानव समाज को एक सूत्र में बाँधने तथा उनमें भ्रातृभाव फैलाने में है। परन्तु, वास्तविकता तो यह है कि धर्म ने इसके विपरीत कार्य करने में अधिक तत्परता दिखलाई है। विश्व में फैली साम्प्रदायिकता, धार्मिक झगड़े, असहिष्णुता, संघर्ष तथा मार-काट इस बात के द्योतक हैं कि धर्म ने समाज को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचाई है। अतएव, पाठशालाओं में बालकों को धार्मिक शिक्षा प्रदान करना बड़ी भारी ग़लती होगी। तब तो यही सब कटुता हम बाल-जीवन में भी स्थापित कर देंगे। वैसे भी धर्म व्यक्ति का ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित कराने का साधन है और प्रत्येक व्यक्ति का ईश्वर-साधन का ढङ्ग अलग होता है। तभी तो धर्म को व्यक्तिगत अनुभूति कहा जाता है। ऐसी दशा में पाठशालाओं में सामूहिक रूप से बालकों को धार्मिक शिक्षा देना उचित नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत वे लोग जो पाठशाला में धर्म की शिक्षा आवश्यक मानते हैं कहते हैं कि धर्म मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मनुष्य पशु से इसी कारण भिन्न है कि उसे आध्यात्मिक शान्ति की आकांक्षा रहती है। और इसकी पूर्ति धर्म करता है। यथा—

आहारनिद्राभयमैथुनंच सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहितेषामधिकोविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात्, आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि में पशु और मनुष्य समान रूप से एक हैं, केवल धर्म ही मनुष्य में विशेष है। धर्म-विहीन मनुष्य पशुतुल्य है।

आज के संघर्षमय युग में मानव को आध्यत्मिक शान्ति की आवश्यकता और भी अधिक है। सांसारिक सुख, भौतिकता तथा माया-मोह में लिप्त मनुष्य अपनी आत्मिक शान्ति पूर्णतया खो बैठा है। सब कुछ प्राप्त होते हुए भी उसे वह परम सुख प्राप्त नहीं जो केवल आत्मज्ञान एवम् आध्यात्मिक शान्ति में मिलता है। इसी कारण शिक्षा में धर्म की प्रतिष्ठा आवश्यक प्रतीत होती है। जीवन को सुखी बनाने के लिए जो विषय आजकल पाठशालाओं में पढ़ाए जाते हैं यथा, इतिहास, भूगोल, भौतिक

विज्ञान, गणित, नागरिक शास्त्र आदि, वे मनुष्य की केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तथा उसके मानसिक विकास एवम् ज्ञानवृद्धि का ही प्रयत्न करते हैं। अतएव, शिक्षा द्वारा मनुष्य का आध्यात्मिक विकास तनिक भी नहीं हो पाता। इस शिक्षा की योजना करने पर ही मानव महामानव बन सकता है क्योंकि धर्म की शिक्षा सम्पूर्ण जीवन का विकास करती है।

वर्तमान समय में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चारों ओर जो बुराइयाँ दिखाई पड़ती हैं, अनुशासनहीनता, चारित्रिक पतन, मानसिक अशान्ति, वैमनस्य आदि का जो बोल-बाला है, उसका मूल कारण धार्मिक भावना का अभाव है। धर्म के आधार पर ही व्यक्ति उचित-अनुचित का भेद करने में समर्थ होता है। यह भेद न केवल व्यक्ति के हितार्थ आवश्यक है अपितु समस्त मानव-समाज के लिए भी उपयोगी है। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति साधारणतया जीवन में उच्चता, परमार्थ, सहानुभूति आदि गुणों से आभूषित होता है और अनुचित बातों का त्याग करता है। रॉस का विचार है कि यदि सभ्यता को कालग्रस्त होने से बचाना है अथवा उसे बर्बरता में परिणत होने से रोकना है तो शिक्षा की योजना धर्म के आधार पर करनी होगी। ईश्वर पर अखंड विश्वास एवम् सच्चे धार्मिक व्यवहार में ही मानव-जाति का कल्याण है।

धर्म सदैव सद्गुणों का मूलस्रोत रहा है। उसमें चारित्रिक तथा नैतिक गुणों को उच्च स्थान दिया जाता है। सभी धर्म एक धार्मिक व्यक्ति से उच्च चारित्रिक बल की अपेक्षा करते हैं। अतएव, यदि शिक्षा में चरित्र-निर्माण का उद्देश्य किसी भी अंश में स्वीकृत हो तो उसके मूलस्रोत धर्म का स्थान भी शिक्षा में सुरक्षित रखना होगा। उसी से बालक को सच्चरित्रता के लिए प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। आज लोगों के चारित्रिक पतन का मुख्य कारण यही है कि सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर तथा धर्म के प्रति उनका विश्वास घटता जा रहा है।

इस पक्ष के समर्थकों का कथन है कि धर्म का महत्त्व मनुष्य के जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त रहता है। अतएव, यह कहना ठीक नहीं कि बालकों को धार्मिकता के सम्पर्क में नहीं लाना चाहिए। वास्तव में बाल्यावस्था के उपयुक्त ही धार्मिक सामग्री उनके समक्ष रखी जानी चाहिए। नन्हे-नन्हे बालकों के आगे क्लिष्ट धार्मिक ग्रन्थियाँ सुलझाना शिक्षक तथा शिक्षा दोनों का दोष कहा जाएगा, धर्म का नहीं। आज का बालक ही तो कल वयस्क नागरिक बनेगा। अतएव, उस काल में धार्मिक भावना का लाभ पूर्णतया तभी उठाया जा सकता है जब कि प्रारम्भ से ही बाल-विकास की नींव धर्म पर आधारित की जाए।

धर्म की शिक्षा के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि धर्म से संकुचित धार्मिक मतों का अर्थ नहीं लेना चाहिए। धर्म किसी एक सम्प्रदाय का नाम नहीं। अतएव, धर्म की शिक्षा से किसी सम्प्रदाय-विशेष की शिक्षा का अर्थ लगाना ग़लत है। यदि धर्म का व्यापक अर्थ लिया जाए तो उसकी शिक्षा से बालकों में साम्प्रदायिक भावना फैलने का भय कदापि नहीं रहेगा, और भिन्न धर्मावलम्बी बालकों के बीच भी कक्षा में धर्म-चर्चा संभव होगी। ऐसा करना तभी कठिन होता है जब शिक्षक धर्म की आन्तरिक अनुभूति को छोड़कर केवल कर्मकांड की शिक्षा को ही अपना लक्ष्य बना लेता है।

उपर्युक्त विवेचन तथा उभयपक्ष के समर्थकों के तर्कों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि शिक्षा को किसी न किसी रूप में विशद धार्मिक भावना पर आधारित होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा द्वारा सच्चा मानव बनना है और धर्म इसके लिए महान् प्रेरक शक्ति है। यदि बालक के हृदय में प्रारम्भ से ही पूर्णता-प्राप्ति की आकांक्षा जाग्रत की जाए तो उसके लिए संसार में कोई भी समस्या कष्टसाध्य नहीं होगी। धर्म आधारहीन व्यक्ति को उच्च आदर्शों का आधार प्रदान करता है, और उसे आत्मविश्वासी, उत्साही एवम् परिश्रमशील बनाता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी धर्म की उपादेयता तथा उसका महत्त्व कम नहीं।

भारत विशेषतया धर्म-प्रधान देश रहा है। उसने आध्यात्मिकता तथा धार्मिक आदर्शों के सम्मुख भौतिकता एवम् शारीरिक सुखों को सदैव नगण्य माना है। जीवन में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की प्राप्ति करके सर्वगुणसम्पन्न, सर्वव्यापक एवम्, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की अनुभूति को उसने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी निष्पत्ति तथा सदाचरण द्वारा इहलोक एवम् परलोक दोनों को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अनादिकाल से सर्वथा आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रहने वाला भारतीय धर्मविहीन शिक्षा की कल्पना भी नहीं कर सकता। अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में शिक्षा में धर्म का स्थान अवश्यमेव ऊँचा रहेगा—किन्तु निश्चय ही यह धर्म व्यापक एवम् सर्वग्राही मानव-धर्म के रूप में होगा।

देश में बढ़ती हुई वैज्ञानिक तर्कबुद्धि तथा भौतिकवादिता को संतुलित करने के लिए भी जीवन में धर्म का स्थान अक्षुण्ण बनाए रखने की आवश्यकता है। अनेक पाश्चात्य देश जो भौतिक सुखों के पीछे सब कुछ भूलकर दौड़ रहे हैं तथा बहुत-कुछ सीमा तक उन्हें प्राप्त भी कर चुके हैं, उन्हें भी वास्तविक सुख तथा संतोष नहीं। सम्पूर्ण सुख एवम् समृद्धि के बीच उन्हें आध्यात्मिक तथा मानसिक अशान्ति घेरे हुए

है। यह देखकर हम प्रश्न कर सकते हैं कि अपनी आध्यात्मिक शान्ति छोड़कर क्षुद्र भौतिक सुखों के पीछे मतवाला बनने में देश किस लाभ की अपेक्षा करता है ? वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि हमारा राष्ट्रीय जीवन सांसारिक समृद्धि एवम् आध्यात्मिक शान्ति दोनों के उचित संतुलन पर आधारित हो। अर्थात्, दोनों के मध्य सुखदायी संतुलन बनाए रखना शिक्षा का कर्त्तव्य है।

धार्मिक शिक्षा की उपयोगिता तथा आवश्यकता को दृष्टि में रखकर ही महात्मा गांधी ने शिक्षा में उसे स्थान देने का समर्थन किया है। किन्तु उनकी धर्मशिक्षा व्यापकता एवम् कर्त्तव्यपालन को लेकर चलती है। उनके अनुसार कर्त्तव्य ही धर्म है और उसका ज्ञान बालकों को कराने समय सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि का प्रयोग करना चाहिए। इसी आधार पर उनकी वर्धा शिक्षायोजना में धर्मशिक्षा को पृथक स्थान नहीं दिया गया है। महात्मा गांधी के कथनानुसार इस योजना का सम्पूर्ण आधार ही धार्मिक भावना है—ऐसी धार्मिक भावना जो बालक को स्वयं अपने तथा दूसरों के प्रति अपना कर्त्तव्य निबाहने की रुचि एवम् योग्यता पैदा करे। राधाकृष्णन ने भी शिक्षा में धर्म की महत्ता पर बल दिया है। उनके अनुसार धर्म की शिक्षा का रूप मौन प्रार्थना, धार्मिक नेताओं के जीवन का अध्ययन, धार्मिक सिद्धान्तों का परिचय आदि हो सकता है।

शिक्षा तथा धर्म का सम्बन्ध निश्चित कर लेने पर हमारे सामने जो मुख्य समस्या आती है वह है धर्म-शिक्षण की कठिनाई। धर्म की शिक्षा का कार्य अत्यंत दुरूह तथा उत्तरदायित्वपूर्ण है। धार्मिक अनुभूति एवम् गुण बालक में भीतर से विकसित होते हैं वे बाहर से थोपे नहीं जा सकते। अतएव, प्रत्यक्ष धार्मिक प्रवचन एवम् आदेश के स्थान पर यह अधिक लाभदायक होगा कि पाठशाला के सम्पूर्ण वातावरण में धार्मिकता की भावना प्रवाहित की जाए। पाठशाला के समय-विभाग में कुछ मिनटों में धार्मिक शिक्षा देकर शेष समय बालकों को स्वच्छंद छोड़ देना अपने प्रयत्न को प्रारंभ से ही असफल बनाना है। धर्म की शिक्षा का उत्तरदायित्व वास्तव में सभी अध्यापकों पर होता है, केवल धर्मशिक्षक-विशेष पर नहीं। पाठशाला के सारे अध्यापक मिलकर ही अच्छा धार्मिक वातावरण बना सकते हैं, एक अध्यापक अकेला न तो कुछ कर ही सकता है और न उसका प्रयत्न प्रभावयुक्त होगा। साधारणतया सभी अध्यापकों और विशेषतया धर्मशिक्षक को कथन की अपेक्षा आचरण द्वारा बालकों के सम्मुख धार्मिक जीवन का आदर्श उपस्थित करना चाहिए। पाठशालाओं में अधिकांश धर्मशिक्षा इसी कारण प्रभावशाली नहीं हो पाती कि शिक्षक धर्मशिक्षा के समय तो उच्च धार्मिक प्रवचन करते हैं और उसके बाद अपने वास्तविक जीवन में उनसे सर्वथा विपरीत कार्य करते हैं।

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि पाठशाला में धर्म की शिक्षा द्वारा बालकों में धर्मान्धता, अंधविश्वास, वैमनस्य, संकुचित मनोवृत्ति आदि पैदा न हों। धर्म का सब से बड़ा दोष यह रहा है कि उसने मनुष्य में अंधविश्वास की प्रवृत्ति फैलाई है। शिक्षा में धर्म की उपयोगिता तभी हो सकती है जब कि वह तर्क, विश्लेषण, आलोचना एवम् वैज्ञानिक दृष्टिकोण को दबाने के बजाय उन्हें प्रोत्साहित करे। तब धर्म केवल अंधविश्वास की वस्तु न रहकर बुद्धि एवम् वैज्ञानिकता की सुदृढ़ नींव पर आधारित हो सकेगा। आज के युग में तो इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है।

शिक्षा धार्मिक पुट लिए हुए हो किन्तु वह कहीं पूर्णतया धर्म से आच्छादित न हो जाए यह भी ध्यान रखना आवश्यक है। पाठशाला शिक्षा संस्था है, धर्म-संस्था नहीं। वह मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरजाघर का स्थान नहीं ले सकती। प्रत्येक संस्था को अपने निर्धारित क्षेत्र में ही काम करना चाहिए। जिस प्रकार पाठशाला घर का स्थान नहीं ले सकती उसी प्रकार वह धार्मिक संस्था का स्थान भी नहीं ले सकती। तात्पर्य यह है कि पाठशाला और धार्मिक संस्थाओं को बालक के हित में एक दूसरे के साथ सहयोग से कार्य करना चाहिए। एक दूसरे का स्थान लेने से बालक के शोषण का भय सदैव बना रहेगा। अतएव, यदि धर्मसंस्था को बालक के हितार्थ एक शिक्षा-संस्था के रूप में स्वीकार किया जाए तो बालक के प्रति उसके शैक्षिक कर्त्तव्य स्पष्ट निश्चित हो जाते हैं। बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए धर्म-संस्थाएँ बहुत-कुछ कर सकती हैं। उनका क्षेत्र प्रायः मनुष्य के आध्यात्मिक विकास तक ही सीमित रहा है किन्तु वास्तविकता तो यह है कि किसी भी व्यक्ति का पूर्ण आध्यात्मिक विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसका मानसिक, भावनात्मक तथा चारित्रिक विकास भली भाँति न हो। मनुष्य-जीवन के आध्यात्मिक अंग को उसके व्यक्तित्व के अन्य अंगों से पृथक नहीं किया जा सकता। मानव-व्यक्तित्व एक समूची इकाई है। उसका आध्यात्मिक उन्नयन उसके सर्वांगीण विकास का ही द्योतक है। अतएव, बालक के विकास में धार्मिक संस्थाएँ जो कर्त्तव्य पूरा कर सकती हैं वे निम्नलिखित हैं।

धर्म के शैक्षिक कर्त्तव्य

बालक की प्रथम आवश्यकता उसका शारीरिक विकास एवम् स्वास्थ्य है। धर्म तथा धार्मिक संस्थाओं ने व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य एवम् सुख को सदैव उपेक्षित रखा है। धर्म शारीरिक सुखों को व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक मानता है। इसीलिए शरीर की चिंता न करके, भूख-प्यास भूलकर, आध्यात्मिक उन्नति के

लिए प्रयत्नशील होने का आदेश किसी न किसी रूप में तथा न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी धार्मिक संस्थाएँ देती हैं। भारत में तो तप, त्याग एवम् व्रत द्वारा शरीर को अधिकाधिक कष्ट देकर आध्यात्मिक उन्नयन की प्रेरणा दी जाती है। इन्द्रिय-सुखों को निकृष्ट समझने तथा सांसारिकता से दूर रहकर ही आध्यात्मिक उन्नति संभव है, यह अधिकांश धर्माचार्यों का अटल विश्वास रहा है। परिणामस्वरूप, धार्मिकता के प्रभाव में आकर लोग अपने शारीरिक बल एवम् स्वास्थ्य की ओर से उदासीन हो गए। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति में बाल्यावस्था से ही शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति इस प्रकार की उदासीनता भर देना अनुचित है। धार्मिक संस्थाओं के लिए यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है कि वे बालकों के मन में शारीरिक स्वास्थ्य एवम् शक्तिवर्द्धन के प्रति रुचि जाग्रत करें जिससे उनका सम्पूर्ण जीवन स्वस्थ एवम् नीरोग हो। शारीरिक स्वास्थ्य का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उन्हें इन्द्रिय-सुख एवम् भोग-विलास के लिए तैयार किया जाए। इन्द्रिय-निग्रह की इसी आवश्यकता के आधार पर आश्रमधर्म के रूप में हमारे यहाँ ब्रह्मचर्य का महत्त्व स्थापित था।

प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा संचय भी करना होता है। जीविकार्जन के साथ-साथ दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति की चेष्टा सर्वसाधारण के लिए स्वाभाविक है। अतएव, हम मनुष्य जीवन में भौतिक सुखों के महत्त्व की अवहेलना नहीं कर सकते, यद्यपि यह कहना भी आवश्यक है कि मनुष्य को आपादमस्तक पूर्णतया भौतिकता में ही लिप्त रहना उचित नहीं। धर्म मनुष्य को सांसारिक सुखों के प्रति निस्पृहभाव अपनाने तथा संयम रखने के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण पैदा करता है। परन्तु अपने इस प्रयास की अति करके उसने सांसारिकता के महत्व को पूर्णतया क्षीण बना दिया है। धर्म के अनुसार भौतिक जगत का कोई अस्तित्त्व नहीं, आध्यात्मिकता ही सब कुछ है। इसका मनुष्य जीवन पर जो दुःखद परिणाम हुआ वह भारतीयों की इहलोक के प्रति पूर्ण उपेक्षा तथा सदैव परलोक-चिंतन की भावना से स्वतः प्रगट है। इसके परिणामस्वरूप न केवल व्यक्तिगत सुख-समृद्धि की कमी हुई, अपितु राष्ट्रीय शक्ति एवम् समृद्धि का भी ह्रास हुआ। अतएव, इस दिशा में हमारा यही सुझाव है कि धार्मिक संस्थाओं को सांसारिक सुख-समृद्धि को पूर्णतया निकृष्ट एवम् त्याज्य कहकर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उन्हें इस बात पर आवश्यक बल देना है कि प्रत्येक बालक को संसार में जन्म लेकर अपना तथा दूसरों का जीवन सुख-समृद्धि पूर्ण बनाना है। बालक को जन्म लेते ही परलोक का चिन्तक बनाने का तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता।

बालक के समुचित मानसिक विकास के लिये भी धर्म बहुत-कुछ कर सकता है। प्रायः धार्मिक संस्थाओं ने अपने अनुयायियों में अन्धविश्वास भरने के प्रयत्न में उनके विचार-स्वातंत्र्य, विश्लेषण, निरीक्षण आदि मानसिक शक्तियों को सदैव ही कुंठित बनाये रखा। लोगों का यही विश्वास है कि तर्कबुद्धि के विकास से धार्मिक विश्वास की नींव हिल जाती है, अतः धार्मिक विश्वास बनाए रखने के लिए मानसिक विकास के विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। विज्ञान की प्रगति तथा बौद्धिक विकास ने प्रत्यक्ष ही लोगों को धर्म से विमुख कर दिया है और संसार में धर्महीन व्यक्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। किंतु, वास्तविकता यह नहीं है। ज्ञान तथा धर्म में कोई विरोध नहीं। बहुत से व्यक्ति सुविकसित मस्तिष्क लेकर भी पूर्ण धार्मिक होते हैं। यदि धार्मिक भावना सुबुद्धि पर आधारित है तो वह अवश्य अधिक स्थायी होगी। इसीलिए, धर्म-संस्थाओं को बालक के मानसिक गुणों को जाग्रत करके उसे सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की अनुभूति की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। तभी बालक के व्यक्तित्त्व का सम्पूर्ण विकास हो सकता है।

यह सर्वमान्य है कि धर्म भावनात्मक अनुभूति तथा विश्वास की वस्तु है। है। अतएव, उसके द्वारा बालक को चिरन्तन सौंदर्य की खोज एवम् प्राप्ति में प्रवृत्त कराना चाहिए। बालक सुन्दर को ग्रहण तथा असुन्दर को त्याग कर जीवन में उत्तरोत्तर चरम सौंदर्य की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार उसका तथा दूसरों का सम्पूर्ण जीवन सुन्दर बन सकेगा। धर्मसंस्थाएँ बालक को भावना-निग्रह एवम् भावनाओं के उचित दिशा में विकास की भी शिक्षा दे सकती हैं। जीवन में सौंदर्य तथा ललित-कलाओं का महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से भी बहुत अधिक है। धार्मिक भावना और कला का समन्वय हम हिन्दू मन्दिरों तथा प्राचीन गुफाओं में अंकित मूर्तियों से स्पष्ट जान सकते हैं। संगीत और धार्मिक भावना का समीकरण सूर एवम् मीराँ के गीत भली भाँति प्रगट करते हैं। अतएव, बालक के जीवन में कलापक्ष के विकास का प्रयत्न करना धार्मिक संस्थाओं के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

बालक के चरित्र-निर्माण में तो धर्म का योगदान विशेषतया मान्य है। यथास्थान हमने इस बात पर बल दिया है कि सभी धर्मों में सदाचरण को प्रश्रय दिया गया है और प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति से सच्चरित्रता की अपेक्षा की गई है। विशद अर्थ में अपने समाज के प्रति सत्यकर्म करने वाला व्यक्ति ही धार्मिक कहलाता है। वास्तव में नैतिकता का मूलस्रोत धर्म ही है। इस दृष्टि से बालक के जीवन में नैतिक एवम् चारित्रिक गुणों की प्रतिष्ठा करने के लिए धार्मिक भावना की उपयोगिता अत्यधिक है। हमारे देश में आजकल चारित्रिक गुणों की हीनता तथा नैतिकता की कमी का

एक मुख्य कारण लोगों में धार्मिक भावना तथा उच्च आदर्शों के प्रति विश्वास की कमी भी है। धर्म व्यक्ति को अच्छाई की ओर उन्मुख करता है और बुराई से रोकता है। यही सच्चरित्रता है। अतः वर्तमान समय में देश के बालकों में पुनः उच्च चारित्रिक गुणों की प्रतिष्ठा करने के प्रयत्न में पाठशालाओं के साथ धार्मिक संस्थाओं को सहयोग करना चाहिए। यदि हमारी धर्म-संस्थाएँ इस ओर थोड़ा भी ध्यान दें तो राष्ट्रीय एवम् सामाजिक पुनरुत्थान के कार्य में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक की शिक्षा तथा उसके शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक तथा चारित्रिक विकास में भारत की विभिन्न धर्म-संस्थाएँ बड़ा उत्तरदायित्व वहन करती हैं। तभी तो हम धर्म को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षा-संस्था के रूप में स्वीकृत करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारी धर्म-संस्थाएँ बालक के सम्मुख साम्प्रदायिक मतभेद आदि का जाल न फैला कर उसके नैसर्गिक गुणों को विकसित करने तथा उसे उन्नत बनाने का कर्तव्य पूरा करें। धर्म के इस रूप को हम प्रगतिशील एवम् प्रवैगिक कह सकते हैं। वह जड़ तथा अनम्य नहीं होता। सब से बड़ा धार्मिक कार्य यही है कि ईश्वरप्रदत्त, ईश्वरीय गुणों से विभूषित बालक को पूर्ण विकसित होने में सहायता दी जाए। धर्म-संस्थाएँ कम से कम इस शैक्षिक धर्म का पालन कुछ अंश में तो कर ही सकती हैं।
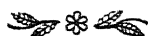
अध्याय २१

शिक्षार्थी

शिक्षा के विभिन्न अंगों में शिक्षार्थी का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया का संचालन बालक के हित में उसे केन्द्र-बिन्दु मानकर होता है। नवीन शिक्षा-प्रणाली में बालक को ही शिक्षा का मूल आधार माना गया है और इसी लिए शिक्षा को बाल-केन्द्रित कहा जाता है। वास्तव में शिक्षा में आज का युग बालक का युग है।

शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा में बालक के महत्त्व पर प्रारम्भ से ही बल दिया है। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में शिक्षा को बालक के उन्नयन तथा विकास का प्रयत्न कहा है। अतएव, बालक को शिक्षित करने के लिए उसका अध्ययन आवश्यक हो जाता है। बालक के क्या गुण हैं, उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ क्या हैं, और उसके मनोवैज्ञानिक विकास में कौन से नियम प्रयुक्त होते हैं यह जानना उसकी शिक्षा की प्रथम आवश्यकता है। प्लेटो के बाद बहुत काल तक बालक की उपेक्षा होती रही। मध्ययुग में बालक के व्यक्तित्त्व की न केवल उपेक्षा की गई अपितु उस पर अनेक प्रकार की ज़बरदस्तियाँ और अत्याचार भी हुए। उसकी शिक्षा में कठोर नियमन, पाठ्यपुस्तकों, अध्यापकों आदि का पूर्ण आधिपत्य रहा। आधुनिक काल में रूसो ने बालक की इस उपेक्षा के विरोध में आवाज़ उठाई। अपनी पुस्तक 'एमील' द्वारा उन्होंने यह दर्शाया कि शिक्षा बाल-प्रधान होनी चाहिए और इसके लिए बालक को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। पेस्तलॉत्सी ने भी इस बात पर बल दिया कि पुरानी शिक्षा-पद्धति में बालक को जो निम्न स्थान दिया गया है वह अनुचित है। फ्रायबल ने तो बालक के प्रति हार्दिक श्रद्धा एवम् स्नेह प्रदर्शित किया और उसकी उचित शिक्षा के लिए बाल-जीवन के अध्ययन को आवश्यक बताया।

बीसवीं शताब्दी में बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन में विशेष प्रगति हुई तथा बाल-जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा। इस युग के महान्

शिक्षा-शास्त्रियों, मॉन्टेसोरी, डीवी, आदि ने भी शिक्षा में बालक की महत्ता स्वीकृत की है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर बालक का अध्ययन करके उसकी शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रचलन हुआ। जॉन ऐडम्स के अनुसार शिक्षक को न केवल पाठ्य-विषय ही जानना चाहिए बल्कि उसे उस बालक का भी ज्ञान होना आवश्यक है जिसे शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है।

हमारी शिक्षा-व्यवस्था में बालक को आज भी गौण ही समझा जाता है। पाठशालाओं में सविधिक शिक्षा-प्रणाली, पाठ्य-क्रम, शिक्षक तथा परीक्षा की प्रधानता के कारण बालक पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। इन पाठशालाओं में यह मध्यकालीन प्रवृत्ति सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु, अब धीरे-धीरे शिक्षकों की ज्ञान-वृद्धि तथा शिक्षा-विषयक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार के साथ शिक्षा में बालक का महत्त्व अधिकाधिक समझा जाने लगा है। बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन तथा अध्यापक-प्रशिक्षण के प्रभाव के कारण भी इस दिशा में प्रगतिशील दृष्टिकोण दिखाई देने लगा है।

शिक्षा में बाल-अध्ययन की आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। आज के युग की यह पुकार है कि शिक्षा का केन्द्र-विन्दु सब जगह से हटकर केवल बालक पर ही आ जाए। जब तक हम शिक्षा में बालक की प्रधानता नहीं मानते तब तक उसकी शिक्षा उचित ढंग से नहीं हो सकती। शिक्षा के उद्देश्य अपने में चाहे जितने महान् एवम् पूर्ण हों तो भी जब तक वे बालक की अन्तःप्रवृत्तियों का आधार नहीं लेते तब तक वे मृग-मरीचिका के समान आकर्षित तो करेंगे किन्तु कोई उन्हें प्राप्त न कर सकेगा। साधारण सा कुम्हार भी प्रत्येक प्रकार की मिट्टी से पूर्णतया परिचित रहता है, उसके गुण-दोष उसे मालूम रहते हैं। घड़ा बनाने के लिए वह रेत नहीं उठा लेता। मिट्टी उसके लिए मुख्य वस्तु है। फिर हम ही शिक्षा में बालक की उपेक्षा क्यों करें—उन बालकों की, जो मानवता के अनगढ़ रूप हैं, जो संसार की प्रत्येक वस्तु से बढ़कर और महान् हैं? एक समय था जबकि यह समझा जाता था कि बालक का मस्तिष्क एक स्वच्छ पट के समान होता है और इसलिए बालक के विषय में जानने को कुछ नहीं होता। परन्तु अब हम यह जानते हैं कि प्रत्येक बालक में उसकी अपनी विशेषता, नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ, क्षमता तथा सीमाएँ होती हैं जिनका पता लगाए बिना उसकी शिक्षा की आयोजना भली भाँति नहीं हो सकती।

बालक का अध्ययन करने से उसके लिए शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करने में विशेष सहायता मिलती है। बालक की योग्यता, उसकी अभिरुचियों तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन एवम् मूल्यांकन करके उसके लिए शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करना आव-

श्यक है। बालक की पहुँच के बाहर, उसकी योग्यता से अधिक तथा रुचि के विपरीत शिक्षा का लक्ष्य बनाने से सिवाय असफलता के कुछ हाथ न लगेगा। साथ ही, बालक के मानसिक, भावनात्मक, चारित्रिक आदि विकास के नियम, अनुभव तथा ज्ञान-प्राप्ति के सिद्धान्त और रुचि एवम् अवधान के नियम आदि जान लेने से अध्यापक को उपयुक्त शिक्षण-प्रणाली का प्रयोग करने में यथेष्ट सहायता मिलती है। इन्हीं सब कारणों से शिक्षा में बाल मनोविज्ञान का आधार उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी माना गया है।

बाल-जीवन का अध्ययन मनोवैज्ञानिक अनेक रीतियों से करते हैं। बालक एक चेतन, सतत् क्रियाशील तथा परिवर्तनशील प्राणी है। उसका अध्ययन किसी पदार्थ के समान प्रयोगशाला में रखकर नहीं किया जा सकता। उसे तो प्रतिदिन के कार्य, व्यवहार, क्रिया-प्रतिक्रिया, भावनात्मक प्रदर्शन आदि के द्वारा ही जाना-समझा जा सकता है। अतएव, बाल-अध्ययन के लिए वैज्ञानिक प्रयोगशाला के परिदृढ़ नियमों का पालन करना अस्वाभाविक ही नहीं अनुचित भी होगा।

बालक के अध्ययन में निरीक्षण-प्रणाली अत्यंत लाभदायक सिद्ध होती है। उसके द्वारा विभिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों में बालक की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इससे बालक के विकास-स्तर, रुचि, बुद्धि आदि का अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरी पद्धति अन्तर्निरीक्षण की है। इसमें वयस्क अपनी बाल्यावस्था के विषय में चिंतन तथा स्मरण करके बालक की अनुभूति तथा आन्तरिक भावनाओं का पता लगाता है। यह प्रणाली यद्यपि कठिन और बालकों के लिए दुःसाध्य है फिर भी मनोविज्ञान में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। तृतीय प्रणाली प्रयोगात्मक है जिसमें जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के अनुरूप परिस्थितियों की योजना की जाती है और बालक को उनमें रखकर उसकी प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इस प्रणाली में अब यंत्रों तथा अन्य सहायक उपकरणों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है जिससे बालक का अध्ययन अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से वस्तुनिष्ठता के साथ हो सके। चौथी प्रणाली मनोविश्लेषण की है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम फ्रॉयड ने किया था। इस प्रणाली द्वारा व्यक्ति की दबी हुई अचेतन मन की भावनाओं तथा इच्छाओं को प्रगट कराके उसकी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है।

बाल-अध्ययन की इन प्रणालियों के अपने गुण-दोष हैं और केवल एक प्रणाली द्वारा बालक के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव, बालक के व्यक्तित्त्व का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक से अधिक प्रणालियों का प्रयोग करके तथ्य ग्रहण करने का प्रयत्न आवश्यक है। तभी हमारा अध्ययन वैज्ञा-

निक तथा परिणाम विश्वसनीय हो सकते हैं। प्रत्येक बालक दूसरे से भिन्न होता है; यह उसकी विचित्रता है। एक कक्षा में बैठे हुए चालीस बालकों में प्रत्येक का अपना अलग व्यक्तित्व तथा निजत्व होता है। मनोविज्ञान द्वारा इस बात पर बार-बार बल दिया जाता है कि किन्हीं दो बालकों को पूर्णतया एकसमान समझना शिक्षक की सबसे बड़ी ग़लती है। परन्तु, प्रत्येक बालक अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए भी कक्षा में सामूहिक रूप से एकत्र होता है। कक्षा में अध्यापक के लिए वह एक पृथक व्यक्ति भी है और कक्षा के समाज का सदस्य तथा अंग भी। इस प्रकार अध्यापक के लिए न केवल प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत रुचियों, सीमाओं, गुणों और प्रवृत्तियों आदि को ही जानना-समझना चाहिए अपितु समूह के रूप में भी उसकी प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है। ऐसा न होने पर ही कक्षा में अनुशासनहीनता, अनियमितता, आदेश-उपेक्षण आदि की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक विकास का पृथक ढंग होने पर भी साधारणतया एक आयु-स्तर के बालकों में कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ पाई जाती हैं। आगे हम इन पर संक्षेप से विचार करेंगे। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि ये सभी प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ सामान्यरूप से ही प्राप्त होती हैं। वह आवश्यक नहीं कि वे प्रत्येक बालक में अनिवार्य रूप से पाई ही जाएँ।

शैशवावस्था

यह अवस्था बालक के जन्म से तीन वर्ष की आयु तक रहती है। इस अवस्था में बालक माता-पिता अथवा परिवार के संरक्षण में रहता है और उन्हीं को उसकी परिचर्या एवम् शिक्षा की व्यवस्था करनी होती है। नन्हा शिशु जन्म से ही न जाने कितनी अस्फुट तथा अस्पष्ट शक्तियों का कोष होता है। वह चीखता-चिल्लाता है, ज़ोरों से हाथ पैर फेंकता है, वस्तुएँ पाने के लिए छीना-झपटी करता है। इतने बड़े संसार में प्रारंभ से ही वह कुछ करने, पाने तथा जीवित रहकर परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने का आकांक्षी होता है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप वह जन्म के समय केवल एक मांस-पिंड होकर भी दो-तीन वर्ष के भीतर चलने फिरने और अपने विचार प्रगट करने योग्य बन जाता है।

शिशु के विकास में जिस दिशा की ओर हमारा ध्यान सर्वप्रथम जाता है वह है उसके शारीरिक अंगों का विकास तथा उनके संचालन की योग्यता में वृद्धि। शिशु अपने जीवन के प्रथम छः महीनों के भीतर ही अपनी विविध इन्द्रियों का प्रयोग करने में समर्थ हो जाता है और फिर इस सामर्थ्य का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है।

हाथ फैलाकर वस्तुओं को पकड़ना और अपनी ओर खींचना, सर ऊपर उठाना, बैठना आदि उसके लिए कुछ महीनों में ही सम्भव हो जाता है। इससे वस्तुओं को छूने देखने तथा उनका प्रयोग करने की इच्छा भी उसके मन में जाग्रत होती है। धीरे-धीरे शिशु आगे सरकने, खड़े होने तथा वस्तुओं को इधर-उधर करने का प्रयत्न करने लगता है। इस समय उसकी विभिन्न इन्द्रियों में सामंजस्य तथा अंग-संचालन में संतुलन आने लगता है। बाह्य संसार के प्रति उसकी रुचि का भी विस्तार होने लगता है और दूसरे व्यक्तियों के विचारों का आदान-प्रदान करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप बालक की भाषा का विकास होता है। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं तथा निकटतम व्यक्तियों के नाम से प्रारम्भ करके तीन वर्ष की अवस्था तक शिशु सरल वाक्यों का प्रयोग सहज ही करने योग्य बन जाता है।

बाल्यावस्था

व्यक्ति की बाल्यावस्था का प्रथम चरण चार वर्ष से लेकर सात वर्ष तक माना जाता है और दूसरा चरण आठ से ग्यारह वर्ष तक। प्रथम चरण में बालक शैशवावस्था के विकास को बनाए रखता है और उसके शारीरिक अंग अधिक पुष्ट, विकसित तथा प्रयोगसाध्य होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, उसके देखने, सुनने और समझने की शक्ति बढ़ती है। चारों ओर की वस्तुओं तथा घटनाओं के विषय में जानने की जिज्ञासा इस अवस्था में बढ़ती है, तभी तो इस अवस्था का बालक वयस्कों से अनेक प्रकार के प्रश्न करके उन्हें परेशान कर डालता है। इस अवस्था में बालक दूसरों का अनुकरण करके बहुत-कुछ सीखता रहता है। यह बालक के आत्मशिक्षण का अपना ढङ्ग है। डाक्टर, रेलगाड़ी, नर्स, पुलिस, डाकिया, भोजन पकाने आदि के खेल रचने में उसकी अनुकरण करने की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। कल्पनाशक्ति के द्वारा वह वयस्क जीवन की परिस्थितियों को अपने खेल में भली भाँति उतार लेता है। इस आयु में बालक पशु-पक्षियों तथा परियों आदि की कहानियों में जो रुचि लेते हैं उससे भी उनकी कल्पनाशक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी स्मरणशक्ति तीव्र होने लगती है और वे घटनाओं, वस्तुओं एवम् व्यक्तियों को अधिक काल तक याद रख सकते हैं। उनमें वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान तथा उनका पृथक-पृथक प्रयोग करने की क्षमता आ जाती है। इस अवस्था में बालक नित्यप्रति की क्रियाओं का अभ्यास डालते हैं और उन्हीं के आधार पर उनका जीवन संचालित होता है। यद्यपि वे भावों का प्रदर्शन उन्मुक्त होकर करना चाहते हैं तथापि भाव-प्रदर्शन की तीव्रता को रोकने का उनका प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ, छः-सात वर्ष की अवस्था

के बालक रोना चिल्लाना आदि कम करने लगते हैं। वे समाज-विरोधी तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले कार्य भी कम करते हैं। इस अवस्था में बालक शिशु-सदन में शिक्षा-प्राप्ति के लिए जाने योग्य हो जाते हैं और वहाँ नियम-पालन, स्वच्छता, सामूहिक खेल आदि को समझने और उनका प्रयोग करने लगते हैं।

बाल्यावस्था के दूसरे चरण में बालक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करता है और पाठ्यक्रम के निर्धारित विषयों में उसकी रुचि जाग्रत होती है। बालक खेल और काम में भेद समझने लगता है। उसकी भाषा का विकास तीव्र गति से होता है; भाषा समझने, बोलने, पढ़ने तथा लिखने की योग्यता बढ़ती है। भावार्थ, शब्दों का तात्पर्य तथा व्यंजनात्मक शब्दावली समझने की योग्यता आती है। उसका अनुभव भी अधिक विस्तृत एवम् गहन होता चलता है, और उसकी स्मरणशक्ति विकसित होती है। काल्पनिक जगत में विचरण करने की अपेक्षा अब बालक वास्तविक जगत में अधिक रुचि लेने लगता है। उसकी विश्लेषण, अध्ययन तथा निष्कर्ष निकालने की शक्ति बढ़ती है। वस्तुओं के बीच सूक्ष्म भेद-प्रभेद करना और प्रत्येक की विशेषता जानना उसे रुचिकर लगता है। दस-ग्यारह वर्ष का बालक दैनिक जीवन की सभी आदतें डाल लेता है और सामाजिक नियम के पालन का प्रयत्न करता है। उसका आत्म-नियमन तथा भावना-निग्रह का प्रयत्न भी पहले की अपेक्षा अधिक होता है, परन्तु दूसरों की आज्ञा अथवा आदेश वह हीनता के साथ स्वीकृत नहीं करता, जैसा कि वह अपनी पूर्वावस्था में करता था। अपनी रुचि तथा समझ के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता उसे अधिक प्रिय लगती है। वयस्कों के आदर्श पर भी वह चलना चाहता है। अतएव, आदेश तथा शासन के स्थान पर बालक के समक्ष अपने जीवन का आदर्श प्रस्तुत करना उसके अभिभावकों के लिए आवश्यक है।

इस अवस्था में बालक अधिकाधिक सामाजिक व्यक्ति बनता है। पाठशाला में उसके अनेक मित्र तथा साथी हो जाते हैं और वे अपनी अलग-अलग मण्डलियाँ बनाने लगते हैं। दस-ग्यारह वर्ष का बालक मित्रता के कर्त्तव्यों को भली भाँति समझता है और उन्हें निबाहने का भरसक प्रयत्न करता है। उसके चरित्र का विकास भी उन व्यक्तियों द्वारा प्रभावित होता है जो उसके साथ रहते तथा उसे प्रभावित करते हैं। बालक की यह अवस्था किसी आदर्श व्यक्ति को अपना नेता मान लेने की होती है और वह प्रत्येक बात में उसी का अनुकरण करके अपना जीवन उसके पद चिह्नों पर चलाने का प्रयत्न करता है।

किशोरावस्था

व्यक्ति की यह अवस्था बारह वर्ष से लेकर साधारणतया अठारह वर्ष तक

मानी जाती है। इस अवस्था में बालक अधिकाधिक पुष्टता एवम् प्रौढ़ता प्राप्त करता है। शारीरिक अंगों, स्वर आदि में परिवर्तन इस अवस्था के प्रारम्भ का लक्षण होता है। इस दिशा में बालिकाएँ बालकों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से विकसित होती हैं; और उनसे पहले परिपक्वता प्राप्त कर लेती हैं। इस अवस्था में बालक-बालिकाओं के विचारों में प्रौढ़ता आती है और वे जीवन की अनेक समस्याओं पर विचार तथा विश्लेषण का प्रयत्न करने लगते हैं। वे वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की ओर अधिक आकृष्ट तथा उत्सुक होते हैं। उनका मस्तिष्क आशा-आकांक्षा, भविष्य के स्वप्नों तथा उन्मुक्त भावनाओं से परिप्लावित हो उठता है। किशोर तथा किशोरियों का एक दूसरे के प्रति आकर्षित होना और उनके साहचर्य की कामना करना स्वाभाविक है। सामाजिक, नैतिक तथा राजनीतिक समस्याएँ उनका ध्यान आकर्षित करती हैं और इस विचार-विमर्श में उनके मन में धर्म के प्रति अनेक तर्क तथा संशय उठ खड़े होते हैं। शारीरिक और भावनात्मक शक्ति में असाधारण विकास के कारण किशोर अधिक क्रियाशील एवम् साहसी होता है, और इसीलिए वह अपने अभिभावकों के लिए अनेक प्रकार की समस्याएँ भी उपस्थित करता रहता है।

किशोरावस्था में व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी व्यावसायिक रुचि भी निर्धारित करने लगता है। भविष्य की कल्पना करते समय उसे यह भी निश्चय करना होता है कि आगे चलकर वह क्या करेगा। अपने भविष्य के प्रति सजग रहकर वह अनुभवों द्वारा इस दिशा में नेतृत्व प्राप्त करता है। इस अवस्था में किशोर-किशोरी समवयस्कों के साथ मित्रता करते और विविध प्रकार की टोलियों एवम् मंडलियों के सदस्य बनते हैं। अपनी मंडली के नियमों-उपनियमों आदि के पालन के लिए किशोर-किशोरी बड़े से बड़ा त्याग करने को भी तैयार रहते हैं। दूसरों का विश्वास प्राप्त कर उसकी रक्षा करना वे भली भाँति जानते हैं। इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक तथा नैतिक क्षेत्र में किशोरियाँ किशोरों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से विकास तथा प्रौढ़ता को प्राप्त होती हैं। सत्रह-अठारह वर्ष की किशोरी स्त्री बन जाती है और वयस्क जीवन के सभी उत्तरदायित्वों को निबाहने योग्य हो जाती है।

तरुणावस्था

सत्रह-अठारह वर्ष के किशोर-किशोरी तरुणावस्था की सीढ़ी पर पैर रखने लगते हैं। यह अवस्था वयस्कता का प्रथम चरण है और व्यक्ति को विविध दिशाओं में परिपक्वता प्रदान करती है। तरुण अधिक समझदार, आत्मविश्वासी, कार्यकुशल तथा सामाजिक व्यक्ति होता है। वह जीवन से संग्राम करने के लिए उत्सुक ही नहीं

रहता अपितु अपने को तैयार भी करता है। किशोरावस्था के स्वप्नों से उठकर व्यक्ति वास्तविकता तथा कर्मण्यता के स्तर पर आता है। उसमें शक्ति, ओज, कार्यक्षमता तथा शारीरिक बल होता है। तरुण तथा तरुणी विवाह करके गृहस्थ बनने और अपनी जातीय परम्परा को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बाल-जीवन एक सुसम्बद्ध शृङ्खला है, उसकी एक कड़ी दूसरी से जुड़ी रहती है। बालक की एक अवस्था अपनी पिछली अवस्था से उद्‌भूत होती है तथा आगामी अवस्था के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। अतएव बाल-जीवन को निश्चित समय-विभाग में नहीं बाँटा जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि तीन वर्ष की अवस्था तक व्यक्ति शिशु रहेगा और चौथा वर्ष लगते ही वह बालक हो जाएगा और उसमें बाल्यावस्था की सब विशेषताएँ परिलक्षित होने लगेंगी। पिछले पृष्ठों में किया गया अवस्था-विभाग केवल एक आयु के बालकों की सामान्य विशेषताओं के आधार पर है और उसमें बहुत-कुछ नम्यता एवम् हेर-फेर संभव है। इस विभाजन को पूर्णतया परिदृढ़ समझना बड़ी ग़लती होगी।

शिक्षा में बालक की प्रवृत्तियों, मूल-शक्तियों तथा रुचियों आदि का पूरा ध्यान रखकर ही उसकी शिक्षा की व्यवस्था करना उचित होगा। तभी शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के गुण-विशेष का विकास करने में समर्थ होगी। इसके लिए इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि शिक्षक अपने विद्यार्थियों का बराबर अध्ययन करता रहे। बालक का विकास किस ढंग से हो रहा है? उसकी भावनाएँ किस ओर उन्मुख हो रही हैं? उसका बुद्धि-स्तर क्या है? उसे किन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है? उसका सामाजिक व्यवहार कैसा है? आदि अनेक विषयों में बालक की स्थिति जानने की आवश्यकता है। हमारे देश में वर्तमान विद्यालयों में अध्यापकगण बालक की केवल पठन-पाठन विषयक समस्याओं का समाधान कर देना यथेष्ट समझते हैं, और वह भी अत्यंत सीमित रूप में। बाल-जीवन की विविध समस्याओं को न समझ पाना तथा उन्हें सुलझाने में बालक की सहायता न करना अध्यापक के कर्त्तव्यों से विचलित होना है। अपना कार्य भली भाँति सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए अध्यापक को स्वयम् अपने व्यक्तित्व के विषय में भी सम्यक् जानकारी होनी चाहिए। इस विषय पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।
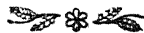
अध्याय २२

शिक्षक

मानव-समाज में शिक्षक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण मानव-समाज की उन्नति के लिए शिक्षकगण आदिकाल से ही प्रयत्न करते आए हैं और मानव-उत्थान के पुनीत कार्य में अपना जीवन अर्पित करते रहे हैं। मनुष्य अपनी वर्तमान उन्नत अवस्था एवम् सभ्यता के लिए बहुत अंशों तक उन शिक्षकों का ऋणी है जो समय-समय पर अपनी शिक्षा तथा अपने जीवन के आदर्शों से उसे पोषित करते रहे हैं। जीवन के लक्ष्य एवम् उद्देश्यों की प्राप्ति में उनका नेतृत्त्व मनुष्य को सफलतापूर्वक अग्रसर करता रहा है। उसे उन्हीं से स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती आई है। इस दृष्टि से मनुष्य अपने गुरुओं का चिरऋणी रहेगा।

शिक्षा के सीमित क्षेत्र में तो शिक्षक का महत्त्व असंदिग्ध है। पाठशाला में समस्त शिक्षण-प्रक्रिया उसी के द्वारा संचालित होती है। कक्षा में अनुशासन से लेकर शिक्षण-प्रविधि के प्रवरण तक समस्त कार्य अध्यापक ही करता है। अपने अध्यापन में जीवन के अनुभवजन्य प्रयोग एवम् सामग्री को चुनकर प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करना उसी का कार्य है। अब तो धीरे-धीरे पाठशाला के प्रबन्ध एवम् शासन में भी अध्यापक का हाथ मुख्य रूप से रहने लगा है और उसे पाठशाला में शासन-प्रबन्ध की पूर्ण स्वतंत्रता देने का आंदोलन बड़े वेग से चल रहा है।

पाठशाला में अध्यापक का क्या स्थान हो और उसके कृत्यों की परिधि का कितना विस्तार हो इस विषय में शिक्षा-शास्त्रियों में यथेष्ट मतभेद रहा है। कुछ व्यक्ति अध्यापक का स्थान बहुत ही गौण मानते हैं तथा दूसरे अत्यन्त प्रमुख। शिक्षा की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रभाव भी इस दिशा में बहुत अधिक पड़ा है। अतः यहाँ शिक्षा में अध्यापक के स्थान पर विचार कर लेना उचित होगा।

प्रकृतिवाद के अनुसार बालक का प्रथम गुरु प्रकृति ही है और उसे प्रकृति द्वारा ही जीवन की शिक्षा मिलती है। बालक की शिक्षा के लिए कृत्रिम सामाजिक

वातावरण संयोजित करने का समर्थन प्रकृतिवादी नहीं करते। उनके विचारानुसार बालक की शिक्षा में अध्यापक का कोई स्थान नहीं। स्वयम् 'एमील' की शिक्षा में रूसो कुछ प्रारंभिक वर्षों तक अध्यापक को अनावश्यक मानते हैं। उनके अनुसार बाद में भी अध्यापक को बालक की आत्मशिक्षण की प्रक्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। बालक के आत्मविकास में अध्यापक को कोई प्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं करना है। उसका कार्य केवल इतना है कि बालक के जीवन में शिक्षात्मक परिस्थितियों की संयोजना करके उसे स्वानुभव द्वारा सीखने का अवसर देता रहे, और इससे अधिक कुछ न करे। इस दृष्टिकोण के अनुसार बालक की शिक्षा में अध्यापक का स्थान महत्त्वहीन और उसके कृत्य अत्यन्त सीमित हो जाते हैं। इसी कारण प्रकृतिवाद में शिक्षक का स्थान नगण्य कहा गया है।

आदर्शवाद के अनुसार अध्यापक बालक के समान ही आध्यात्मिक पूर्णता का एक अंग है। अतएव, शिक्षक तथा शिक्षार्थी का महत्त्व समान है। शिक्षक बालक के अध्यात्मिक वातावरण का गत्यात्मक अंश होने के कारण उसके जीवन को निरंतर प्रभावित करता चलता है। बालक अपने शिक्षक से जो आध्यात्मिक सम्बन्ध एक बार स्थापित कर लेता है वह उसे जीवनपर्यन्त चिरंतन सत्यों की प्राप्ति के लिए स्फूर्ति एवम् प्रेरणा प्रदान करता रहता है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा-व्यवस्था में अध्यापक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रमुख हो जाता है। अध्यापक अपने जीवन-आलोक द्वारा अपने शिष्यों का पथ आलोकित करता है और बालक के लिए 'तमसोमाजोतिर्गमय' की आकांक्षा की पूर्ति करता है।

प्रयोजनवाद में न तोपूर्व -निश्चित उद्देश्यों की स्वीकृति ही होती है और न उनकी प्राप्ति के लिए परम्परागत प्रयत्न। उसके अनुसार बालक नवीन आदर्शों की खोज करने का प्रयत्न करता है और इन्हीं प्रयत्नों द्वारा शिक्षित भी होता चलता है। इस दृष्टि से पाठशाला एक प्रयोगशाला है और बालक प्रयोगकर्ता। अध्यापक का कृत्य है कि वह इस प्रायौगिक प्रक्रिया में बालक का नेतृत्त्व करे, उसे वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग करने तथा सत्यान्वेषण की शिक्षा प्रदान करे और प्रयोग द्वारा प्राप्त परिणामों को आत्मसात् करने में सहायता दे। इस प्रकार प्रयोजनवाद के अनुसार शिक्षक के आदर्श उतना महत्व नहीं रखते जितना कि उसके द्वारा प्रयुक्त शिक्षण-प्रणाली एवम् प्रयोग के ढंग। इसीलिए प्रयोजनवाद नित्य नवीन शिक्षण विधियों की खोज करने में रत रहता है और मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रभावोत्पादक प्रणालियों के प्रयोग का समर्थन करता है। तभी तो इस विचार के अनुसार शिक्षा में अध्यापक का स्थान प्रकृतिवादी विचारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, परन्तु आदर्शवाद की विचारधारा

के समान वह अध्यापक का आध्यात्मिक महत्व नहीं मानता। वह अध्यापक को केवल दक्ष प्रयोगकर्ता के रूप में स्वीकृत करता है।

इस से स्पष्ट है कि बालक की शिक्षा-व्यवस्था में अध्यापक का स्थान तथा उसके कृत्य भिन्न विचारधाराओं के अनुसार भिन्न माने गए हैं। प्रकृतिवाद में अध्यापक को जो सर्वथा गौण स्थान दिया गया है उससे बहुत कम लोग सहमत होंगे। वास्तविकता तो यह है कि प्रकृतिवादी विचारधारा के प्रभाव के होते हुए भी शिक्षा में अध्यापक का स्थान आज तक महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। बिना शिक्षक के बालकों की समुचित शिक्षा-व्यवस्था की कल्पना करना कठिन है। आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद दोनों ही अध्यापक को यथेष्ट महत्व देते हैं, यद्यपि उनके दृष्टिकोण में अंतर है।

पाठशाला में अध्यापक बालकों को दो प्रकार से प्रभावित करता है। प्रथमतः वह बालक के सम्पर्क में आकर अपने व्यक्तित्व के गुणों द्वारा उस पर सहज एवम् स्वाभाविक प्रभाव डालता है। यह प्रभाव कभी-कभी तो बालक के लिए पूर्णतया परोक्ष एवम् अज्ञात होता है। जीवन के आदर्श, विचार, कार्यप्रणाली आदि के क्षेत्र में अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव बालक पर बहुत अधिक पड़ता है। स्वयं बालक भी प्रायः अध्यापक को अपने समस्त आदर्शों का प्रतीक मानकर उसके पदचिह्नों पर चलने का प्रयत्न करता है। यह हम सभी का अनुभव है कि पाठशाला के किसी एक अध्यापक-विशेष ने हमारे जीवन को परोक्ष रूप में अत्यधिक प्रभावित किया है, चाहे उसने हमें कभी कक्षा में पढ़ाया तक न हो। ऐसे अध्यापक की स्मृति हमारे मानस पटल पर जीवन भर अंकित रहती है। दूसरी रीति जिसके द्वारा अध्यापक बालक को प्रभावित करता है कक्षा में अध्यापन का प्रत्यक्ष रूप है। कक्षा में पाठ्यपुस्तक पढ़ाते समय जो ज्ञान वह बालक को सचेष्ट तथा नियमित रूप से प्रदान करता है वह इसके अन्तर्गत आता है। भाषा, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान बालक अध्यापक से निश्चयपूर्वक सविचार प्राप्त करते हैं। इसके लिए अध्यापक को शिक्षण-सामग्री एवम् शिक्षण-पद्धति का प्रयोग करना होता है। उसे कक्षा में विशेष नियमों, शिक्षण-सिद्धान्तों तथा विधियों का पालन करना पड़ता है। शिक्षण प्रविधि में दक्षता-प्राप्त शिक्षक ही इस दिशा में सफल हो सकता है।

बालक को प्रभावित करने के इन दो ढंगों से हम स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पहला ढंग इस बात पर निर्भर है कि अध्यापक कैसा हो? उसके व्यक्तित्व में कौन से गुण हों? अथवा, उसकी योग्यता क्या हो? और दूसरा ढंग इस बात पर निर्भर है कि कक्षा में अध्यापक क्या करे? वह किस शिक्षण-प्रविधि का प्रयोग करे? तथा, इस विषय में वह कितनी दक्षता रखता है? इस प्रकार हमारे सम्मुख

अध्यापक-विषयक दो समस्याएँ आती हैं : अध्यापक का व्यक्तित्व कैसा हो ? और, उसे कक्षा में क्या करना है ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पर शिक्षक की वास्तविक योग्यता निर्भर है ।

एक आदर्श शिक्षक के व्यक्तित्व के गुणों की रूपरेखा निर्धारित करने का प्रयत्न अनेक लोगों ने किया है । ऐसे प्रयत्नों में प्रायः कल्पना की लम्बी उड़ानें ली गई हैं और आदर्श अध्यापक में आवश्यक गुणों की इतनी लम्बी सूची बनाई गई है कि कम से कम मनुष्य में तो उनका होना असंभव है । अध्यापक मनुष्य ही तो है, उसमें मानवीय सीमाओं तथा कमज़ोरियों का होना स्वाभाविक है । आदर्श गुणों की लम्बी सूची बना लेना सरल है किन्तु सभी अध्यापकों में उनकी प्राप्ति अत्यंत कठिन । इस विषय में दूसरी कठिनाई मतभेद की है । प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न गुणों की कल्पना करता है और परिणामस्वरूप सर्वसम्मति से अध्यापक की एक निश्चित गुणावली तैयार करना कठिन होता है । देश, काल तथा संस्कृति की भिन्नता से भी एक शिक्षक के आवश्यक गुणों के विषय में मत-भिन्नता हो जाती है । इस मतवैभिन्न्य के कारण अभी तक आदर्श शिक्षक के व्यक्तित्व का एक निश्चित रूप निर्धारित नहीं हो सका है । साथ ही, हमें यह भी देखना है कि वे कौन से विशिष्ट गुण हैं जो एक व्यक्ति को सफल अध्यापक बनाते हैं परन्तु जो अन्य कार्यक्षेत्रों में उसकी सफलता के लिए आवश्यक नहीं । उदाहरणार्थ, एक डॉक्टर में कुछ विशेष गुण होते हैं जो एक सफल इंजीनियर अथवा कारीगर के गुणों से भिन्न हैं । इसी प्रकार अध्यापक के लिए वे कौन से विशिष्ट गुण आवश्यक हैं जो उसके कार्य-विशेष के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं और जो एक इंजीनियर अथवा डॉक्टर की सफलता के लिए आवश्यक नहीं ।

भिन्न देशों में आदर्श शिक्षक के गुणों की रूपरेखा भिन्न रूप से निर्धारित की गई है । यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि शिक्षक अपनी जाति तथा संस्कृति का प्रतीक होता है । पाश्चात्य देशों में एक आदर्श शिक्षक का जो चित्र अंकित किया जाएगा वह भारतीय आदर्श शिक्षक की रूपरेखा से भिन्न होगा यद्यपि दोनों में कुछ मानवीय गुण समान रूप से अपेक्षित हो सकते हैं । अतएव, अपने देश के लिए आदर्श शिक्षक के गुणों की रूपरेखा तैयार करने से पूर्व हमें यह भी देख लेना आवश्यक है कि हमारी राष्ट्रीय परम्परा में उसका क्या रूप रहा है और भारतीय विचारधारा के अनुसार समय-समय पर शिक्षक में किन विशिष्ट गुणों की अपेक्षा की गई है ।

वैदिक शिक्षा पूर्णतया आत्मत्याग में निहित थी । यज्ञ तथा उसके विभिन्न रूप—तप, योग, स्वाध्याय एवम् ज्ञान—की मूल-भावना आत्मत्याग ही थी । अतः आत्मत्याग के रूप में शिक्षा का निर्धारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से था । इसे

हम उस काल के जन-शिक्षण का विशिष्ट रूप मान सकते हैं। प्रायः माता-पिता ही बालक के प्रथम गुरू माने जाते हैं और आदि-युग में भारत में पिता का स्थान प्रथम शिक्षक के रूप में सुरक्षित था। फिर भी, वैदिक काल में ऋषियों को ही आदि-गुरू कहा गया है। वेदों में ऋषियों को अनाधृश्य बताया है जिसका तात्पर्य उन लोगों से है जिन्होंने घोर तप द्वारा दिव्यता तथा स्वर्ग में स्थान प्राप्त कर लिया है। ये मुनिगण वृक्ष की छाल से आवृत्त, तप की दिव्यता से दीपित देवत्त्व को प्राप्त करते तथा स्वच्छंद वायु के समान सर्वत्र विचरण करते थे। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में उन्हें समाविस्थ, वायु के समान सूक्ष्म रूप धारण करने वाले, वचन तथा कर्म से सत्य का पालन और सद्गुणों में देवताओं की समता करने वाले कहा गया है।

ऋग्वेद में गुरू को वाचस् अर्थात् उच्च ज्ञान से परिपूर्ण भी कहा गया है। अथर्व तथा अन्य वेदों में उसे गुरू अथवा आचार्य की संज्ञा दी गई है। आचार्य शब्द का अर्थ है अच्छे आचरण वाला, शुद्ध आचरणयुक्त। इसी से स्पष्ट है कि गुरू के व्यक्तित्व में ज्ञान की अपेक्षा आचरण अथवा व्यवहार पर अधिक बल दिया जाता था। इन वेदों में गुरू की तुलना यम से भी की गई है जिसका तात्पर्य है पापकर्म अथवा पापियों का नाश करने वाला। इस प्रकार वैदिक गुरू का अपना निजी व्यक्तित्त्व था। वे ज्ञानवान् थे तथा अधिकाधिक ज्ञान-प्राप्ति में निरत रहते थे। वे विचार एवम् वाणी से सत्य का पालन करते थे। वे दोष तथा अज्ञान का नाश करने वाले और प्रकाश एवम् आनंद प्रदान करने वाले थे। उन्हें मंत्रों का पूर्ण ज्ञान था।

उपनिषदों में विज्ञ, यज्ञादि में दक्ष, त्यागी, ज्ञानवान् आदि रूपों में अच्छे शिक्षक का वर्णन मिलता है। बालक की शिक्षा की ओर से असावधान तथा अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करने वाले शिक्षक को गुरु की संज्ञा न देने का आदेश था। शिक्षक का धर्म था कि अपने शिष्यों से कोई ज्ञान न छिपाए और उसे अपने व्यक्तिगत कार्यों में इतना न लगाए कि उसके पठन-पाठन में बाधा हो। शिक्षक के लिए यह भी आवश्यक था कि अपने पाठ को बालकों के लिए रोचक तथा आनंददायी बनाए। शिक्षक के लिए प्रगाढ़ पांडित्य ही यथेष्ट नहीं था, धारा-प्रवाह वक्तृत्त्व, वाक्चातुर्य, मानसिक सजगता, रुचिकर दृष्टांतों का अक्षय भांडार तथा कठिनतम शब्दों के तुरत एवम् सहज स्पष्टीकरण की क्षमता आदि गुणों का होना भी आवश्यक था। संक्षेप में, उसे अपने विषय में पंडित होने के साथ ही साथ शिक्षण-प्रक्रिया में भी दक्ष होना अनिवार्य था। पढ़ाने के अतिरिक्त शिक्षक में शिष्य को उत्साहित करने की भी क्षमता होनी चाहिए। अपनी पवित्रता, उच्च चरित्र, पांडित्य तथा सुसंस्कृत जीवन द्वारा चरणों में

बैठकर ज्ञान प्राप्त करने वाले शिष्यों को सूक्ष्म किन्तु स्थायी रूप से प्रभावित करना उनके लिए आवश्यक था।

शिक्षक पाठ्यविषयों के पठन-पाठन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी क्रियाशील होता था। शिष्य को निद्रा एवम् स्वास्थ्य के नियम तथा भक्ष्य-अभक्ष्य का ज्ञान कराना भी उसका कर्त्तव्य था। प्राचीनकाल के शिक्षक ब्राह्मण ही होते थे। अतएव, पुराणों में पण्डित, साधुजन, एवम् ब्राह्मणों के अपेक्षित गुणों की सूची स्थान-स्थान पर मिलती है। उदाहरणार्थ, कोमल हृदय, मोहरहित, शास्त्रज्ञ, धर्मवान, सात्विक आचार-वान्, सुशील, श्रद्धापूर्ण, कृतज्ञ, सत्यवादी, कर्तव्यपरायण, मितभाषी आत्मनिग्रही आदि कहकर उनका वर्णन किया गया है। शिक्षक के लिए विद्यार्थी का मनोवैज्ञानिक अध्य-यन करके उसके अनुरूप ही शिक्षा-सामग्री एवम् शिक्षण-विधि का प्रयोग करना आव-श्यक था। बालक की मूल-प्रवृत्तियों और भावनाओं आदि का सूक्ष्म अध्ययन करने की दिव्य सामर्थ्य उस समय के गुरुओं में विशेष रूप से थी। उनके लिए यह आव-श्यक था कि बालक के मन में अपने प्रति विश्वास एवम् निष्ठा जाग्रत करें। दोनों का सम्बन्ध स्नेह और सम्मिलन के उच्च स्तर पर आधारित था।

बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में भी शिक्षकों को आचार्य तथा उपाध्याय की संज्ञा दी गई है। उपाध्याय उस काल के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक थे। भिक्षुणियाँ शिक्षिका का कार्य करती थीं। शिक्षक और शिक्षार्थी में पिता-पुत्र का सम्बन्ध था। इसीलिए आचार्य को 'निस्सयदा'—संरक्षक—कहा गया है। महावग्ग के अनुसार शिक्षक को अपने अधीनस्थ भिक्षु का यथासंभव बौद्धिक एवम् आध्यात्मिक उन्नयन करना आवश्यक था। यह उपदेश, प्रश्न, आदेश तथा उत्साहवर्द्धन द्वारा किया जा सकता है। उन विद्यार्थियों को जिनके पास अपने भिक्षापात्र और वस्त्र न हों शिक्षक को अपने पास से दे देना चाहिए। यदि विद्यार्थी बीमार पड़ जाए तो शिक्षक उसके प्राण रहते उसकी सेवा सुश्रुषा करे और उसके स्वास्थ्यलाभ की कामना करे। बीमारी की दशा में शिक्षक विद्यार्थी की सेवा उसी निष्ठा और तत्परता से करे जिस प्रकार कि स्वस्थ होने पर शिष्य अपने गुरु की करता है, यहाँ तक कि प्रातःकाल उठ कर उसके हाथ-पैर धोने के लिए पानी और मुँह साफ़ करने के लिए दातौन लाना भी अपेक्षित है।

शिक्षक को नैतिक व्यवहार, एकाग्रता, विवेक तथा आत्मोन्नति के क्षेत्र में उच्चता के अतिरिक्त अन्तदृर्ष्टि होना भी आवश्यक है। उसे दूसरों की पूर्णता-प्राप्ति में सहायक होना चाहिए। यह तभी सम्भव है कि जब कि उसके हृदय में विश्वास हो, कृत्रिमता न हो। उसे विनम्र, पापकर्म से विरत, परिश्रमशील तथा नैतिक व चारि-त्रिक बातों में दृढ़ होना चाहिए। वह अशिक्षित तथा मूर्ख न हो। उसमें विद्यार्थी को

नीतिशास्त्र, चरित्रगठन के तत्त्व, विनय से सम्बन्धित आदेश देने और धर्मानुसार असत्य बातों पर तर्क करने तथा दूसरों को तर्कबुद्धि प्रदान करने की योग्यता होना आवश्यक है।

प्राचीन काल के शिक्षक हृष्ट-पुष्ट और विकार एवम् क्रोध रहित होते थे। वे बेकार समय नष्ट नहीं करते थे। वे उदारहृदय थे। आचार्यगण शान्त एवम् निष्कपट होते थे, बीमार नहीं पड़ते थे। नालन्द विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि प्रधानतया उसके योग्य शिक्षकों के कारण थी। हृदय तथा बुद्धयात्मक गुणों पर समान बल दिया जाता था। पाठ्यविषय का ज्ञान एवम् विद्वत्ता का महत्व वैदिक और बौद्धकला में विशेष था। भावनात्मक स्थिरता, आत्मनियमन, कर्तव्यपालन, नेतृत्व तथा उत्साहवर्द्धन, स्नेह और ममत्त्व आदि कुछ ऐसे गुण थे जो शिक्षक के लिए सामान्यरूप से महत्त्व पूर्ण माने गए हैं। शिक्षक और शिक्षार्थी का पारस्परिक सम्बन्ध स्नेह, ममता एवम् श्रद्धा के अतिरिक्त आध्यात्मिक एकता पर बहुत-कुछ आधारित था। इसीलिए उनमें आपस में क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, आज्ञोल्लंघन, अनादर, अविश्वास आदि के लिए कोई आशंका नहीं थी और न शैक्षिक वातावरण की शान्ति भंग होने का कभी अवसर ही आता था। ऋषिकुलों और आश्रमों में सर्वत्र शान्ति, पारस्परिक स्नेह तथा आनन्द का साम्राज्य था। शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के चारित्रबल पर काफ़ी ज़ोर दिया जाता था और वे भौतिकता अथवा सांसारिकता से दूर रहते थे। महानतम आध्यात्मिक विभूति—ईश्वर—द्वारा निर्देशित कर्तव्यों की पूर्ति ही उनके जीवन तथा अध्यापन का एकमात्र उद्देश्य था। उनका लक्ष्य समस्त मानव समाज की उन्नति करना था।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षक का अध्यापनकार्य केवल धर्म-पालन का एक रूप था। शिक्षणकला अध्यापक के आदर्शपाठ तथा विद्यार्थियों द्वारा उसके अनुकरण में निहित थी। फिर भी, प्रश्नोत्तर, व्याख्या, पुनरावृत्ति, वादविवाद आदि की प्रणालियाँ प्रचलित थीं। तुलना, निरीक्षण, प्रदर्शन आदि का भी प्रयोग होता था। धीरे-धीरे शिक्षकों में उपरोक्त गुणों की कमी होने लगी और वे भौतिकता तथा सांसारिकता में फँसने लगे।

मध्यकाल में भारत में शिक्षा की दो भिन्न व्यवस्थाओं का प्रचार पाया जाता है—एक हिन्दू तथा दूसरी इस्लामी। धार्मिक प्रभाव की भिन्नता के कारण दोनों प्रणालियाँ पृथक-पृथक पनपती रहीं। हिन्दू तथा बौद्ध शिक्षा-संस्थाएँ टूटी-फूटी दशा में कार्य कर रही थीं। शिक्षकगण भी दो प्रकार के थे—एक तो वे जो अपने विषय के पूर्ण पंडित थे और दूसरे वे जिनका ज्ञान अत्यन्त साधारण था। इस्लामी शिक्षा-व्यवस्था में अध्यापक का स्थान महत्त्वपूर्ण था। हिन्दुओं के उपनयन संस्कार के समान मुसलमानों में भी 'मकतब' की प्रथा प्रचलित थी और गुरु-शिष्य में धार्मिक सम्बन्ध

माना जाता था। साधारणतया सभी मध्यकालीन शासक विद्वानों तथा उच्च शिक्षकों को संरक्षण एवम् सहायता प्रदान करते थे। प्रायः वाद-विवाद करने की क्षमता, वक्तृत्त्वकला, लेखन-शैली में निपुणता आदि गुण के आधार पर ही राज्य का आश्रय प्राप्त होता था। खुशख़ती पर विशेष बल दिया जाता था।

मध्ययुग में शिक्षकों की दशा तथा उनके गुणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि कुछ अध्यापक प्राचीन परम्परा के अनुसार ज्ञान एवम् विद्वत्ता और हृदय तथा मस्तिष्क के उच्च गुणों से विभूषित थे। परन्तु अधिकांश अध्यापक निम्न श्रेणी के ही थे। उनकी शिक्षण-प्रणाली रटाई तथा अनुकरण पर आधारित थी। शिक्षक में अच्छी लिखावट, स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण, धर्मग्रंथों में दक्षता, तथा नैतिकता अपेक्षित थी। छड़ी के बल पर ही अनुशासन तथा नियन्त्रण स्थापित किया जाता था। बिना समझे-बूझे रटना ही विद्वत्ता थी। इसीलिए वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा कृत्रिमता पनपती रही।

आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही शिक्षकों की दशा गिरने लगी और उनके गुण भी सीमित तथा क्षीण हो गए। सन् १८३५ से १८३८ ई० तक के समय में ऐडम ने बंगाल में शिक्षा-व्यवस्था का जो विस्तृत अध्ययन किया उससे स्पष्ट होता है कि प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षक बहुत ही साधारण होते थे। सरलता, निर्धनता और अज्ञान उनकी विशेषताएँ थीं। परन्तु उच्च पाठशालाओं और मदरसों के अध्यापक चरित्रवान्, धर्मग्रंथों में पारंगत और संस्कृत अथवा अरबी-फ़ारसी के विद्वान होते थे। अपने शिष्यों से पुत्रवत् स्नेह, सरल जीवन तथा सात्विक विचार उनकी विशेषताएँ थीं। उत्तरमध्यकाल से ही अध्यापन-कार्य मुख्यतया कायस्थों के हाथ में आगया था।

धीरे-धीरे अध्यापकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा और पाठ्यविषयों के उच्च ज्ञान के साथ ही साथ ज्ञान प्रदान करने की कला में उनकी दक्षता को भी अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा। बीसवीं शताब्दी में देश में अनेक नार्मल स्कूल तथा प्रशिक्षण महाविद्यालय खुले और वर्तमान समय में उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। उनका मूल प्रयत्न यही है कि हमारे अध्यापकों में आवश्यक गुणों की स्थापना करके उन्हें अपने कार्य-विशेष में भली भाँति दीक्षित किया जाए। वर्तमान समय में विदेश, विशेषकर अमरीका में इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि एक सफल शिक्षक के व्यक्तित्त्व के आवश्यक गुणों का निर्धारण निश्चित रूप में वैज्ञानिक ढङ्ग से किया जाए। इन प्रयत्नों के अनुसार यह भली भाँति नाप-तौलकर निश्चित करना है कि सफल अध्यापक में कौन से सामान्य गुण हों..

कौन से विशेष गुण हों, और प्रत्येक गुण की मात्रा कितनी हो ? इन बातों का निश्चय करने के लिए आजकल तीन प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं :—

(१) भिन्न मतों का एकत्रीकरण—इस प्रणाली द्वारा शिक्षा तथा शिक्षक से सम्बंध रखने वाले व्यक्तियों, जैसे प्रधान-अध्यापक, बालकों के अभिभावक, विद्यार्थियों आदि के विचारानुसार सफल अध्यापक के गुणों की एक सामूहिक तालिका बनाने का प्रयत्न किया जाता है। इस मत-प्रकाशन में विभिन्न वर्ग के लोगों की संख्या जितनी अधिक होगी उनकी सामूहिक राय भी उतनी ही विश्वसनीय मानी जाएगी। इस प्रकार एक-एक व्यक्ति से उनके विचारानुसार सफल अध्यापक के आवश्यक गुणों की जानकारी प्राप्त कर सहस्रों व्यक्तियों की राय एकत्र की जाती है और उसके आधार पर आवश्यक गुणों की सूची बनाई जाती है।

(२) शिक्षकों का अध्ययन—इस प्रयोग में पाठशालाओं के सर्वाधिक सफल और नितांत असफल अध्यापकों की विशेषताओं एवम् गुण-दोषों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन द्वारा इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि सफल अध्यापक किन व्यक्तिगत गुणों के कारण सफल है और असफल अध्यापक में व्यक्तित्त्व की क्या न्यूनताएँ अथवा दोष हैं।

(३) बाल-परिवर्तन की माप—यह प्रयोग सर्वथा नवीन है और शिक्षाविदों के अनुसार शिक्षक की योग्यता जाँचने का सब से अधिक वैज्ञानिक एवम् विश्वसनीय ढंग है। सिद्धान्त यह है कि अध्यापक की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह बालकों के गुणों एवम् ज्ञान का विकास कर सके। इस आधार पर सफल अध्यापक के विद्यार्थी असफल अध्यापक के विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक उन्नत होंगे। बालक के निष्पत्ति-स्तर की माप करके उसे अध्यापक के सिपुर्द कर दिया जाता है और फिर समयान्तर से उसके निष्पत्ति-स्तर में उन्नति की पुनः माप की जाती है। इस उन्नति के आधार पर शिक्षक को अपेक्षाकृत सफल अथवा असफल कहा जा सकता है। इस प्रकार के प्रयोग में अनेक सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक कठिनाइयाँ और उलझनें हैं जिन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारत में अध्यापक के गुणों के निर्धारण के विषय में अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ है। हम अभी भी यह निश्चयपूर्वक नहीं जानते कि अपनी पाठशालाओं के लिए हम किस प्रकार के अध्यापक चाहते हैं। अपनी खोज तथा वैज्ञानिक तथ्य-संग्रह के आधार पर इस पुस्तक के लेखक ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे काफ़ी अंश तक उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्रयोगों पर आधारित हैं। उनके अनुसार हमारे सफल शिक्षक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

प्रभावशाली व्यक्तित्व की सामान्य विशेषताएँ :—

(१) अच्छा स्वास्थ्य एवम् शारीरिक स्फूर्ति; खेलकूद में स्वाभाविक रुचि ।
(२) उचित दार्शनिक एवम् सांस्कृतिक दृष्टिकोण; अपने कार्य की उच्चता में पूर्ण आस्था; आदर्शवादिता; सांस्कृतिक रुचि ।
(३) असाधारण बुद्धि ।
(४) दैनिक जीवन की सामान्य अनुकरणीय आदतें, उदाहरणार्थ, स्वच्छता, नियमपालन, समयपालन आदि ।
(५) पवित्र नैतिक आचरण—सच्चाई, ईमानदारी, निष्पक्षता, विनय आदि ।
(६) सामाजिकता—मित्रता, परोपकार, प्रत्युत्पन्नमति, अध्यवसाय आदि ।
(७) भावनात्मक संतुलन—चिड़चिड़ापन नहीं, प्रसन्नमुद्रा आदि ।

शिक्षण-विषयक विशिष्ट गुण :—

(१) विविध बातों का सामान्य ज्ञान तथा शिक्षण-विषय का उच्च ज्ञान ।
(२) ज्ञान प्रदान करने की क्षमता—विषय का प्रतिपादन एवम् व्याख्या, विवेचन तथा उपस्थापन का प्रभावशाली ढंग ।
(३) बालकों में रुचि तथा स्नेह—सहानुभूति, दया, बालकों को समझने और उनका विश्वास प्राप्त करने की क्षमता ।
(४) नेतृत्व की क्षमता—बौद्धिक नेतृत्व वहन करने की योग्यता, साहस, उत्साह, अनुशासन रखने की सामर्थ्य ।
(५) भाषा द्वारा स्पष्टीकरण की क्षमता ।

उपर्युक्त गुणावली में केवल प्रधान गुण-समूह का वर्गीकरण करके उनकी ओर इङ्गित मात्र किया गया है। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक गुणों को सम्मिलित किया जा सकता है। अध्यापक के इन गुणों का प्रस्फुटन बालकों से सम्बन्ध स्थापित करने की क्रिया में होता है। वास्तव में अध्यापक के व्यक्तित्व का मापदण्ड यही है कि वह दूसरों पर कैसा प्रभाव डालता है। अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व, आदर्श गुणों तथा सौम्य स्वभाव द्वारा शिक्षक जिन अंशों में बालकों को प्रभावित करने में समर्थ होता है उन्हीं अंशों तक उसकी सफलता स्वीकृत की जा सकती है। अतएव, आदर्श गुणों की स्थापना के साथ ही साथ उसे अध्यापन-प्रविधि में भी दक्ष होना चाहिए जिससे कि वह अपने शिक्षण-कार्य में सफल हो सके। इसी उद्देश्य को लेकर अध्यापकों के प्रशिक्षण महाविद्यालय प्रयत्नशील होते हैं। उनमें उपयुक्त विद्यार्थियों का

प्रवरण कर उन्हें अपने कार्यक्रम द्वारा शिक्षण-कार्य में दीक्षित किया जाता है और एक अच्छा अध्यापक बनने की दिशा में प्रवृत्त कराया जाता है।

प्रशिक्षण महाविद्यालयों में छात्र-अध्यापकों को भर्ती करने के लिए वैज्ञानिक ढंग प्रयुक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षण-कार्य में उन्हीं व्यक्तियों को प्रवृत्त होना चाहिए जिनका व्यक्तित्त्व एवम् रुचि इस दिशा में उन्मुख हो। इसके लिए ऊपर दिए गए सफल अध्यापक के अपेक्षित गुणों का आधार लेना चाहिए और नवीन वैज्ञानिक परीक्षा-प्रणालियों का प्रयोग कर प्रत्येक प्रार्थी की पूरी जाँच होनी चाहिए। हमारे देश में तो जो लोग अन्य सब दिशाओं अथवा क्षेत्रों में असफल होते हैं वही अध्यापन-कार्य में लगते हैं। यह स्थिति दोषपूर्ण ही नहीं अपितु हानिकारक भी है। अतएव, प्रत्येक प्रार्थी की इस बात की पूरी जाँच कर ली जाए कि वह सफल अध्यापक बनने की क्षमता भी रखता है अथवा नहीं, और तभी उसे प्रशिक्षण विद्यालयों में भर्ती किया जाए। ऐसा करने पर प्रत्येक भारतीय शिक्षक न केवल अपने व्यक्तित्त्व में आदर्श गुणों की संयोजना करेगा अपितु अपने अध्यापन-कार्य में भी दक्ष होगा।

पाठशाला में शिक्षक का कार्यक्षेत्र केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं होता। पाठ्य-विषयान्तर-क्रियाओं में बालकों का नेतृत्त्व, खेल-कूद में उनसे सहयोग और सुख-दुःख में बालकों का मित्र बनना भी उसके लिए आवश्यक है। चारटर्स तथा वैपल्स ने अपने प्रयोग द्वारा यह परिणाम निकाला है कि अध्यापक के कुल १०१० कार्यों में से केवल १२२ कार्य कक्षा के भीतर शिक्षण से सम्बन्ध रखते हैं। शेष कक्षा के बाहर किए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अध्यापक का प्रधान कार्यक्षेत्र कक्षा के भीतर न रहकर उसके बाहर रहता है। हमारे शिक्षकों को इस सत्यता की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

हम यह पहले कह आए हैं कि पाठशाला को घर, समाज आदि शिक्षा-संस्थाओं से सम्पर्क रखना चाहिए। इस सम्पर्क-स्थापन में अध्यापक ही संलग्न होता है। अध्यापक अपने को समाज से पृथक नहीं रख सकता। जहाँ वह पाठशाला में बालकों को शिक्षित करता है वहाँ समाज का भी नेतृत्त्व एवम् पथ-प्रदर्शन करता है। इस प्रकार उसका आध्यात्मिक और नैतिक प्रभाव विशेष रूप से स्पष्ट हो उठता है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में भी अध्यापक को जागरूक रहने की आवश्यकता है। प्राचीन समय में तो शिक्षक का सम्पूर्ण जीवन एक खुली पुस्तक के समान था; उसे संसार से कुछ छिपाना नहीं था। यही कारण है कि हम अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के अनेक दोषों तथा चारित्रिक कमज़ोरियों का स्पष्ट उल्लेख तत्कालीन संस्कृत-साहित्य में पाते हैं। परन्तु, धीरे-धीरे शिक्षक तथा बालकों में दूरी बढ़ने लगी

और परिणाम-स्वरूप शिक्षक अपने व्यक्तिगत जीवन में अधिकाधिक स्वतंत्र होने लगे, यहाँ तक कि आज कुछ लोगों का कथन है कि यदि अध्यापक अपना कक्षा-कार्य सुचारु रूप से करता है तो इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन में कैसा मनुष्य है। यह धारणा दोषयुक्त है। अध्यापक तथा उसका कार्य अन्य व्यक्तियों एवम् उनके कार्यों से भिन्न होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन ही शिक्षाप्रद होता है। तभी तो सदाचरण तथा सच्चरित्रता उसके आवश्यक गुण माने गए हैं। वह अपने घर में रहकर प्रतिदिन के छोटे-मोटे कार्य करते हुए भी उसी प्रकार दूसरों को शिक्षा प्रदान करता है जिस प्रकार कि पाठशाला की कक्षा में शिक्षण करके। पाठशाला में सच्चरित्रता का आदेश दे कर व्यक्तिगत जीवन में स्वयं उन आदेशों का पालन न करने वाला अध्यापक समाज और बालकों के लिए अत्यंत हानिकारक सिद्ध होता है। अतएव, अध्यापक का कार्य उसके जीवन के प्रतिक्षण, सोते-जागते, चलता रहता है, और उसे एक पल के लिए भी असावधान नहीं होना चाहिए।

अध्यापक केवल बालकों के ही सम्पर्क में नहीं आता अपितु अन्य अध्यापकों से भी सहकार्यता का सम्बंध स्थापित करता है। एक ही उद्देश्य में प्रयत्नशील पाठ-शाला के सब अध्यापक सहयोगी और सहकारी के समान हैं। अतएव उनमें आपसी सहयोगिता और सहकारिता की भावना होना आवश्यक है। इसके लिए उन सब में अपने कार्य में विश्वास तथा बालकों के प्रति सहज स्नेह एवम् श्रद्धा होनी चाहिए। जीवन की असीम कठिनाइयों के कारण आज की पाठशालाओं में एक अध्यापक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी एवम् विरोधी बन जाता है। उनका आपसी व्यवहार भी वैसा स्नेह तथा सौहार्द्रपूर्ण नहीं होता जैसा कि होना चाहिए। अध्यापकगण इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि उनके चारों ओर बालक-वृन्द उनके आपसी व्यवहार, बातचीत तथा क्रियाकलाप का बड़ी तत्परता से निरीक्षण कर रहे हैं और उनसे अपने जीवन की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि पाठशाला के दो अध्यापकों के बीच स्नेह अथवा विद्वेष को विद्यार्थी शीघ्रता से भाँप जाते है और उसी के आधार पर अपना व्यवहार परिचालित करते हैं। अतएव, जहाँ अध्यापकों को बालकों से अपना सम्बंध स्नेहपूर्ण बनाना है वहाँ अपने सहयोगियों से भी भ्रातृभाव बरतना चाहिए। इस विषय में प्रधान-अध्यापक के व्यक्तित्व एवम् नेतृत्त्व का विशेष प्रभाव पड़ता है। वह अपने व्यवहार और कार्यप्रणाली से सब अध्यापकों को एक सुसंगठित टोली के रूप में संयोजित कर सकता है या फिर उन सबको एक दूसरे का शत्रु बना सकता है। अतएव, प्रधान-अध्यापक का उचित नेतृत्व पाकर सब अध्यापकों का अपने कार्य में जुट जाना संस्था तथा बालकों के हित में अत्यंत आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि अध्यापक के केवल कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य हैं, अधिकार कुछ भी नहीं। अपने महान् कार्य तथा दैवी शक्तियों के प्रयोग में अध्यापक तभी रुचिपूर्वक संलग्न हो सकता है जब कि समाज उसे उसके कार्य के अनुरूप आदर एवम् प्रतिष्ठा प्रदान करे। संसार के सभी देशों में आज शिक्षक अत्यंत हीन अवस्था में है, परन्तु भारत में तो उसे बहुत ही निम्न कोटि का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। उससे जितने महान् कार्यों के करने और उत्तरदायित्वों का भार उठाने की अपेक्षा की जाती है उनके अनुरूप न तो समाज में उसे गौरव ही प्राप्त है और न दैनिक जीवन की साधारण सुविधाएँ। सम्पूर्ण समाज एवम् राष्ट्र का निर्माणकर्ता जीवन के निम्नतम स्तर पर पड़ा हुआ है। ऐसी दशा में हम शिक्षक से उन गुणों एवम् कार्यों की कहाँ तक आशा कर सकते हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है? अतएव, शिक्षक को अन्य उत्तरदायी व्यक्तियों के समान और उसके कार्य-विशेष के अनुरूप निम्नलिखित सुविधाएँ मिलना अत्यंत आवश्यक है :—

(१) उचित पारिश्रमिक।
(२) नौकरी का स्थायित्व।
(३) बीमारी आदि में अवकाश; पेंशन, प्राविडेन्ट फ़न्ड आदि की सुविधाएँ।
(४) पाठशाला-प्रबन्ध में अधिकाधिक सहयोग।
(५) अपने कार्य-विशेष में आगे उच्च योग्यता-प्राप्ति तथा शिक्षा-प्राप्ति का अवसर एवम् सुविधाएँ।
(६) प्रतिदिन के शिक्षण-कार्य में दूसरों के द्वारा अनपेक्षित हस्तक्षेप के स्थान पर बुद्धिमत्तापूर्ण तथा रचनात्मक निर्देशन।
(७) समाज में प्रतिष्ठा।

इन सब विषयों में अपने अध्यापकों को संतुष्ट रखना प्रत्येक पाठशाला के प्रधानाध्यापक तथा संचालकों का कर्त्तव्य है। उन्हें समाज तथा राज्य द्वारा समुचित सहयोग और सहायता मिलनी चाहिए। समाज तथा राज्य से सहानुभूति एवम् आदर-मान पाकर ही भारतीय शिक्षक राष्ट्र निर्माण के पुनीत कार्य में तन मन से जुट सकता है। श्रीमाली के कथनानुसार—"भारतीय शिक्षक की आत्मा अभी जीवित है। वह देश की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित करने को उत्सुक है। परन्तु यह तभी संभव है जब कि समाज उसकी साधारण जीविका सुरक्षित करे और उसके कार्य के प्रति तिरस्कार की भावना का सर्वथा परित्याग कर दे।"
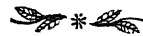
अध्याय २३

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम शिक्षण-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसके अन्तर्गत वह समस्त ज्ञान सम्मिलित कर लिया जाता है जो बालकों को प्रदान करना आवश्यक होता है। वास्तव में उस ज्ञान के माध्यम द्वारा ही अध्यापक और बालक में शैक्षिक सम्बन्ध स्थापित होता है। अध्यापक बालक का हाथ पकड़ कर ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर ले चलता है। 'पाठ्यक्रम एक मार्ग के सदृश्य है जिसका हम किसी विशेष लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अनुसरण करते हैं। यह अध्ययन का एक क्रम है। शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अध्यापक तथा विद्यार्थी इस मार्ग का अवलम्बन ग्रहण करते हैं। अध्ययन-विषयों अथवा क्रियाओं की प्रकृति चाहे कुछ भी हो पाठ्यक्रम अध्यापक-रूपी कलाकार के हाथ में एक उपकरण है जिसके द्वारा वह अपनी सामग्री (विद्यार्थी) को अपने आदर्श (उद्देश्य) के अनुकूल अपने कलागृह (पाठशाला) में रूप प्रदान करता है। अध्यापक की सामग्री मिट्टी का निर्जीव ढेर नहीं है। उसके विद्यार्थी स्फूर्ति से भरे हुए अत्यन्त क्रियाशील तथा स्वयं सोचने-विचारने की शक्ति रखने वाले मानव होते हैं; उनकी प्रत्येक क्रिया सचेतन होती है।'

पाठ्यक्रम का निर्धारण जीवन की नियमितता पर आधारित है। शक्ति तथा समय का अपव्यय बचाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को नियमपूर्वक संयोजित करने का प्रयत्न करता है। इसी कारण समस्त विस्तृत ज्ञान को उचित ढंग से नियोजित करने के निमित्त पाठशाला में पाठ्यक्रम की आयोजना की जाती है। उसकी सहायता से अध्यापक प्रधान तथा गौण विषयों में भेद करके उन पर आवश्यकतानुसार बल दे सकता है। विभिन्न पाठशालाओं में काम करने वाले अध्यापकों के कार्य को समता तथा एकरूपता देने में भी पाठ्यक्रम सहायक सिद्ध होता है।

विद्यार्थी के लिए पाठ्यक्रम की उपयोगिता असन्दिग्ध है। उसके द्वारा वह निश्चित रूप से यह जान सकता है कि नियत अवधि के भीतर उसे क्या कार्य करने

हैं, किन अनुभवों को प्राप्त करना है तथा किन विषयों में किस सीमा तक सिद्धहस्त होना है। यह मार्ग-निदर्शन उसे अपने पथ से विचलित होने तथा इधर-उधर भटकने से बचाता है। पाठ्यक्रम के अभाव में विद्यार्थी अंधकार में पड़े हुए निःसहाय व्यक्ति के समान भटकता रहता है।

पाठ्यक्रम द्वारा परीक्षक को भी अपने कार्य में सहायता मिलती है। उसके आधार पर वह इस बात का अनुमान लगाता है कि बालकों का निष्पत्ति-स्तर क्या है, उन्होंने किस प्रकार के अनुभव प्राप्त किए हैं तथा किन विषयों में ज्ञानार्जन किया है। और, इसी आधार पर वह परीक्षा-पत्र बनाता है। पूर्वनिर्धारित पाठ्यक्रम के अभाव में उसका कार्य अत्यन्त दुःसाध्य हो जाता है। परीक्षक के अतिरिक्त परीक्षार्थी भी यह जान कर निश्चिन्त हो जाते हैं कि केवल उनके पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों में ही परीक्षण होगा और वे उसी की तैयारी करते हैं। अध्यापक भी उसी के आधार पर विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए तैयार करते हैं। पाठ्य-पुस्तकों के लेखक अथवा संकलनकर्ता निर्धारित पाठ्यक्रम से जो सहायता तथा मार्गदर्शन पाते हैं उसका महत्व उनके लिए कम नहीं। अतः पाठ्यक्रम-निर्धारण से शिक्षा-कार्य में संलग्न सभी व्यक्तियों को सहायता एवम् पथ-प्रदर्शन मिलता है।

पाठ्यक्रम के अन्तर्गत जो विषय सम्मिलित किए जाते हैं वे बालक को परम्परा से संचित ज्ञान से अवगत कराने का प्रयत्न करते हैं। पाठ्य-विषयों द्वारा अपनी जातीय सम्पत्ति का अधिकारी बनकर बालक उसका उपयोग करना सीखता है। युग-युग से मानव ने जो ज्ञान संचित किया है, पीढ़ी दर पीढ़ी उसके जो क्रियाकलाप होते रहे हैं तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उसने जो विविध प्रयत्न किए हैं उन सबका कोश पाठ्य-विषयों के रूप में संग्रहीत होता है। इन सबका ज्ञान प्राप्त करके बालक न केवल उन्हें अपने उत्तराधिकारियों को सुरक्षित सौंप देने का प्रयत्न करता है बल्कि अपनी मौलिक क्रियात्मकता द्वारा उसकी अभिवृद्धि में भी भरसक योगदान करता है। पाठ्यक्रम द्वारा बालक का सामाजीकरण इन्हीं तथ्यों पर आधारित है।

शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होने के कारण पाठ्यक्रम का रूप उन्हीं पर निर्भर करता है। जिस प्रकार गंतव्य स्थान के परिवर्तित हो जाने पर वहाँ तक पहुँचने का मार्ग भी बदल जाता है उसी प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों में थोड़ा भी परिवर्तन पाठ्यक्रम की रूपरेखा तथा उसके अन्तर्गत विषयों का स्थान बदल देता है। शिक्षा के उद्देश्यों के निरूपण में जिन दार्शनिक विचारधाराओं ने विशेष प्रभाव डाला है उनका दिग्दर्शन हम पहले कर आए हैं। प्रत्येक विचारधारा के अनुसार शिक्षा के

उद्देश्य भिन्न होते हैं और इसीलिए पाठ्यक्रम के विषय में उनका दृष्टिकोण भी भिन्न होता है। यहाँ इन दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार पाठ्यक्रम-निर्धारण के सिद्धान्तों पर विचार कर लेना उचित होगा।

प्रकृतिवाद के अनुसार बालक की नैसर्गिक रुचि एवम् स्वाभाविक क्रियाओं के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्धारण होना चाहिए। प्रकृति के अध्ययन, अवस्था-नुसार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति, जीविकार्जन की क्षमता तथा स्वस्थ शरीर बालक की मुख्य आवश्यकताएँ हैं और पाठ्यक्रम में विषयों का प्रवरण इसी आधार पर होना चाहिए। बालक को स्वतंत्रतापूर्वक अपनी अभिरुचियों को विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। उसे अनावश्यक, अनिच्छित ज्ञान प्रदान करना अनुचित है। प्रकृतिवाद के अनुसार किसी भी ज्ञान का महत्व केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए नहीं, और पाठ्यक्रम में केवल ज्ञान के लिए ज्ञान का सिद्धान्त अमान्य है। एक प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम में स्वास्थ्यरक्षा, खेल-कूद, प्रकृति-निरीक्षण, भूगोल, इतिहास आदि विषयों की प्रमुखता रहती है।

आदर्शवादी 'निश्चित चिरन्तन आदर्शों को सम्मुख रखकर पाठ्यक्रम की समस्या पर प्रकाश डालते हैं। उनके लिए बालक तथा उसकी क्रियाओं का विशेष महत्व नहीं; उनके विचार से पाठ्यक्रम में समस्त मानव-जाति के अनुभवों का प्रति-बिम्ब होना चाहिए, उसमें सभ्यता की झलक होनी चाहिए तथा मानव जाति के संचित अनुभवों की झाँकी मिलनी चाहिए। मनुष्य अपने भौतिक वातावरण तथा अपने साथियों से अनुभव ग्रहण करता है, इसलिए हमारे पाठ्यक्रम में विज्ञान सम्बन्धी तथा मानवीय विषयों का समावेश होना चाहिए। इसके अन्तर्गत स्वास्थ्यरक्षा, नीति-शास्त्र, धर्म, साहित्य, ललित कलाएँ यथा संगीत व चित्रकारी, इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा गणित के विषय आते हैं।'

यथार्थवाद के अनुसार शिक्षालय में वास्तविक जीवन का अध्ययन अपेक्षित है। इसके अनुसार पाठ्यक्रम में अध्ययन के विषय वही हो सकते हैं जो जीवन की यथार्थता एवम् सत्यता पर आधारित हों। यथार्थवादी पाठ्यक्रम में भावनात्मक तथा अमूर्त विषयों को स्थान नहीं देते। जीवन की वास्तविकता के आधार पर वे दैनिक कृत्य, व्यवसाय, तथा ऐसे विषयों को पाठ्यक्रम में रखना उचित समझते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने भावी जीवन के वास्तविक कार्यक्षेत्र में लाभ उठा सकें।

प्रयोजनवादियों का विचार है कि पाठ्यक्रम में विषयों के स्थान पर अनुभव की योजना होनी चाहिए। कोई पाठ्य-विषय स्वयम् अपने में अध्ययन-सामग्री नहीं बन सकता। उसके स्थान पर क्रिया, व्यापार अथवा अनुभव अधिक उपयुक्त हैं।

पाठ्यक्रम में इन क्रियाओं को नियोजित करने का आधार उनकी उपयोगिता ही है। 'पाठ्यक्रम में ज्ञान प्रदान करने वाले तथा भावी जीवन में काम आने वाले अनुभवों से पूर्ण और भावी जीवन के सफल यापन के हेतु दक्ष बनाने वाले विषयों का नियोजन करना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भाषा, स्वास्थ्य-विज्ञान, शारीरिक प्रशिक्षण, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि विषयों की व्यवस्था करना उपयुक्त होगा।' इसके साथ ही प्रयोजनवादी बालकों की प्राकृतिक अभिरुचियों को मुख्यता प्रदान करने पर भी बल देते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से पाठ्यक्रम के विषय में जहाँ कुछ मत-भिन्नता दीख पड़ती है वहाँ बहुत-कुछ साम्य भी परिलक्षित होता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति अपने अनुभव द्वारा शिक्षा ग्रहण करता है। पाठ्यक्रम में सीमित, अव्यावहारिक तथा अस्पष्ट विषयों की संयोजना करने से वास्तविक जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। जीवन में अपने पूर्वानुभवों के आधार पर ही हम क्रियाशील होते हैं और पिछले अनुभवों के परिणाम तथा प्रभाव आगे के लिए हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं तथा अनुभवों का समावेश करना उपयुक्त है जिनसे बालक जीवन के विविध अनुभव प्राप्त करे, जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें तथा जिनसे उसका समुचित विकास हो। बोर्ड आव् एडूकेशन के अनुसार, "केवल ज्ञान तथा तथ्यों का मस्तिष्क में संग्रह कर लेना मात्र ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं है।" अतएव, पाठ्यक्रम में क्रियाशीलता तथा अनुभव का सिद्धान्त मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

पाठ्यक्रम निर्धारण के सिद्धान्त

इस प्रकार बालक के लिए पाठ्यविषयों की उपयोगिता पाठ्यक्रम के निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। पाठ्यक्रम में नियोजित विषय एवम् क्रियाएँ बालक के लिए उपयोगी होना आवश्यक हैं। इस विषय में प्रकृतिवादी, यथार्थवादी तथा प्रयोजनवादी एकमत हैं। आदर्शवादी भी कम से कम कुछ विषयों को तो अवश्य ही उनकी उपयोगिता के कारण महत्व देते हैं। अतएव, प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम में उन विषयों की व्यवस्था करना आवश्यक है जो बालक को आगामी जीवन के लिए तैयार करने में उपयोगी सिद्ध हों। पाठ्यक्रम को इतना नम्य भी होना है कि उसके द्वारा भिन्न अभिरुचि तथा योग्यता के सभी बालकों की आवश्यकता पूर्ति संभव हो।

समय के अनुसार बालक की आवश्यकताएँ दो प्रकार की हो सकती हैं। एक तो वे जिनका अनुभव वह निकट भविष्य में करेगा, यह उसकी तत्कालीन आवश्य-

कताएँ हैं। दूसरी आवश्यकताएँ वे हैं जिनका अनुभव वह आगे चलकर दूर भविष्य में करेगा। इन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त पाठ्यक्रम में विषयों की संयोजना होनी चाहिए। कुछ शिक्षा-शास्त्री उन विषयों को प्राथमिकता देने का समर्थन करते हैं जो बालक की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यह विचार भी कुछ सीमा तक मान्य हो सकता है। बालक की व्यक्तिगत आवश्यकताएँ बहुत-कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर होती हैं। अतएव, उन्हें जानने के लिए बाल-अध्ययन की आवश्यकता है। आज सभी शिक्षाशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि पाठ्यक्रम का मनोवैज्ञानिक आधार होना अत्यावश्यक है। तभी बालक के मानसिक, भावनात्मक आदि विकास में उसका उपयोग संभव है। भिन्न अवस्थाओं में बालक की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं। इसीलिए शिक्षालय के पाठ्यक्रम में क्रियाओं का नियोजन बालक की आयु के अनुसार भिन्न स्तरों में बँटा होना चाहिए। पाठ्यक्रम की इन सीढ़ियों पर चढ़ते हुए बालक अवस्थानुसार अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होंगे।

भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन है। इसमें बालक सात से चौदह वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करते हैं। यह शिक्षा सब बालकों के लिए अनिवार्य भी है। अतएव, इसके पाठ्यक्रम में उन सभी विषयों का नियोजन किया गया है जो इस अवस्था के बालकों की वर्तमान एवम् भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। उदाहरणार्थ उसमें स्वास्थ्यरक्षा, मातृभाषा, समाजशास्त्र, गणित, कला आदि का नियोजन इसी दृष्टि से किया गया है। बालक की भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से उसे थोड़ी-बहुत हस्तकला एवम् व्यावसायिक कौशल भी सिखाया जाता है जिससे बालक प्रारम्भ से ही आत्मनिर्भर होने के अतिरिक्त भविष्य में अपने जीविकार्जन में भी समर्थ हो सके। माध्यमिक स्तर पर पहुँच कर बालक की आवश्यकताएँ अधिक विस्तृत होने लगती हैं। अतएव, पाठ्यक्रम में प्राथमिक शिक्षा के विषयों के अधिक विस्तृत एवम् उच्च ज्ञान के साथ ही अंग्रेज़ी, देशी भाषाएँ, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों का नियोजन किया जाता है। उच्च विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों के स्तर पर विद्यार्थियों को अधिक विषयों में सामान्य ज्ञान प्रदान न करके अपनी रुचि के अनुसार कुछ सीमित विषयों में ही पाठ्यक्रम द्वारा दक्षता-प्राप्ति का अवसर दिया जाता है। इसी स्तर पर विद्यार्थी विशिष्ट व्यापार अथवा व्यवसाय में प्रशिक्षण प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

बालक की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति ही पाठ्यक्रम का उद्देश्य नहीं। आदर्शवादियों के अनुसार पाठ्यक्रम में मानव-जाति के समस्त शिक्षाप्रद अनुभवों का संग्रह होता है और शिक्षण द्वारा बालक को उन अनुभवों से निष्कर्ष निकालने का

प्रयत्न कराया जाता है। नन के कथनानुसार शिक्षालय का कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ बनाये, उसके ऐतिहासिक क्रम को भंग न होने दे, उसकी पूर्वागत निष्पत्तियों की सुरक्षा करे और उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करे। शिक्षालय का यह कृत्य पाठ्यक्रम द्वारा ही संभव हो सकता है। अतएव, पाठ्यक्रम में मानव-सभ्यता की झलक मिलना आवश्यक है। मानव समाज का वर्तमान रूप हमारी समस्त पूर्वागत निष्पत्तियों का परिणाम है। इस समाज का सदस्य होने के नाते बालक को उसके विकास में अपना योगदान करने के अतिरिक्त अपने पूर्वजों के इस दिशा में किए गए सद् प्रयत्नों से अवगत होना भी आवश्यक है। इस दृष्टि से बालक को अपने समाज के प्राचीन इतिहास, संस्कृति, साहित्य आदि का अध्ययन करना उतना ही आवश्यक है जितना कि वर्तमान समाज तथा उसकी आवश्यकताओं से परिचित होना।

बालक का समाज उससे अनेक बातों की अपेक्षा करता है। सम्पूर्ण समाज के हितार्थ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी तथा समाज की आवश्यकताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब कि बालक उन बातों का ज्ञान एवम् अनुभव प्राप्त करे जिनसे समाज को लाभ होता है। अतएव, 'समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए पाठ्यक्रम के विषयों तथा उसके अन्तर्गत क्रियाओं का निर्वाचन करना चाहिए। यह पाठ्यक्रम परिवर्तनशील होना चाहिए जिससे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल पाठ्यक्रम में भी समय-समय पर परिवर्तन करना सरल हो। इस पाठ्यक्रम पर समाज की संस्कृति, उसके रीति-रिवाजों तथा वातावरण का प्रतिबिम्ब होना चाहिए।' बालक अपने जीवन के प्रारम्भ से प्रौढ़ावस्था तक विभिन्न सामाजिक इकाइयों में जीवन-यापन करता है। अतः वह जिस सामाजिक इकाई का सदस्य हो उसकी आवश्यकताओं का अध्ययन करके उनके आधार पर अपने पाठ्यविषयों का प्रवरण करे। पाठ्यक्रम-निर्धारण का यह सिद्धान्त समाज की दशा के समुचित अध्ययन पर निर्भर करता है। यदि बालक ग्राम्य समाज का सदस्य है तो उसकी आवश्यकताएँ नगर के बालकों की आवश्यकताओं से भिन्न होंगी। उसे सम्भवतः खेती-बारी, छोटी-मोटी हस्तकला, पशुपालन आदि की शिक्षा आवश्यक होगी, जब कि नगर के बालक के लिए व्यवसाय, व्यापार अथवा यंत्रालयों में काम करने की कुशलता आवश्यक हो सकती है। वयस्क होने पर व्यक्ति को राष्ट्रीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक होता है। अतएव, उसके लिए उच्च विद्यालयों के पाठ्यक्रम में सैनिक प्रशिक्षण, नागरिकशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि विषयों का समावेश किया जाता है।

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि बालक केवल वर्तमान समाज का ही सदस्य नहीं होता। वह अपनी पुरातन सामाजिक परम्पराओं का अभिन्न अंग होने के साथ ही साथ भविष्य में आने वाले समाज का भी सदस्य बनता है। इसी आधार पर आज के बालक को कल का नागरिक कहा जाता है। अतएव, पाठ्यक्रम में भविष्य की सामाजिक परिस्थितियों की थोड़ी-बहुत कल्पना एवम् पूर्वाभास करके उनके उपयुक्त विषयों को पाठ्यक्रम में अवश्य स्थान देना चाहिए। इस श्रेणी में स्वास्थ्य-प्रशिक्षण, नागरिकशास्त्र, विज्ञान, कला आदि की शिक्षा आती है

पाठ्यविषयों के प्रकरण में सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति को महत्त्व देने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि बालक पूर्णतया समाज का दास बन जाए और अपने को सदैव सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाता रहे। मनुष्य अपने समाज के अनुरूप बनने के साथ ही उसे अपने आदर्शों के अनुसार परिवर्तित करने का भी प्रयत्न करता है। यही उसकी विशेषता है। अतएव, बालक का सामाजीकरण होने के साथ-साथ उसमें उन व्यक्तिगत गुणों का प्रस्फुटन भी आवश्यक है जो सामाजिक दोषों का परिहार एवम् उसकी न्यूनताओं की पूर्ति में सहायक हों।

व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे विषयों को भी स्थान देना आवश्यक है जिनका महत्त्व उनके अन्तर्निहित सौंदर्य तथा आनन्ददायी होने में है। ऐसे विषय व्यक्ति के उन्नयन तथा आध्यात्मिक अनुभूति के साधन तो होते ही हैं, उनके द्वारा समाज का भी सांस्कृतिक उन्नयन होता है। इस श्रेणी में हम ललित कलाओं, काव्य आदि को रख सकते हैं। ये विषय व्यक्ति एवम् समाज की भावनात्मक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते है परन्तु उनका विशेष महत्त्व आनन्ददायी होने में है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर पाठ्यक्रम में विभिन्न विषयों की संयोजना कर लेना ही यथेष्ट नहीं। किस अवस्था में तथा किस शिक्षा-स्तर पर पाठ्यक्रम में किन विषयों को न्यूनाधिक महत्त्व दिया जाए? यह निश्चय करना भी अत्यावश्यक है। प्रो॰ व्हाइटहेड ने इस विषय पर अपने विचार प्रगट किए हैं कि पाठ्यविषयों पर भिन्न कक्षाओं में अपेक्षाकृत कितना बल देना चाहिए। उनके अनुसार सर्वप्रथम "अपने वातावरण में बालक को एक प्रकार का कौतूहल सा होता है और उसी कौतूहलपूर्ण वातावरण में बालक सब-कुछ सीख जाता है। द्वितीय अवस्था में बच्चे को यथार्थता का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इस अवस्था में उसे अपने ज्ञान को विस्तृत करना चाहिए, तथ्यों को ग्रहण करके यथार्थता पहिचानने की दक्षता भी उसमें आनी चाहिए। किशोरावस्था सामान्यीकरण की अवस्था है। इसमें विद्यार्थी विस्तृत दृष्टि-

कोण तथा गूढ़ सिद्धान्तों को समझने का प्रयास करते हैं।" यह सुझाव वैज्ञानिक है तथा बालक के मानसिक विकास पर आधारित है।

पाठ्यविषयों का वर्गीकरण

पाठ्यक्रम के विषयों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। साधारणतया पाठ्यक्रम के विषय विज्ञान और कला के दो मुख्य वर्गों में बाँट दिए जाते हैं। वैज्ञानिक विषय निश्चित नियमों, तथ्यों तथा अन्वेषण-प्रणाली पर आधारित होते हैं और कलात्मक विषय विचार, दर्शन तथा अनुभूति पर। पाठ्यविषयों का यह वर्गीकरण सामान्य रूप से सभी शिक्षा-संस्थाओं में माना जाता है और यथेष्ट पुराना भी है। परन्तु जैसे-जैसे पाठ्यविषयों का विकास होता जाता है और विज्ञान तथा कला की सीमाएँ संकुचित होती जाती हैं, वैसे-वैसे कुछ विषयों का वर्गीकरण इन दोनों से अलग भी होने लगा है, उदाहरणार्थ, कृषि, व्यवसाय आदि। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि आगे चलकर जब भिन्न विषयों का ज्ञान अधिक विस्तृत तथा उन्नत होगा तो उन्हें भी अलग वर्गों में रखना पड़ेगा। भारतीय विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान का विषय अभी तक दर्शन के अन्तर्गत था किन्तु अब उसे पृथक विषय के रूप में माना जा रहा है। कुछ विश्वविद्यालयों में तो शिक्षा की 'फ़ैकल्टी' अलग है। यह भी संभावना है कि कुछ विषय उन्नत तथा विकसित होकर एक वर्ग से दूसरे में अपना स्थानान्तरण भी कर लें। उदाहरणार्थ, राजनीति, भूगोल आदि को अब वैज्ञानिक विषय माना जाने लगा है और उन्हें कलात्मक विषयों के साथ न रखकर वैज्ञानिक विषयों की श्रेणी में रखा जाता है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार पाठ्यविषयों को सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक नामक दो वर्गों में बाँटा जाता है। व्यावहारिक विषय जीवन में व्यावहारिक रूप से काम आने के साथ ही अन्वेषण की व्यावहारिक प्रणाली पर आधारित होते हैं, उदाहरणार्थ, विज्ञान, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि। दूसरे वर्ग के विषय सैद्धान्तिक महत्त्व अधिक रखते हैं, जैसे दर्शन, इतिहास, धर्म आदि। कुछ सैद्धान्तिक मानव-मस्तिष्क में विचार अथवा अभिव्यंजना शक्ति की उद्भावना के आधार पर पाठ्यविषयों को दो वर्गों में बाँटते हैं। एक वे जो बालक की विचारशक्ति को विकसित करते हैं जैसे गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि। और, दूसरे वे विषय जो उसकी अभिव्यंजना-शक्ति के विकासार्थ उपयोगी हैं जैसे ललित कलाएँ, साहित्य, कविता आदि। सर्वसाधारण इस वर्गीकरण को बौद्धिक और भावनात्मक विषयों के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं। कुछ लोग पाठ्यविषयों की दैनिक उपयोगिता तथा सांस्कृतिक महत्त्व के आधार पर उपयोगी और सांस्कृतिक नाम के दो भेद कर देते हैं।

भारतीय शिक्षालयों में प्रायः पाठ्यक्रम का परम्परागत वर्गीकरण ही प्रचलित है। पाठ्यविषयों को वैज्ञानिक तथा कलात्मक विषयों में बाँटने की परिपाटी पाठशालाओं में प्रायः सभी जगह पाई जाती है। माध्यमिक तथा उच्च कक्षाओं में उद्योग-धंधों, ललित कलाओं, कृषि आदि को भिन्न वर्गों में रखा जाता है। विश्वविद्यालयों में यद्यपि प्रत्येक पाठ्यविषय का विभाग ही अलग होता है तथापि उन विभागों को कला, विज्ञान, व्यवसाय, क़ानून आदि के समूहों में बाँट दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम का जो वर्गीकरण प्रचलित है उसके अनुसार माध्यमिक शिक्षा छः पृथक वर्गों में विभाजित हो गई है यथा, कलात्मक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक, प्राविधिक एवम् वाणिज्यशास्त्री। इसे बहुमुखी शिक्षा-प्रणाली भी कहा जाता है क्योंकि बालक इन छः प्रकार के पाठ्यक्रमों में से किसी एक का अध्ययन करते हुए माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

पाठ्यक्रम में पाठ्यविषयों का वर्गीकरण चाहे जिस आधार पर किया जाए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि एक विषय वास्तव में दूसरे से नितांत पृथक नहीं होता। सम्पूर्ण ज्ञान एक इकाई है, उसे पाठ्यविषयों के परिदृढ़ तथा पृथक भागों में बाँटने का प्रयत्न करना अनुचित है। पाठशालाओं में प्रचलित समय-विभाग के प्रभाव के कारण प्रायः एक विषय दूसरे से पृथक करके पढ़ाया जाता है, परन्तु वास्तव में 'पाठ्यक्रमान्तर्गत विषयों को परस्पर सर्वथा पृथक-पृथक विषयों के रूप में नहीं अपितु सम्बद्ध क्रियाओं की श्रृङ्खला के रूप में होना चाहिए।' पाठ्यक्रम के विषयों का यह सहसम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है जब कि व्यावहारिक रूप में शिक्षण द्वारा उनके अन्तर्सम्बन्ध को सुरक्षित ही न रखा जाए अपितु प्रयत्न करके दर्शाया भी जाए। इसी आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए शिक्षण पद्धति में समवाय प्रणाली का प्रचलन हुआ है। इसके द्वारा एक विषय को पढ़ाते समय अध्यापक उसका सम्बन्ध दूसरे विषयों से भी स्पष्ट रूप में स्थापित करता चलता है। उदाहरणार्थ, इतिहास तथा भूगोल, भाषा तथा इतिहास, अथवा भूगोल एवम् विज्ञान आदि में बड़ी सरलता से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

प्रयोजनवादी शिक्षण-पद्धति में पाठ्यविषयों के समवाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमें योजना-प्रणाली का प्रयोग इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसके द्वारा एक ओर तो पाठ्यविषयों का व्यावहारिक उपयोग बालकों को स्पष्ट हो जाता है और दूसरी ओर समान योजना द्वारा विभिन्न विषयों का अन्तर्सम्बन्ध अपने आप स्थापित होता चलता है। उदाहरणार्थ, यदि डाकख़ाने की योजना लेकर पाठशाला में शिक्षणकार्य हो तो उसके द्वारा बालकों को भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि सभी

विषयों का ज्ञान व्यावाहारिक रूप में कराया जा सकता है। इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि पाठशाला का समय-विभाग अत्यंत नम्य हो जिससे योजना की आवश्यकतानुसार कोई भी विषय किसी भी समय पढ़ाया जा सके। बेसिक शिक्षा पद्धति में भी समवाय का प्रमुख स्थान है।

पाठ्यक्रम के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह स्वयम् अपने में परिदृढ़ न हो। पाठ्यक्रम व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं पर आधारित होता है और ये दोनों ही सतत परिवर्तनशील होते हैं। अतएव, पाठ्यक्रम भी सतत परिवर्तनशील होना चाहिए जिससे व्यक्ति तथा समाज के जीवन से उसका तादात्म्य बना रहे। किसी भी शिक्षा-व्यवस्था में सदैव के लिए एक ही पाठ्यक्रम नियत किए रहना उसे जीवन से सर्वथा पृथक कर देना होगा।

पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों एवम् ज्ञान को पाठ्य-पुस्तकों में नियोजित करके उसे बालकों के उपयुक्त बनाया जाता है। इसी आधार पर कुछ पाठ्यक्रमों में केवल पाठ्यपुस्तकों के नाम ही दिए रहते हैं और उन्हीं से पाठ्यक्रम के विस्तार का अनुमान लगा लिया जाता है। अमरीकी पाठशालाओं में प्रायः पाठ्यपुस्तकों के स्थान पर उन विचारों तथा व्यवहारों की सूची दी जाती है जिन्हें सीखना कक्षा-विशेष के बालकों के लिए आवश्यक समझा जाता है, और उनके सीखने के लिए उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों तथा क्रियाओं का प्रवरण विद्यार्थी एवम् अध्यापक स्वयम् कर लेते हैं। हमारे देश में तो पाठ्यपुस्तक को ही विषय का ज्ञान-कोष समझ कर पूर्णतया रट लिया जाता है और इस प्रकार साधन को ही साध्य मानकर सम्पूर्ण शिक्षण-प्रक्रिया उसके चारों ओर चक्कर काटती रहती है। इससे जो दूषित परिणाम हम सब को भुगतने पड़ते हैं वे सर्वविदित हैं।

अध्याय २४

विनय

शिक्षा में विनय की समस्या प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रही है और प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी शिक्षाविदों ने उसकी महत्ता पर विशेष बल दिया है। अनेक देशों में विद्यार्थियों में अविनय अथवा अनुशासनहीनता ने आज जो उग्र रूप धारण कर लिया है उससे सभी लोगों का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट हो गया है। हमारे देश में फैली हुई विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता ने जो अत्यन्त भयानक रूप प्रगट किया है उससे वह केवल शैक्षिक समस्या न रहकर एक राष्ट्रीय समस्या में परिणत हो गई है। देश के शासक, नेतागण, अध्यापक, पाठशालाओं के प्रबन्धकर्ता, विद्यार्थियों के अभिभावक आदि सभी को इस समस्या की उग्रता ने चिंतित कर रखा है। यह कहना भी आवश्यक है कि विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता हमारे देश में ही नहीं अपितु न्यूनाधिक मात्रा में अनेक देशों में परिलक्षित है, यद्यपि हमारे देश में वह अन्य देशों की अपेक्षा संभवतः अधिक उग्र है।

अनुशासनहीनता की समस्या का हल जिस ढङ्ग से सुझाया जा रहा है और राज्य एवम् पाठशालाएँ जिस प्रकार उसका सुधार करने का प्रयत्न कर रही हैं उससे यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि वे इस समस्या का मूल कारण एवम् मूल आधार समझने में पूर्णतया असमर्थ हैं। अपनी पूर्वनिश्चित धारणाओं के आधार पर पुरातन अमनोवैज्ञानिक प्रयत्नों द्वारा आज के बालकों में विनय की भावना जाग्रत करना सफलकार्य नहीं हो सकता। यह हम पाठशालाओं तथा शासकों के प्रयत्नों के परिणामों से स्पष्ट ही देखते हैं। निरन्तर प्रयत्न करने पर भी बालकों की अनुशासनहीनता बढ़ती ही जा रही है। परिवार, पाठशाला तथा समाज—सभी में यह स्थिति दिखाई पड़ती है। अतएव, सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता है कि हम अनुशासन के विषय में मूल तथ्यों तथा कारणों को समझ कर उसके लिए मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से प्रयत्न करें।

शिक्षा में विनय का महत्त्व असंदिग्ध है। उसका यह महत्व प्रायः दो रूपों में स्वीकृत किया जाता है। एक तो विनय को साधन के रूप में और दूसरे साध्य के रूप में माना जाता है। साधन के रूप में विनय द्वारा शिक्षा-प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् शिक्षा-प्राप्ति के लिए बालक को विनयी होना चाहिए। यदि बालक में विनय अथवा आत्मानुशासन की भावना है तो वह शिक्षा-प्राप्ति के पथ पर बड़ी सरलता से अग्रसर हो सकेगा। इस प्रकार पाठशाला में बालक से व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूपों में विनय की अपेक्षा की जाती है जिससे उसकी शिक्षा सुचारु रूप से हो। परन्तु, विनय को प्रायः साध्य के रूप में भी स्वीकृत किया जाता है, और लोगों का विचार है कि शिक्षा द्वारा बालक को विनयी बनना चाहिए। इस दृष्टिकोण से बालक में विनय तथा आत्मानुशासन की भावना जाग्रत करना शिक्षा का उद्देश्य हो जाता है। प्रायः विनय के इन दो दृष्टिकोणों में भेद नहीं किया जाता। वास्तविक स्थिति भी यही है। विनय का महत्व साधन और साध्य के रूप में एक प्रकार से एकाकार हो जाता है, क्योंकि विनय से शिक्षा-प्राप्ति में सहायता मिलती है और शिक्षा-प्राप्ति के परिणामस्वरूप बालक विनयी बनता है। एक से दूसरे का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है और एक की उन्नति दूसरे की उन्नति पर निर्भर करती है। कहा भी है कि—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥

अर्थात्, विद्या विनय देती है और विनय से पात्रता प्राप्त होती है। पात्रता से धन मिलता है और धन से धर्म तथा धर्म से सुख की प्राप्ति होती है।

यहाँ हमें 'विनय' तथा 'अनुशासन' के अर्थों में भेद समझ लेना आवश्यक है। अंग्रेज़ी के 'डिसिप्लिन' शब्द का रूपान्तर हिंदी में प्रायः 'अनुशासन' के नाम से किया जाता है। परन्तु, भारतीय दृष्टिकोण से 'विनय' शब्द द्वारा उस स्थिति एवम् भावना का वास्तविक बोध होता है जिन्हें हम शिक्षा में आवश्यक मानते हैं। अनुशासन का तात्पर्य बालक को स्थापित शासन-व्यवस्था के अनुरूप बनाने से है। अर्थात्, अपने चारों ओर के सामाजिक वातावरण में स्थापित व्यवस्था के नियमों आदि का पालन कर के बालक उसके अनुरूप बने। इस दृष्टिकोण से, पहले एक शासन-व्यवस्था, सामाजिक स्थिति अथवा नियमों का बंधन स्वीकृत किया जाता है और फिर बालक से उनके पालन की अपेक्षा की जाती है। पाठशाला, समाज अथवा राष्ट्र के इन नियमों के विरुद्ध जाने पर बालकों को अनुशासनहीन कहा जाता है। कक्षा में बालकों की अनुशासनहीनता अध्यापक प्रायः इसी दृष्टिकोण से निश्चित करते हैं।

परन्तु, विनय की भावना का आधार दूसरा ही है। विनय की भावना बालक के मन में स्वतः उद्भूत होती है, बाहर से थोपी नहीं जाती। विनयी बालक स्वतः इच्छापूर्वक स्वनिर्मित नियमों का पालन करता चलता है। उस पर किसी बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार, विनयी बालक स्वतः आत्मानुशासित होता है और वह अनुशासनहीनता का दोषी नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि बालक को विनयशील बनाने से अनुशासनहीनता की समस्या अपने आप हल हो जाती है।

विनय तथा अनुशासन में एक और मौलिक भेद है। अनुशासन जहाँ सामाजिक भावना पर आधारित होता है वहाँ विनय आध्यात्मिक भावना पर। अनुशासनहीनता को लोग प्रायः इसलिए बुरा समझते हैं कि उससे समाज के कार्यों तथा दूसरों के जीवन-यापन में बाधा पहुँचती है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि अनुशासनहीनता से सब से बड़ी हानि व्यक्ति को स्वयं उठानी पड़ती है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया उच्छृङ्खल होकर नहीं रह सकता। इससे समाज को तो हानि एवम् कष्ट होता ही है स्वयं व्यक्ति का भी मानवीय एवम् आध्यात्मिक पतन होता है। अतएव, व्यक्ति को आत्मनियमन तथा आत्मनियंत्रण का सहारा लेना पड़ता है, और यही विनय है। विनय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिकता पर आधारित होने के कारण उसमें एक प्रकार का सुख, संतोष एवम् तेजस्विता होती है। उससे नियमों की दासता का बोध नहीं होता। विनय द्वारा व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति होती है और यही उसका चरम लक्ष्य है, सामाजिक लाभ तो गौण रूप से अपने आप हो जाता है।

अनेक शिक्षा-शास्त्रियों ने इस आधार पर अनुशासन को शारीरिक और आध्यात्मिक नियमन नामक दो वर्गों में बाँटा है। शारीरिक नियमन द्वारा इन्द्रिय-निग्रह तथा शारीरिक संयम का बोध होता है और आध्यात्मिक नियमन से भावों, विचारों, अनुभूति तथा आत्मा के उन्नयन एवम् विकास का अर्थ लिया जाता है। विनय को भी आंशिक रूप से इसी अर्थ में लेना आवश्यक है; परन्तु विनय के अन्तर्गत हम न केवल विचारों और भावनाओं का सहज नियमन स्वीकृत करते हैं, वरन् उनसे प्रभावित वाह्य व्यवहार का भी नियंत्रण स्वीकार करेंगे।

प्रायः बालक का नियमन उसकी स्वतंत्रता में कमी करके किया जाता है। अनुशासित व्यक्ति पूर्णतया उच्छृङ्खल व्यक्ति नहीं होता। दूसरों की सुविधा तथा सामाजिक व्यवस्था के हित में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता में आंशिक कमी करके अनुशासित होना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से अनुशासन को बालक की स्वतंत्रता की विरोधी शक्ति के रूप में माना जाता है। अनेक शिक्षा-शास्त्रियों में अनुशासन तथा स्वतंत्रता को लेकर वाद-विवाद भी चलता है। परन्तु, वास्तव में विनय

और बालक की स्वतंत्रता में कोई विरोध नहीं। व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र होकर भी अत्यंत विनयी हो सकता है। स्वतंत्रता की जलवायु में विनय का पौधा विशेष रूप से पुष्पित-पल्लवित होता है। बंधनों तथा नियमों का दास बनकर आत्मनियमन का भार वहन करने के स्थान पर स्वतंत्र होकर, इच्छापूर्वक, विनयी बनना कहीं अधिक उचित तथा लाभदायक है।

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार अनुशासन स्थापन के प्रायः तीन ढंग प्रयुक्त होते हैं—शमनवादी, प्रभाववादी एवम् मुक्तिवादी। शमनवादी प्रयोग के अनुसार बालक की भावनाओं, विचारों तथा व्यवहार का बलपूर्वक नियंत्रण किया जाता है। दंड अथवा भय का आश्रय लेकर उसे उच्छृङ्खल बनने से रोका जाता है और उसे ज़बरदस्ती सामाजिक भावनाओं में दीक्षित कराया जाता है। प्रभाववादी विचारधारा के अनुसार बालक पर चारों ओर से ऐसे निर्माणकारी प्रभाव डाले जाते हैं कि वह उनसे प्रभावित होकर स्वतः विनयी बनने को प्रेरित हो उठता है। सामाजिक व्यवस्था, अपने आदर्श-जीवन तथा विचारों द्वारा सभी लोग बालक पर इस प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। मुक्तिवादी प्रणाली में बालक को स्वयं अपने अंतर से विनय की भावना को उद्भूत होने का अवसर दिया जाता है। बालक स्वतः अपनी भावनाओं को उन्मुक्त करता है और इस प्रक्रिया द्वारा अपनी आत्मिक शक्ति का विकास करता है।

अनुशासन की स्थापना के लिए शमनवादी विचारधारा एवम् प्रयोग सर्वथा अवैज्ञानिक हैं। उनसे हम पशु में तो नियंत्रण की भावना जाग्रत कर सकते हैं, परन्तु मनुष्य को भी पशुवत् मानकर उसके लिए नृशंसात्मक साधनों का प्रयोग करना अनुचित है। और, भय एवम् शमन का आधार लेने पर बालक दब भले ही जाए वह अंतर से विनयी नहीं बनता, अपितु उसके अंतर में विरोध की भावना ही पनपने लगती है, जिसका परिणाम व्यक्ति तथा समाज को अंत में अवश्य भुगतना पड़ता है।

बालक को विनयी बनाने में अनेक शक्तियों का हाथ रहता है। यह सभी मानते हैं कि बालक अपने वातावरण से पृथक कोई आत्म-निर्भर इकाई नहीं। वह अपने भौतिक, सामाजिक एवम् आध्यात्मिक वातावरण का अभिन्न अंग होता है, और उसका विकास तथा व्यक्तित्व-निर्माण इन वातावरणों के अनुरूप ही होता है। अतएव, विविध दिशाओं से उसके ऊपर ऐसे प्रभाव पड़ने चाहिए तथा उसका जीवन ऐसे वातावरण में पनपना चाहिए जिससे कि उसमें विनय की भावना स्वतः विकसित होती चले। यदि परिवार के सदस्य अथवा माता-पिता स्वयं अनुशासनहीन हैं, यदि समाज की व्यवस्था अत्यंत विशृङ्खल एवम् संघर्षपूर्ण है, यदि राज्याधिकारी परस्पर

तथा समाज से विरुद्ध दिशा में क्रियाशील होते हैं और यदि धर्म अपने वास्तविक कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है तो बालक से ही विनयी बनने की आशा करना और उसे अनुशासनहीनता के लिए धिक्कारना सर्वथा अनुचित है। अपने चारों ओर के रचनात्मक, सौहार्द्रपूर्ण एवम् शान्त वातावरण में ही बालक विनयी बन सकता है। कठोर दंड अथवा पुलिस के भय की सहायता से स्थापित अनुशासन मानव-समाज के लिए सर्वथा अनुचित है। जनतंत्रवादी समाज व्यवस्था में तो इसका कोई स्थान नहीं।

बालक को जीवन की शिक्षा निरन्तर अभ्यास से ही प्राप्त होती है। विनय के लिए भी उसे अनुकूल वातावरण में निरंतर अभ्यास करना है। यह अभ्यास जीवन भर चलते रहना आवश्यक है। अविनय की कोई ऐसी औषधि नहीं जो सब बालकों को एक बार जीवन भर के लिए खिला दी जाए। वास्तव में परिश्रम, अध्य-वसाय, निरन्तर अभ्यास और लगन ही विनय के आवश्यक गुण होते हैं और इन गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति स्वतः विनयी बन जाता है। अतएव, विनय का अभ्यास बालक को प्रारम्भ से ही कराना है। बाल्यावस्था में घर पर उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करने के बाद पाठशाला में बालक अत्यंत विनयी बन जाए, यह असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। आज अपने उच्च विद्यालयों में विद्यार्थियों के अविनय की समस्या का सामना करने में हम एक बड़ी भारी भूल यह करते हैं कि बालक के चारों ओर से पड़ने वाले अनपेक्षित सामाजिक एवम् पारिवारिक प्रभावों को दोषी न ठहरा कर विद्यार्थियों को ही दोषी मानने लगते हैं, और यह भी भूल जाते हैं कि उच्च विद्यालयों में आने वाले विद्यार्थी अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में घर, समाज अथवा पाठशालाओं में अनुशासनहीनता की बहुत-कुछ शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। अब एक-दम उनका नितांत परिवर्तन कैसे हो सकता है?

अतएव, समस्त शिक्षा-संस्थाओं को प्रारम्भ से ही बालक को विनयी बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। घर में माता-पिता एवम् परिवार के सदस्यों को स्वयं अपने जीवन में विनय का आदर्श बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करना आवश्यक है। पाठ-शाला में अध्यापकों एवम् उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को स्वयं विनयशील बनकर इस दिशा में छोटे बालकों का मार्ग-प्रदर्शन करना चाहिए। समाज में बालक को उचित आदर एवम् नेतृत्व प्राप्त होना चाहिए और सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक नेताओं द्वारा उसे विनय की आवश्यक शिक्षा मिलनी चाहिए। राज्य-संचालन में उच्च आदर्शों के पालन तथा राजकर्मचारियों में स्वयं विनय की भावना होना अत्यंत आवश्यक है। यह सब होने पर ही हम बालक से विनयी बनने की अपेक्षा कर सकते

हैं। और, वस्तुतः ऐसा होने पर बालकों में अनुशासनहीनता की समस्या रह भी नहीं जाएगी।

प्रायः बालक के पैतृक संस्कारों को भी उसके विनय की भावना का स्रोत माना जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार ये पैतृक संस्कार बालक की मूल-प्रवृत्तियों के रूप में प्रगट होते हैं। इन मूल-प्रवृत्तियों का मार्ग-निदर्शन जिस ढंग से होगा उसी ढंग से बालक के विचार तथा व्यवहार संचालित होंगे। यदि ये प्रवृत्तियाँ रचनात्मक कार्यों की ओर उन्मुख होती हैं तो बालक सामाजिक बनता है, अन्यथा वह उच्छृङ्खल होकर ध्वंसात्मक कार्यों में संलग्न हो जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार बालक में सद्व्यवहार एवम् सामाजिकता का विकास कुछ निश्चित नैसर्गिक नियमों के आधार पर होता है। प्रारम्भ में बालक पीड़ा एवम् आनन्द के स्तर पर रहता है। वह आनन्ददायी विचारों और व्यवहारों को अपनाता है तथा पीड़ा एवम् कष्ट देने वाले विचारों और व्यवहारों से विमुख होता है। उदाहरणार्थ, कड़वी ओषधि पीने में उसका विरोध और मिश्री खाने में उसकी तत्परता हम सभी को विदित है। कष्ट को हम प्राकृतिक दण्ड के रूप में मान सकते हैं और आनन्द को प्रकृतिदत्त पारितोषिक के रूप में। इसी आधार पर मनुष्य ने भी दण्ड एवम् पारितोषिक की व्यवस्था की है और छोटे शिशुओं को उसी के आधार पर सद्विचार एवम् सद्व्यवहार में अभ्यस्त कराया जाता है। परन्तु, बहुत काल तक बालक इस पशु-स्तर पर नहीं रहता। कुछ बड़ा होते ही वह सामाजिक अनुमति एवम् विरोध के आधार पर अपने विचारों तथा व्यवहारों को संचालित करने लगता है। वह ऐसे कार्य करता है जिन्हें दूसरे अच्छा समझें और जिनके लिए उसे दूसरों से शाबाशी मिले। इसी आधार पर पाठशालाओं में बालक में सामाजिकता का उद्भव कराया जाता है। बालक दूसरों का अनुकरण करके भी सत्कार्य एवम् सद्विचारों का पालन करना सीखते हैं। किशोरावस्था में पहुँच कर बालक स्वयं अपने आदर्शों द्वारा संचालित होने लगते हैं। वे कोई कार्य इसलिए नहीं करते कि उसके लिए उन्हें पारितोषिक प्राप्त होगा अथवा दूसरों से शाबाशी मिलेगी, अपितु इसलिए कि उनका अन्तःकरण उसे करने के लिए प्रेरित करता है और उसे वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार उचित समझते हैं।

अतएव, यह स्पष्ट है कि बालकों में विनय की भावना जाग्रत करने के लिए यथावसर दण्ड एवम् पारितोषिक, सामाजिक अनुमति एवम् विरोध, आदर्शस्थापन तथा उच्च भावना का आश्रय लेना चाहिए। इन सब साधनों का प्रयोग भली भाँति, सोच समझकर करना आवश्यक है, अन्यथा उनका प्रभाव आशा के विपरीत भी हो सकता है। बालकों के जीवन में उच्च आदर्शों की स्थापना भी अत्यंत आवश्यक है।

आज के विद्यार्थियों में उच्छृङ्खलता का एक बड़ा भारी कारण यह भी है कि हमारे जीवन पर दर्शन एवम् धर्म का प्रभाव अत्यन्त क्षीण हो गया है। भौतिकता से प्रेरित होने के कारण सांसारिक जीवन के दुःख एवम् असंतोष मानव को इस प्रकार ग्रस्त किए हुए हैं कि उनका मानसिक संतुलन बहुत-कुछ नष्ट हो गया है। अतएव, नवयुवकों की वर्तमान उच्छृङ्खलता बहुत-कुछ दैनिक जीवन की कठिनाइयों एवम् निराशा से उद्भूत माननी चाहिए। इसीलिए आदर्शवादी दार्शनिक विचारधारा एवम् धार्मिक प्रभावों की आवश्यकता व्यक्ति को वर्तमान समय में सब से अधिक है।

विद्यार्थियों के जीवन में नैराश्य की भावना पर विचार करने से हमें यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि वे न केवल अपने वर्तमान से ही असंतुष्ट हैं अपितु उन्हें अपना भावी जीवन भी अत्यंत अरक्षित, संदिग्ध एवम् कष्टपूर्ण दिखाई देता है। आज का बालक अपने भावी जीवन के सुखद क्षणों की कल्पना में निरत रहना चाहता है, और यह स्वाभाविक भी है। परन्तु, भला वह ऐसी सुखद कल्पना किस आधार पर करे? उसे अपना भविष्य अंधकारमय ही दिखाई पड़ता है, जिसे उसके गुण, उत्साह एवम् परिश्रमशीलता आदि क्षण भर को भी प्रकाशमान नहीं कर पाते। ऐसी दशा में नैराश्य की भावना से उद्वेलित बालक यदि अनुशासनहीन, समाजविरोधी तथा उच्छृङ्खल बन जाएँ तो आश्चर्यजनक नहीं। अतएव, परिवार, समाज तथा राज्य द्वारा बालक के मन में यह अस्त्यात्मक भावना दृढ़तापूर्वक स्थापित करना आवश्यक है कि वह अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र का एक अमूल्य सदस्य है, इन सबको उसकी अत्यन्त आवश्यकता है और ये सब संस्थाएँ उसकी रक्षा, उन्नति एवम् सुखपूर्ण जीवन के लिए पूरा प्रयत्न करेंगी। ऐसी दशा में बालकों के मन में सुरक्षा, उत्साह एवम् कर्त्तव्यपालन की जो भावना स्वतः प्राकृतिक रूप में विकसित होगी वह उन्हें सहज ही विनयशील बना देगी।

बालकों में स्वभावतया आन्तरिक स्फूर्ति एवम् शक्ति का आधिक्य होता है। वे निश्चेष्ट होकर शान्त नहीं बैठ सकते; उन्हें कुछ न कुछ करते रहना है। उनकी इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए इस बात की आवश्यकता है कि उन्हें रचनात्मक कार्यों में व्यस्त रखा जाए। हमारे परिवारों, पाठशालाओं, समाज तथा राष्ट्र में बालकों के योग्य रचनात्मक कार्यों और उनके लिए उचित प्रेरणा का सर्वथा अभाव है। कोई भी बालक सब समय अध्ययन में ही निरत नहीं रह सकता। उसे विविध प्रकार के रोचक कार्यों में भी संलग्न होने की आवश्यकता है। रोचक तथा रचनात्मक कार्यों में उनका उचित नेतृत्व न होने के कारण वे सरलता से ध्वंसात्मक कार्यों में लगकर अपनी मूल-प्रवृत्तियों को संतुष्ट कर लेते हैं। यदि अवकाशकाल में विद्यार्थियों

उपयोगी दिशाओं में उचित नेतृत्त्व प्राप्त न होगा तो उनके उच्छृङ्खल हो जाने की आशंका सदैव बनी रहेगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक में विनय की भावना का उद्भव करने के लिए सभी शैक्षिक स ाओं को आपसी सहयोग के साथ प्रयत्नशील होना चाहिए। यदि पाठशाला जिन आदर्शों का स्थापन बालकों में करना चाहती है, समाज उनसे विपरीत आदर्शों को लेकर चलता है तो इस संघर्ष में बालक निश्चय ही अनुशासनहीन हो जाएँगे। परिवार, पाठशाला, समाज एवम् राज्य को इसीलिए सामूहिक रूप से अनुशासनात्मक वातावरण निर्मित करना चाहिए। माता-पिता, अभिभावकगण, अध्यापक, समाज के सदस्य, शासकगण— सभी जब एकमत होकर विनय-स्थापन के लिए उचित प्रयत्न करेंगे तभी इस दिशा में सफलता प्राप्त होगी। अविनय की समस्या एक सामूहिक समस्या है और उसे सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही हल किया जा सकता है।

अध्याय २५

शिक्षा-परिणामों का परीक्षण

शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण तथा उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करके ही शिक्षक की संतुष्टि नहीं होती। अन्त में वह यह भी जानना चाहता है कि उसका प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है, बालक शिक्षा के उद्देश्यों की ओर कहाँ तक अग्रसर हो सके हैं, तथा समस्त शिक्षण-प्रक्रिया किस सीमा तक सार्थक हुई है? यह तभी सम्भव है जब कि शिक्षा-विषयक समुचित प्रयत्न कर लेने के बाद प्राप्त परिणामों का परीक्षण किया जाए। शिक्षा में परीक्षा-प्रणाली द्वारा इसी बात का प्रयास किया जाता है।

परीक्षा जीवन की एक स्वाभाविक क्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अपनी परीक्षा देता रहता है। जीवन के संघर्ष तथा विषम परिस्थितियाँ उसकी परीक्षा करके उसके योग्यतानुसार उसे सफल अथवा असफल सिद्ध करती रहती हैं। स्वयं प्रकृति भी अनेक प्रकार से मानव-जाति की परीक्षा युग-युग से लेती आई है। भक्तों का विश्वास है कि स्वयं भगवान भी उनकी परीक्षा समय-समय पर लेते रहते हैं। ऐसी स्वाभाविक एवम् प्राकृतिक क्रिया का प्रयोग शिक्षा में विद्यार्थियों के लिए क्यों इतना भयोत्पादक तथा दुःखदायी हो गया है यह आश्चर्यजनक है। वास्तव में, शिक्षण-प्रक्रिया में परीक्षा एक आवश्यक अंग के रूप में ही स्वीकार्य नहीं अपितु अत्यन्त लाभदायक भी है। शिक्षा के परिणामों की नाप-तौल करने के साथ ही वह शिक्षक तथा शिक्षार्थी को आगे बढ़ने, कठिनाइयों से जूझने तथा उन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। एक परीक्षा के बाद व्यक्ति दूसरी के लिए उत्सुक होता है। परीक्षा शिक्षार्थी के लिए उस मील के पत्थर के समान है जो यात्री को अपनी यात्रा में इस बात की सूचना देता रहता है कि कितना पथ पार कर लिया है, कितना अभी और शेष है।

परीक्षा में सफलता व्यक्ति को साहस एवम् उत्साह प्रदान करती है। उसमें असफलता व्यक्ति के मन में दुगुनी दृढ़ता तथा कठिनाइयों से टक्कर लेने का साहस

पैदा कर सकती है । शैक्षिक परीक्षण द्वारा बालक उन संघर्षों का पूर्वाभास पाता है जो उसके भावी जीवन में समय-समय पर आते रहेंगे । आज की परीक्षा बालक को आगामी परीक्षाओं के लिए अभ्यस्त करती है । इस प्रकार शिक्षा में परीक्षा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उसकी अनिवार्यता एवम् उपयोगिता के कारण उसे शिक्षा से पूर्णतया हटाया भी नहीं जा सकता । वास्तव में शिक्षा के क्षेत्र से परीक्षा को पूर्णतया बहिष्कृत करना उतना ही अस्वाभाविक तथा व्यर्थ होगा जितना कि जीवन से उसे हटा देना ।

शिक्षा में परीक्षा-प्रणाली का प्रयोग आदिकाल से होता आ रहा है । प्रारम्भ में परीक्षाएँ क्रियात्मक एवम् व्यावहारिक होती थीं । व्यवहार, आचरण तथा क्रिया-विशेष द्वारा शिक्षार्थी के प्राप्त-ज्ञान की परीक्षा ली जाती थी । उपनिषदों, रामायण, महाभारत आदि में इस प्रकार के परीक्षण के अनेक उदाहरण मिलते हैं । परन्तु, बाद में जब शिक्षा में पाठ्यपुस्तकों तथा कोरे सैद्धान्तिक ज्ञान की प्रधानता हो गई तो मौखिक रूप से ही धर्मग्रंथों एवम् पुस्तकीय ज्ञान की परीक्षा ली जाने लगी । धीरे-धीरे कागज़ तथा लेखन का प्रचार व्यापक हो जाने से परीक्षा में लेखन की योग्यता का भी परीक्षण होने लगा । छापे के आविष्कार एवम् लेखन की प्रधानता के कारण आज की परीक्षा-प्रणाली में मौखिक की अपेक्षा लिखित रूप की ही प्रमुखता है । इस प्रणाली में कुछ प्रश्नों के उत्तर नियत समय के भीतर निबन्ध के रूप में लिखकर देने होते हैं । इसीलिए उसे निबन्धात्मक परीक्षा-प्रणाली भी कहा जाता है । यही निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली आज समस्त संसार में प्रचलित है । उसने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ऐसा आधिपत्य जमा लिया है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे हटाना असम्भव हो रहा है ।

वर्तमान निबन्धात्मक परीक्षा-प्रणाली के प्रति शिक्षाविदों का विरोध उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है । इसका मुख्य कारण इस प्रणाली में निहित वे दोष हैं जो उसे अत्यधिक त्याज्य बना देते हैं । इन दोषों का विवेचन हम निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणों से करेंगे :—

(१) परीक्षा-प्रणाली के वे दोष जो विद्यार्थियों के लिए हानिप्रद सिद्ध होते हैं ।

(२) परीक्षा-प्रणाली के वे दोष जिनके कारण अध्यापक का शिक्षण दूषित हो जाता है । और,

(३) परीक्षाफल के अपने दोष ।

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के दोष

विद्यार्थियों की दृष्टि से—

प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के दोषों का परिणाम विद्यार्थी तथा परीक्षार्थी वर्ग को सब से अधिक भुगतना पड़ता है। परीक्षा का ज्वर उन्हें बराबर ग्रसित किए रहता है और उन्हें तनिक भी चैन नहीं लेने देता। परिणामस्वरूप, बालक अपने विद्यार्थी-जीवन में परीक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी ओर ध्यान ही नहीं दे पाते। उनकी समस्त क्रियाओं, विचारों तथा भावनाओं का केन्द्र-विन्दु परीक्षा में सीमित हो जाता है। परीक्षा में किसी न किसी प्रकार सफल होना मात्र ही उनकी शिक्षा का उद्देश्य रह जाता है। शिक्षा के जिन व्यापक उद्देश्यों का निर्धारण हम पहले कर आए हैं उनकी प्राप्ति की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। व्यक्तित्व का विकास, चरित्र का निर्माण, सर्वांगीण उन्नति आदि के उद्देश्य उनके लिए निरर्थक हो जाते हैं। बालकों के अभिभावकगण, शिक्षक वर्ग एवम् जनसाधारण भी परीक्षार्थियों से परीक्षा में उच्च स्थान-प्राप्ति की अपेक्षा तो करते हैं किन्तु इस बात की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते कि उनके जीवनादर्श कैसे हैं, तथा उनमें सद्गुणों की स्थापना कहाँ तक हो पाई है। इससे बालकों के मन में शिक्षा का अत्यन्त संकुचित उद्देश्य स्थापित हो जाता है और परिणामस्वरूप उनके जीवन का लक्ष्य भी अत्यन्त संकुचित एवम् संकीर्ण हो जाता है।

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में प्रश्नपत्र पाठ्य-पुस्तकों के सीमित ज्ञान पर ही आधारित होते हैं। उन्ही परीक्षार्थियों के उत्तर अच्छे माने जाते हैं जो पाठ्य-पुस्तकों में दी हुई सामग्री अधिकाधिक परिमाण में प्रस्तुत कर सकें। इसी कारण विद्यार्थी पाठ्य-पुस्तकों की रटाई को ही अपना प्रधान कृत्य समझ लेते हैं। बिना समझे-बूझे तथ्यों को रट लेना हमारे विद्यार्थियों की आदत हो गई है, और इसके लिए वर्तमान परीक्षा-प्रणाली को ही दोषी ठहराया जा सकता है। पाठ्य-सामग्री को रटने के प्रयत्न में विद्यार्थी प्रायः उन अंशों का प्रवरण करने का प्रयत्न करते हैं जिनमें से परीक्षा में प्रश्न पूछे जाने की अधिक से अधिक सम्भावना होती है। पिछले प्रश्न पत्रों को देखकर तथा अध्यापकों के संदिग्ध सुझावों के आधार पर संभावित प्रश्नों की सूची प्रायः परीक्षार्थी तैयार कर लेते हैं और उन्हीं के आधार पर परीक्षा के लिए तैयारी करते हैं। समस्त पाठ्य-सामग्री का रट लेना वैसे भी असम्भव सा होता है, इसीलिए केवल आवश्यक अंश का प्रवरण करना एक व्यावहारिक आवश्यकता है। परन्तु, इस प्रकार की तैयारी में प्रायः धोखा भी हो जाता है और अच्छा-भला विद्यार्थी केवल इसीलिए असफल हो जाता है कि उसकी पाठ्य-सामग्री का चयन ग़लत हुआ है। दूसरी ओर,

कुछ न जानने वाला विद्यार्थी सफल हो जाता है क्योंकि अटकल से उसने केवल वही प्रश्न तैयार किए थे जिनकी परीक्षा में आने की उसे संभावना थी। इस प्रकार परीक्षा के प्रति विद्यार्थियों का दृष्टिकोण बहुत-कुछ उस जुआरी के समान होता है जो सब-कुछ दाँव पर लगाकर परिणाम अपने भाग्य के ऊपर छोड़ देता है। यह भावना शिक्षा की मूल भावना के विरुद्ध है। रटी हुई सामग्री की परीक्षा करके इस प्रणाली द्वारा बालकों की केवल स्मरण-शक्ति की ही परीक्षा होती है, उनके वास्तविक ज्ञान तथा विकास की नहीं।

3 वर्तमान परीक्षा-प्रणाली पूर्णतया शाब्दिक एवम् अव्यावहारिक है। उसके द्वारा विद्यार्थियों से केवल सैद्धान्तिक ज्ञानसंचय की अपेक्षा की जाती है। विद्यार्थी अपने अर्जित ज्ञान एवम् सिद्धान्तों का उपयोग जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में कहाँ तक कर सकते हैं, इस बात की जाँच तनिक भी नहीं होती। इसी कारण विद्यार्थी अपना सारा समय और प्रयत्न सैद्धान्तिक ज्ञान बटोरने में लगा देते हैं, उसके व्यावहारिक उपयोग का प्रयत्न नहीं करते। वे अपने सैद्धान्तिक ज्ञान में तो बहुत बढ़े-चढ़े होते हैं परन्तु व्यावहारिक जीवन में नितांत असफल सिद्ध होते हैं। परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करने वाला विद्यार्थी जीवन की अत्यन्त साधारण परिस्थितियों में भी घबड़ा जाता है। वास्तविक शिक्षा व्यावहारिक होती है परन्तु वर्तमान परीक्षा-प्रणाली उसे अल्पांश में भी व्यावहारिक नहीं होने देती।

4 यह वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का ही दोष है कि परीक्षार्थी परीक्षा-काल में अपने स्वास्थ्य पर तनिक भी ध्यान नहीं देते। परीक्षा-काल में उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो उठती है। रात-रात भर जागकर, भूखे रहकर और आवश्यक मनोरंजन एवम् खेल-कूद आदि छोड़कर वे परीक्षा की तैयारी में ऐसी एकाग्रता से जुट जाते हैं मानों नवयुवक-तपस्वियों के जीवन का एकमात्र लक्ष्य यही हो। स्वास्थ्य की उपेक्षा के परिणामस्वरूप अनेक परीक्षार्थी परीक्षा-काल में ही रोग-ग्रस्त हो जाते है और कुछ तो परीक्षा-भवन में मूर्च्छित तक हो जाते हैं। परीक्षा के उपरान्त बहुत समय तक उनका गिरा हुआ स्वास्थ्य ठीक नहीं हो पाता। शारीरिक स्वास्थ्य विकासोन्मुख बालक के लिये एक अमूल्य निधि है। उस पर परीक्षा-काल में प्रतिवर्ष इस प्रकार के कठोर प्रहार का परिणाम सदैव के लिए हानिकारक हो जाता है। वह परीक्षा-प्रणाली अत्यन्त दूषित कही जाएगी जो शिक्षा के शारीरिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति में बाधक होती है।

5 वर्तमान परीक्षा-प्रणाली द्वारा विद्यार्थियों के चरित्र एवम् नैतिक भावना पर भी कुठाराघात होता है। परीक्षाओं में प्रयुक्त बेईमानी, झूठ, धोखेबाज़ी आदि दिन-

दिन बढ़ते जा रहे हैं। बिना मेहनत किए ही विविध प्रकार के अनाचार आदि का सहारा लेकर कुछ विद्यार्थी परीक्षा में सफल हो जाते हैं। ईमानदारी और बेईमानी से सफल हुए परीक्षार्थियों में कोई भेद नहीं किया जाता। परीक्षा-भवन में नक़ल करने से लेकर परीक्षकों अथवा निरीक्षकों की हत्या करने के षड्यन्त्र तक का समस्त कलुषित व्यवहार बालकों की शिक्षा पर एक अत्यन्त कटु आक्षेप है। उच्च, आदर्श उद्देश्यों को सम्मुख रखकर दी जाने वाली शिक्षा के परिणामों की परीक्षा में विद्यार्थी इस प्रकार की दूषित प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करें यह गम्भीर चिन्तन का विषय है। ऐसे अनाचार को प्रोत्साहन देने वाली परीक्षा-प्रणाली को सर्वथा हेय कहना उचित ही है।

७ वर्ष के अंत में ली जाने वाली एकमात्र परीक्षा पर सब-कुछ निर्भर होने के कारण बालक के विद्यार्थी-जीवन में उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। पूरे वर्ष तक नियमित अध्ययन की अवहेलना करके वह वर्ष के अंत में विशेष प्रयत्नशील होता है। परन्तु, इसमें बालक के भाग्य एवम् दैवयोग का हाथ बहुत अधिक रहता है। वर्ष भर परिश्रम करने वाला योग्य विद्यार्थी यदि दुर्भाग्यवश ठीक परीक्षा-काल में किसी दुर्घटना का शिकार हो जाता है, बीमार पड़ जाता है अथवा किसी आवश्यक कार्य में संलग्न हो जाता है, तो उसकी परीक्षा नहीं हो पाती और न उसे सफल ही घोषित किया जाता है। अनेक विद्यार्थी इसी कारण अपना पूरा वर्ष गँवा देते हैं। दैवयोग पर इतना अधिक निर्भर रहने वाली परीक्षा-प्रणाली को बालक की योग्यता की जाँच करने में कहाँ तक उपयोगी समझा जा सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

शिक्षक की दृष्टि से—

१ प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के दोषों का प्रभाव अध्यापक तथा उसके शिक्षण पर भी पड़ता है। हमारी परीक्षा-प्रणाली में संकुचित एवम् अव्यावहारिक दृष्टिकोण होने के कारण अध्यापक का ध्यान शिक्षा के विशद और आदर्श उद्देश्यों की ओर तनिक भी नहीं जाता। बालक के मानसिक, भावनात्मक, चारित्रिक अथवा सांस्कृतिक विकास के उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हमारी पाठशालाओं के कितने अध्यापक प्रयत्नशील होते हैं यह हम सब जानते हैं। अध्यापक का प्रयत्न सदैव यही रहता है कि उसके विद्यार्थियों का परीक्षा फल अच्छा हो, मानो परीक्षा में बालक को किसी न किसी प्रकार सफल करा देना ही उसके समस्त शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है। विद्यार्थी तो स्वयं ही परीक्षा से आतंकित रहते हैं। अध्यापक का दृष्टिकोण उनके प्रयत्नों को और भी संकुचित बना देता है। यदि शिक्षक स्वयं शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों को भूलकर निम्नकोटि के लक्ष्यों में भटक जाए तो शिक्षा द्वारा मानवता का विकास कैसे संभव हो सकता है?

परीक्षाफल को अच्छा बनाने का संकुचित तथा अनुपयुक्त उद्देश्य अध्यापकों की शिक्षण-प्रणाली को अत्यन्त दूषित बना देता है। पाठ्य-विषयों को भली भाँति समझाने, उनकी व्याख्या करने, तथा बालकों में ज्ञान-प्राप्ति के लिए रुचि पैदा करने के स्थान पर वे उन्हें अव्यावहारिक, जूठा शब्द-जाल रटाने का प्रयत्न करते हैं। अनेक अध्यापक अपनी ओर से लेख लिखा देते हैं, परीक्षा के संभाव्य प्रश्नों की कल्पना करके उनके उत्तर लिखाते हैं और विद्यार्थी उन्हें बिना समझे-बूझे रट लेते हैं। इस प्रकार परीक्षकों के पास परीक्षा के लिए बालकों का ज्ञान नहीं अपितु अध्यापकों का ज्ञान पहुँचता है और विद्यार्थियों की जाँच भली भाँति नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त कुछ अध्यापक तो परीक्षकों तथा परीक्षाफल को प्रभावित करने के लिए अनैतिक कार्य भी करते पाए जाते हैं। पाठशालाओं के मैनेजर अथवा शासनकर्ता आदि अपनी संस्था का परीक्षाफल अच्छा बनाने के लिए अध्यापकों में इसी संकुचित दृष्टिकोण को अधिकाधिक महत्त्व देते हैं और विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा के उच्च उद्देश्यों के निमित्त नहीं बल्कि केवल परीक्षाफल के हेतु एक प्रकार की स्पर्द्धा होने लगती है।

परीक्षाफल की दृष्टि से—

परीक्षाफल की दृष्टि से वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष उसकी अवैज्ञानिकता एवम् अप्रामाणिकता है। अप्रामाणिक होने का कारण यह है कि उसमें परीक्षित विषय के अतिरिक्त अन्य दूसरे प्रभाव परीक्षाफल को दूषित बना देते हैं। वही परीक्षा-प्रणाली प्रामाणिक कही जाएगी जिसमें केवल उसी विषय की परीक्षा हो जिसकी अपेक्षा है। वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में यह नहीं होता। उदाहरणार्थ, इतिहास की उत्तरपुस्तक जाँचते समय परीक्षक को बालक के केवल ऐतिहासिक तथ्यों के ज्ञान की जाँच करनी चाहिए, परन्तु होता यह है कि परीक्षार्थी के भाषा-प्रवाह, शब्द-चयन, लिखावट, विषय-प्रतिपादन आदि का प्रभाव भी परीक्षक पर पड़ता है और चाहे ऐतिहासिक तथ्य कम हों फिर भी परीक्षार्थी को अन्य बातों के कारण अधिक अंक प्राप्त हो जाते हैं। अन्य विषयों की परीक्षा में भी यही बात देखने में आती है। यदि दूध में जल की माप करने वाला यंत्र 'लैक्टोमीटर' दूध में शकर की मात्रा से भी प्रभावित होने लगे तो वह अप्रामाणिक हो जाएगा। इसी प्रकार शरीर का ताप नापने वाला 'थर्मामीटर' यदि रुधिर-प्रवाह की गति से प्रभावित होने लगे तो उसे ताप-मापक यंत्र के रूप में कोई भी प्रामाणिक नहीं मानेगा। परन्तु यही दशा हमारी वर्तमान परीक्षा-प्रणाली की इस समय हो रही है। इसी कारण परीक्षाफल को किसी विद्यार्थी के ज्ञान का विश्वसनीय प्रमाण मानना कठिन होता है।

परीक्षाफल की अविश्वसनीयता इस कारण और भी अधिक बढ़ जाती है कि वर्तमान परीक्षा-प्रणाली व्यक्तिनिष्ठ है, विषयनिष्ठ नहीं। व्यक्तिनिष्ठ होने से परीक्षक की भावनाओं, विचारों एवम् रुचियों का प्रभाव परीक्षाफल पर पड़ता है। एक ही उत्तरपुस्तक पर दो भिन्न परीक्षक भिन्न अंक देते हैं। एक प्रयोग में तो यहाँ तक देखा गया है कि एक ही उत्तरपुस्तक पर एक परीक्षक ने सौ में से ६० अंक दिए और दूसरे ने केवल २०। ऐसी परीक्षा-प्रणाली को कौन विश्वसनीय मानेगा जिसका परीक्षाफल परीक्षक की भिन्नता से बदलता चलता हो? यह तो वैसा ही हुआ कि बालक को यदि माता 'थर्मामीटर' लगाए तो दूसरा तापमान निकले और यदि डॉक्टर लगाए तो दूसरा। क्या ऐसा 'थर्मामीटर' फेंक देने की वस्तु नहीं? यही नहीं, वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में तो केवल दो अथवा अधिक परीक्षकों में ही मतभेद परिलक्षित नहीं होता अपितु एक ही परीक्षक भिन्न समय अथवा मनोदशा में उसी उत्तरपुस्तक पर भिन्न अंक देते देखे गए हैं। सुख, संतोष एवम् प्रसन्नता की मनोदशा में जाँची गई उत्तर-पुस्तक के प्रति परीक्षक का मापदण्ड अत्यन्त उदार हो उठता है और दुःख, क्लेश अथवा क्रोध की अवस्था में परीक्षक उसी उत्तरपुस्तक के प्रति कठोर हो जाता है। ऐसी दशा में यह कोई नहीं कह सकता कि किसी परीक्षार्थी के अमुक विषय में प्राप्तांक सर्वथा निश्चित तथा अपरिवर्तनशील हैं। ऐसा संदिग्ध परीक्षाफल निश्चय ही अविश्वसनीय होगा।

परीक्षाफल के वर्गीकरण में भी अनेक दोष पाए जाते हैं। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी का वर्गीकरण अत्यन्त ही अवैज्ञानिक एवम् अन्यायपूर्ण है। यह कैसे निश्चित किया गया कि ६० प्रतिशत अंक पाने वाला प्रथम श्रेणी प्राप्त करेगा और ३३ प्रतिशत से कम पाने वाला असफल कहा जाएगा? यह परम्परा केवल रूढ़िगत तथा कुछ लोगों की ऐसी धारणा पर आधारित है। एक ही श्रेणी में सफल होने वाले दो सीमान्तरस्थ परीक्षार्थियों को एक ही साथ रखना तथा उनमें कोई भेद न करना दोनों के साथ अन्याय है। केवल एक अंक की अधिकता अथवा कमी के कारण उनकी श्रेणी में अन्तर पैदा कर देना भी अनुचित है। उदाहरणार्थ, ५९ प्रतिशत और ४८ प्रतिशत अंक पाने वाले दो परीक्षार्थियों को एक ही श्रेणी में रख दिया जाता है परन्तु ६० प्रतिशत पाने वाले को केवल १ प्रतिशत के अन्तर से प्रथम में रखा जाता है। इसका आधार कहाँ तक वैज्ञानिक कहा जा सकता है? इसी प्रकार परीक्षार्थियों को किसी विषय में शून्य अथवा सौ प्रतिशत प्राप्तांक देना भी अवैज्ञानिक है क्योंकि कोई भी परीक्षार्थी न तो किसी विषय में शून्य ज्ञान रखता है और न सम्पूर्ण ज्ञान। परीक्षार्थियों

को ३३ प्रतिशत अंक से अधिक व कम के आधार पर सफल अथवा असफल घोषित करने का एक मनमाना मापदंड बना लेना भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं।

उपर्युक्त सामान्य कारणों से वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के प्रति शिक्षाविदों तथा सर्वसाधारण सभी का विरोध बढ़ता जा रहा है, और उसके सुधार के अनेक उपाय सुझाए गए हैं। हमारे देश में तो यह परीक्षा-प्रणाली अपने समस्त दोषों के साथ पूर्ण आधिपत्य जमाए है और सम्पूर्ण शिक्षा को दूषित किए हुए है। इसके दोषों का निराकरण जितनी जल्दी किया जा सके हमारी शिक्षा एवम् राष्ट्रोन्नति के लिए लाभदायक होगा।

परीक्षा-प्रणाली में सुधार

भारत तथा अन्य देशों में प्रचलित निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली के दोषों पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। यह परीक्षा-पद्धति बालक, अध्यापक एवम् परीक्षाफल—सभी की दृष्टि से दूषित है। परन्तु, इसमें कुछ ऐसे गुण भी हैं जिनके कारण उसे पूर्णतया बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। इन गुणों पर हम आगे चलकर यथास्थान विचार करेंगे। यहाँ केवल यही कहना यथेष्ट होगा कि सभी शिक्षाविद् इस विषय में एकमत हैं कि वर्तमान निबन्धात्मक परीक्षा-प्रणाली को पूर्णतया हटाने के बजाय उसके दोषों का सुधार करना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा।

निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली के दोषों के विवेचन से एक आदर्श परीक्षा-प्रणाली के आवश्यक गुणों का निर्धारण भी सहज ही किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि एक अच्छी परीक्षा-प्रणाली विश्वसनीय तथा प्रामाणिक होनी चाहिए। उसमें प्रश्नों की संख्या अधिक हो जिससे कि वे प्रश्न समस्त पाठ्यक्रम पर विस्तारित हो सकें और बालक के सम्पूर्ण पाठ्यविषय के ज्ञान की जाँच संभव हो। इससे परीक्षार्थियों को कुछ विषय चुनकर रटने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। परीक्षा विषयनिष्ठ होनी चाहिए, व्यक्तिनिष्ठ नहीं। उसमें नक़ल आदि अनैतिक व्यवहार की भी कोई गुंजाइश न हो। परीक्षा की प्रणाली कोई भी हो उसका प्रमुख उद्देश्य यही होना चाहिए कि हम शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति की पूरी जाँच भली भाँति कर सकें।

इन सभी विशेषताओं से परिवेष्ठित एक नवीन परीक्षा प्रणाली का प्रयोग कुछ देशों में किया जा रहा है। अमरीका में इन नए ढंग के परीक्षापत्रों का प्रयोग विशेष रूप से बढ़ रहा है। इस परीक्षा-प्रणाली द्वारा निश्चित पाठ्यविषय में विद्यार्थियों के प्राप्त-ज्ञान की परीक्षा ली जाती है, अतएव उसमें प्रयुक्त प्रश्न-पत्र को निष्पत्ति परीक्षा-पत्र कहा जाता है। यह प्रणाली सर्वथा प्रामाणिक होती है क्योंकि उनमें केवल पूर्व-

निश्चित एक ही विषय का ज्ञान जाँचा जाता है। प्रश्नों का उत्तर अधिकतर रेखांकन अथवा अन्य चिह्नों द्वारा दिया जाता है, या फिर केवल एक या दो शब्दों में। उत्तर निबन्धरूप में न होने के कारण भाषा, शैली, लिखावट आदि का प्रभाव परीक्षक पर तनिक भी नहीं पड़ता। परिशिष्ट संख्या १ में हम कक्षा ६ के लिए इतिहास विषय पर एक निष्पत्ति परीक्षणपत्र का अंश उदाहरणस्वरूप दे रहे हैं। उससे इन विशेषताओं का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जाएगा।

इस परीक्षा-प्रणाली में परीक्षाफल भी पूर्णतया विश्वसनीय होता है। निष्पत्ति परीक्षणपत्र में प्रत्येक प्रश्न का एक ही सही उत्तर संभव होता है। यदि परीक्षार्थी ने वह उत्तर दिया है तो उसे एक अंक प्राप्त होगा अन्यथा शून्य। इसमें भिन्न परीक्षकों में मतभेद की कोई गुंजाइश नहीं रहती और न कोई उत्तर आंशिक रूप में सही अथवा ग़लत कहा जा सकता है। परीक्षार्थी की उत्तरपुस्तिका की जाँच कोई भी परीक्षक करे उसके प्राप्तांक में कोई हेर-फेर नहीं हो सकता। पत्र में प्रश्नों की संख्या भी अधिक होती है। उसमें प्रायः सौ प्रश्न होते हैं। इसमें सम्पूर्ण पाठ्यक्रम के ज्ञान की परीक्षा संभव होती है और इतने अधिक प्रश्नों के उत्तर रटना भी बालकों के लिए असंभव होता है। इन परीक्षापत्रों की जाँच अत्यंत सरल होती है। इसमें केवल सही उत्तरों की संख्या गिननी होती है और उतने ही अंक परीक्षार्थी को प्राप्त हो जाते हैं। अमरीका में तो यह काम मशीनों द्वारा मिनटों में कर लिया जाता है। इसमें परीक्षार्थियों को नक़ल आदि करने का भी अवसर नहीं मिल पाता क्योंकि सम्पूर्ण प्रश्नावली का उत्तर देने के लिए उन्हें तीस मिनट के लगभग समय मिलता है। इसलिए वे प्रश्नों के उत्तर द्रुतगति से देने में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि किसी और दिशा में ध्यान ही नहीं दे पाते। यदि वे इधर-उधर देखने का प्रयत्न भी करेंगे तो उनका अमूल्य समय नष्ट होगा और उन्हें हानि उठानी पड़ेगी।

इस प्रकार निष्पत्ति परीक्षण में अच्छी परीक्षा-प्रणाली के सभी आवश्यक गुणों का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु, फिर भी, उसमें कुछ कमियाँ ऐसी रह जाती हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट हो जाता है। इन्हें हम नवीन परीक्षा-प्रणाली के दोष कह सकते हैं। निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली की जो अच्छाइयाँ हैं उनका अभाव ही नवीन परीक्षा-प्रणाली में दोष बन जाता है। इनके अतिरिक्त निष्पत्ति परीक्षणपत्र में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं जिनका सामना परीक्षा-योजकों को करना पड़ता है।

सिद्धान्ततः किसी भी तथ्य का स्पष्टीकरण भाषा के प्रयोग के बिना भली भाँति नहीं हो सकता। कोई तथ्य अथवा विचार स्वयं अपने में ही पूर्णतया मूल्यवान नहीं

वह किस भाषा, शैली तथा कितने प्रभावोत्पादक ढंग से प्रगट किया गया है यह भी महत्त्वपूर्ण है। न्यायालय में न्यायाधीश के समक्ष एक ही तथ्य को दो भिन्न वकील इस प्रकार भिन्न ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि उनका प्रभाव एक दूसरे से विपरीत पड़ता है। इसी प्रकार परीक्षा द्वारा केवल यही जाँचना यथेष्ट नहीं कि परीक्षार्थी को कितने तथ्यों का ज्ञान है परन्तु यह जाँचना भी आवश्यक है कि वह उन तथ्यों को कितने प्रभावोत्पादक ढंग से प्रगट कर सकता है। यह तभी संभव है जबकि परीक्षार्थी अपने उत्तर भाषा के माध्यम द्वारा निबंधात्मक रूप में दे। यह केवल निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली में ही संभव है, नवीन परीक्षा-प्रणाली में नहीं।

निष्पत्ति परीक्षणपत्रों की जाँच तो एक सरल कार्य है, परन्तु परीक्षणपत्रों का निर्माण अत्यन्त कठिन तथा दुष्कर है। प्रश्नों का प्रवरण, उनका वर्गीकरण, रूप-निर्धारण, संभाव्य उत्तरों का विश्लेषण एवम् सही उत्तरों का निश्चय, उन्हें प्रामाणिक एवम् विश्वसनीय बनाने के वैज्ञानिक प्रयोग आदि कठिन तथा समय लेने वाले कार्य हैं। सामान्य परीक्षक इन परीक्षणपत्रों का भली भाँति निर्माण नहीं कर सकते। इसके लिए विशिष्ट योग्यता तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। उन देशों में जहाँ इस परीक्षा-प्रणाली का प्रचलन अधिक है प्रत्येक पाठशाला में एक परीक्षा विभाग अलग ही होता है जहाँ केवल निष्पत्ति परीक्षणपत्रों के निर्माण तथा उनकी जाँच का कार्य किया जाता है। इन विभागों में अनेक विशेष योग्यता-प्राप्त व्यक्ति कार्य करते हैं। परन्तु, इस प्रकार के प्रबंध में धन की आवश्यकता होती है। हमारी पाठशालाओं में इस प्रकार की अत्यंत ख़र्चीली परीक्षा-पद्धति को कहाँ तक अपनाया जा सकता है, यह विचारणीय है। इतना नहीं तो प्रत्येक विषय के अध्यापक को इन परीक्षापत्रों के विषय में कुछ न कुछ प्रशिक्षित तो करना ही पड़ेगा।

निष्पत्ति परीक्षा-पद्धति में विद्यार्थियों को अटकल तथा अनुमान द्वारा विभिन्न प्रश्नों के उत्तर देने का भी यथेष्ट अवसर रहता है। प्रश्न का सही उत्तर न जानने पर परीक्षार्थी अटकल से कोई भी उत्तर दे देंगे और इस बात की संभावना है कि अनेक उत्तरों में से उनके कुछ उत्तर दैवयोग से सही भी निकल जाएँ। ऐसी दशा में परीक्षार्थी के प्राप्तांक इस बात का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं देते कि वे केवल उनके ज्ञान की प्राप्ति के सूचक हैं।

नवीन परीक्षा-प्रणाली के समर्थक उनके इन दोषों तथा न्यूनताओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु अभी तक उन्हें इस दिशा में पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई है। संभवतः निबंध-लेखन की योग्यता की परीक्षा करने में नवीन प्रकार के परीक्षणपत्र अधिक सफल न हो सकेंगे। इसके विपरीत निबंधात्मक परीक्षा-

प्रणाली में प्रश्नपत्रों को बनाने की सरलता तथा तथ्यों को निबंधरूप में व्यक्त करने का लाभ हमें उसका पूर्ण बहिष्कार भी नहीं करने देता। अतएव, यह सुझाव सबसे अच्छा है कि दोनों प्रणालियों का संयुक्त प्रयोग कर एक-दूसरे की न्यूनताओं की पूर्ति कर ली जाए, और दोनों के लाभ प्राप्त कर लिए जाएँ। इससे दोनों के दोषों से भी बचा जा सकता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक पाठ्यविषय में परीक्षा के लिए दो पर्चे दिए जा सकते हैं। एक तो तथ्यों के ज्ञान की जाँच के लिए निष्पत्ति परीक्षण के आधार पर तीस मिनट की परीक्षा हो, तथा दूसरी निबंधरूप में ऐतिहासिक ज्ञान को व्यक्त करने की क्षमता जाँचने के लिए निबंधात्मक प्रणाली के आधार पर दो अथवा तीन प्रश्नों का एक-डेढ़ घंटे का पर्चा दिया जाए। इस प्रकार बालक के पाठ्यविषयक ज्ञान तथा योग्यता की पूर्ण जाँच संभव हो सकती है।

केवल एक वार्षिक परीक्षा के आधार पर ही परीक्षार्थियों की सफलता अथवा असफलता निश्चित करना भी सर्वथा अनुचित है। परीक्षा जीवन की एक सतत् क्रिया है और इस कारण शिक्षा में भी उसका प्रयोग बराबर होते रहना चाहिए। थोड़े-थोड़े समय के अंतर से परीक्षा लेने से बालकों की निष्पत्ति की जाँच बराबर होती रहती है और उन्हें अपने पाठ्यविषयों के अध्ययन में निरंतर लग्न रहने की प्रेरणा मिलती है। हमारे देश में वर्तमान परीक्षा-पद्धति का एक बड़ा दोष यह है कि उसमें केवल वार्षिक परीक्षा ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है और विद्यार्थी के वर्ष भर का कार्य केवल एक बार ही जाँचा जाता है। परिणामस्वरूप, विद्यार्थीगण पूरे वर्ष अपने अध्ययन की उपेक्षा कर केवल वर्ष के अंत में कुछ दिनों में ही सब कुछ पढ़-लिख डालने का प्रयत्न करते हैं और इसके अनेक दुष्परिणामों को भोगते हैं। इसके अतिरिक्त वार्षिक परीक्षा में किसी भी कारण से असफल हो जाने वाले विद्यार्थी को पुनः दूसरी बार परीक्षा के लिए पूरे एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतएव, हमारी शिक्षा-व्यवस्था में इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि विद्यार्थियों की परीक्षा यदि प्रति सप्ताह नहीं तो प्रतिमास अवश्य हो और इन सब के आधार पर ही बालक की प्रगति अथवा सफलता-असफलता निश्चित की जाए।

इस प्रकार सतत परीक्षण द्वारा विद्यार्थी के पाठ्यक्रम विषयक ज्ञान की जाँच सम्यक् रीति से हो सकती है। परन्तु, हमारी शिक्षा का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं कि विद्यार्थी के कोरे ज्ञानार्जन की जाँच कर ली जाए। इस पुस्तक के प्रारंभिक पृष्ठों में हम शिक्षा के जिन विशद उद्देश्यों का निर्धारण कर आए हैं उनके अनुसार परीक्षा द्वारा यह भी जानना आवश्यक है कि बालक ने जीवन की भावनात्मक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि दिशाओं में कितनी प्रगति की है और इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में उसकी

योग्यता का स्तर क्या है? परीक्षा द्वारा इन सभी बातों की जाँच होनी चाहिए। तभी हम बालक की सम्पूर्ण उन्नति का अनुमान लगा सकते हैं। अतएव, लिखित परीक्षा के अतिरिक्त मौखिक परीक्षा एवम् संदर्शन का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। संदर्शन द्वारा बालक के शारीरिक स्वास्थ्य, चाल ढाल, आचरण, वेशभूषा, वार्तालाप का ढंग, स्वच्छता आदि के विषय में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उसके द्वारा विभिन्न विषयों तथा समस्याओं पर बालकों के अपने विचार भी जाने जा सकते हैं।

भारतीय परीक्षा-प्रणाली में संदर्शन का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। केवल विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं तथा कुछ प्रतियोगिता-परीक्षाओं में उसे महत्व दिया जाता है। पाठशालाओं में कहीं-कहीं मौखिक परीक्षाएँ अवश्य ली जाती हैं परन्तु बड़े ही अनियमित तथा उदासीनता के ढंग से। जो संदर्शन होते भी हैं उनमें अत्यंत अवैज्ञानिक तथा अपरिपक्व विधि का प्रयोग किया जाता है। जन-सेवा-आयोग के संदर्शन भी व्यक्तिनिष्ठ एवम् अवैज्ञानिक होते हैं। संदर्शक न तो विशिष्ट प्रशिक्षण-प्राप्त होते हैं और न उन्हें इस क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रविधियों का ही ज्ञान होता है। अमरीका आदि देशों में तो संदर्शन को अत्यंत विश्वसनीय, वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक रूप दिया गया है और उसमें संदर्शक की व्यक्तिगत राय एवम् अनुमान से ऊपर उठकर पूरी नाप-तौल के साथ निर्णय किए जाते हैं। हमारे देश में भी इस बात की आवश्यकता है कि बालक के व्यक्तित्व के विकास एवम् विविध दिशाओं में उसकी प्रगति की समुचित परीक्षा के लिए संदर्शन का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए और उसकी व्यवस्था पूर्णतया वैज्ञानिक रीति से हो।

लिखित परीक्षा एवम् संदर्शन के अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि बालक की योग्यता एवम् प्रगति से परिचित किसी व्यक्ति की राय जानी जाए। वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का यह दोष प्रायः सभी स्वीकृत करते हैं कि उसमें बाहर के परीक्षक जो विद्यार्थी के निष्पत्ति-स्तर एवम् विकास से सर्वथा अपरिचित होते हैं केवल उत्तरपुस्तक अथवा पाँच मिनट के संदर्शन के आधार पर ही उसके भाग्य का निपटारा कर देते हैं। उच्च स्तर पर तथा विश्व-विद्यालयों में प्रायः बाह्य परीक्षकों (एक्सटर्नल एग्ज़ामिनर्स) के द्वारा यही होता रहता है। परन्तु, कभी-कभी यह भी देखा गया है कि लिखित परीक्षा एवम् संदर्शन में पूर्णतया प्रभावहीन व्यक्ति वस्तुतः अत्यंत परिश्रमशील एवम् उन्नत होते हैं। उनके व्यक्तित्व के विषय में इन गुणों का परिचय प्राप्त करने के लिए ऐसे व्यक्ति का विचार जानना आवश्यक है जो उनसे तथा उनकी प्रतिदिन की प्रगति से परिचित हो। विद्यार्थी के विषय में सर्वाधिक ज्ञान

रखने वाला यह व्यक्ति उसका शिक्षक ही है। शिक्षक विद्यार्थी के विचारों, चारित्रिक गुणों-अवगुणों, रुचियों, पढ़ाई लिखाई, सामाजिक एवम् भावनात्मक उन्नयन आदि के विषय में यथेष्ट जानकारी रखता है। अतएव, प्रत्येक विद्यार्थी के विषय में अध्यापक की राय भी परीक्षा का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। उसके द्वारा विद्यार्थियों के क्रमबद्ध वर्गीकरण का महत्त्व परीक्षा-फल के निर्णय में मान्य होना चाहिए।

वास्तव में पाठशाला में शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों के अनुरूप प्रत्येक बालक की विविध दिशाओं में प्रगति तथा निष्पत्तिस्तर का सम्पूर्ण अभिलेख उपलब्ध होना आवश्यक है। इस प्रकार के सामूहिक अभिलेख द्वारा ही बालक का सम्पूर्ण चित्र नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होता है। कोई भी व्यक्ति इस अभिलेख को देख कर बालक के विषय में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकता है। शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक, भावनात्मक आदि विभिन्न दिशाओं में उसके विकास, परीक्षाफल, पाठ्यविषयान्तर क्रियाओं में उसकी रुचि तथा सहयोग आदि सभी बातों का एक स्थान पर सम्पूर्ण विवरण ही इस अभिलेख का उद्देश्य है। इससे बालक की इन दिशाओं में क्रमिक प्रगति का ज्ञान संभव होता है। इस प्रकार के सामूहिक अभिलेख के निमित्त निश्चित प्रकार के सामूहिक अभिलेखपत्रों का प्रयोग पाठशालाओं में किया जाता है। उसमें बालक के विषय में सम्पूर्ण विवरण वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर अंकित किया जाता है। प्रयत्न इस बात का होता है कि बालक के विषय में कोई भी आवश्यक सूचना, तथ्य एवम् सामग्री छूटने न पाए। परिशिष्ट संख्या ९ में हम इस प्रकार के सामूहिक अभिलेखपत्र का एक नमूना आंशिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे उनके विषय में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

इन सामूहिक अभिलेखपत्रों को भरने में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इसकी प्रविष्टियाँ कम से कम प्रति तीसरे महीने अवश्य की जाएँ। पुराना पड़ जाने पर कोई भी अभिलेख बालक के विषय में सामयिक अथवा तत्कालीन सूचना नहीं दे सकता। वह बालक की वर्तमान दशा का सूचक नहीं होगा। यह तभी संभव है जब कि सामूहिक अभिलेख की प्रविष्टियाँ बालक की प्रगति के साथ ही साथ अंकित होती रहें। अभिलेख का उद्देश्य एवम् कृत्य तभी पूरा हो सकता है जब कि उसे सामयिक बनाने का सतत प्रयत्न होता रहे। हमारी पाठशालाओं में बालक के विषय में आजकल जो अभिलेख रखे जाते हैं वे एक ओर तो अति-संक्षिप्त तथा न्यून होते हैं और दूसरी ओर उनकी सामग्री को सामयिक बनाने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप, ये अभिलेख ग़लत तथा पुरानी सामग्री से युक्त होते हैं और बालक के विषय में ठीक सूचना देने में असमर्थ रहते हैं। अतएव, हमारी पाठ-

शालाओं में बालक की प्रगति के विषय में पूर्ण विवरण सहित सामूहिक अभिलेख रखने का प्रचलन अधिकाधिक बढ़ना चाहिए और कुछ पाठशालाओं में इस ओर आवश्यक क़दम उठाया जा रहा है।

यह कहना आवश्यक है कि आजकल हमारी परीक्षा-प्रणाली में ज्ञान-संचय के परीक्षण पर ही सारा बल दिया जाता है। वास्तव में ज्ञान का अर्जन तथा केवल अर्जित ज्ञान का ही परीक्षण एक ऐसा दूषित एवम् संकुचित वृत्त है जिसके भीतर हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था निर्जीव होकर पड़ी है। यदि हम कोरे ज्ञानार्जन को ही शिक्षा का उद्देश्य न मानकर बालक के सार्वभौम विकास को उसकी शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं तो परीक्षा द्वारा उसके विविध दिशाओं में विकास की प्रगति का समुचित परीक्षण होना अत्यंत आवश्यक है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हमारी परीक्षा-प्रणाली में निबंधात्मक तथा नवीन दोनों का प्रयोग होना चाहिए, परीक्षा वर्ष में केवल एक बार न होकर समयांतर से वर्ष भर चलती रहनी चाहिए, बालक के विषय में अध्यापकों की राय ही विशेष मान्य होनी चाहिए, मौखिक परीक्षा भी होनी चाहिए, और जीवन की विविध दिशाओं में प्रत्येक विद्यार्थी के क्रमिक विकास का विस्तृत विवरण सामूहिक अभिलेख के रूप में प्रत्येक विद्यालय में होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त की यह मौलिक आवश्यकता है कि शिक्षा के उद्देश्य महान्, व्यापक, एवम् उपयोगी हों, उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वैज्ञानिक ढंग से प्रयत्न किए जाएँ तथा प्राप्त परिणामों का परीक्षण करने के लिए विशद परीक्षा-प्रणाली की संयोजना की जाए। तभी हमारी शिक्षा अपना कर्तव्य पूरी तरह निबाह सकती है, और तभी हमारे भावी नागरिकों में सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की प्रतिष्ठा उच्चस्तर पर हो सकती है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

(नवीन परीक्षा-प्रणाली में प्रयुक्त निष्पत्ति परीक्षण पत्र का आंशिक नमूना)

जब तक तुमसे कहा न जाय यह पन्ना मत उलटो

इतिहास परीक्षा

(कक्षा ९)

इन्हें भर दो

अपना नाम ....

अपने पिता का नाम ....

अपने शहर का नाम ....

अपने स्कूल का नाम ....

अपनी कक्षा ....

अपना सेक्शन ....

अपना धर्म ....

अपनी जाति ....

जन्म तिथि ....

आज की तारीख़ ....

नीचे लिखी बातें ध्यान से पढ़ो :—

१. जब तुमसे पर्चा शुरू करने को कहा जाय तो सवाल जितनी जल्दी और होशियारी से कर सकते हो करो।

२. पहले सवाल से शुरू करो और लगातार सवाल एक दूसरे के बाद करते चले जाओ।

३. यदि कोई सवाल तुमको नहीं आता तो उसे छोड़ दो, अगला सवाल करो
४. जब एक पृष्ठ समाप्त कर लो तो अगले पृष्ठ पर काम शुरू करो।
५. यदि कुछ लिखना चाहो तो दाहिने या बायें हाथ की ख़ाली जगह पर लि सकते हो।
६. यदि कोई उत्तर बदलो तो काट कर साफ़-साफ़ लिखो।
७. किसी प्रकार का सवाल न पूछो।
८. इस प्रश्नपत्र को पूरा करने के लिए तुम्हें केवल ४० मिनट का सम मिलेगा। इसलिए शीघ्रतापूर्वक कार्य करो।

इस पत्र में जो प्रश्न हैं उनको जितनी जल्दी और होशियारी के साथ व सकते हो करो। पहले प्रश्न से शुरू करो और लगातार एक दूसरे के बाद कर जाओ। जब किसी पृष्ठ के अंत पर पहुँचो तो अगले पृष्ठ पर झट काम शुरू करो यदि कोई प्रश्न तुम्हें नहीं आता हो तो उस पर समय नष्ट न करो और अगला प्र करो। अब शुरू करो।

उदाहरण

मौर्यकाल में पाटलीपुत्र नगर का प्रबन्ध किसके द्वारा होता था ?

(म्युनिसिपल कमेटी)

अब इसी प्रकार इन प्रश्नों को करो :—

–६ १. सिकन्दर के आक्रमण के समय किस वंश के राजा मगध पर राज्य व रहे थे ?
२. बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का क्या नाम पड़ गया ?
३. राजा हर्ष को दक्षिण के किस राजा ने हराया था ?
४. महमूद गज़नवी ने सोमनाथ पर किस सन् में आक्रमण किया था ?
५. फ़ीरोज़ के समय में दासों की संख्या कितनी हो गई थी ?
६. विजयनगर राज्य की नींव दिल्ली के किस बादशाह के समय में पड़ी थी ?

७—८. नीचे लिखे वाक्य में कुछ शब्द छूटे हुये हैं। उनको दी हुई रेखाओं लिखो ताकि वाक्य का अर्थ पूरा हो जावे :—जैन धर्म के प्रवर्तक••• का जन्म•••••••ई० पू० में हुआ था।

९—१०. बौद्ध धर्म और जैन धर्म में केवल दो विषयों पर मत भेद है। जिन दो **विषयों** पर मत भेद है **उनके सामने × का चिन्ह बना दो :—**

(क) ब्राह्मण धर्म का विरोध ( )
(ख) जाति भेद मानना ( )
(ग) तपस्या पर ज़ोर ( )
(घ) जीवन की पवित्रता पर ज़ोर ( )
(ङ) ईश्वर को मानना ( )
(च) मोक्ष का आदर्श ( )

११—१४. अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए **चार महत्वपूर्ण कार्य** किये। नीचे कुछ कार्य दिये हुए हैं उनमें **जो चार वैसे हों** उनके **सामने × का चिह्न बना दो :—**

(क) दूर-दूर प्रचारक भेजे। ( )
(ख) महामात्र नियुक्त किये। ( )
(ग) क़ानून कठोर बना दिया। ( )
(घ) जगह-जगह लाटें इत्यादि गड़वाईं। ( )
(ङ) प्रचार के लिये रुपये की कमी के कारण और कर लगा दिये। (×)
(च) पाटलीपुत्र में बौद्ध सभा की। ( )

१५—१७. नीचे पहले तीन बादशाहों के नाम दिये हुये हैं। फिर उनके भारतवर्ष पर आक्रमण करने के उद्देश्य दिये हुये हैं जिनमें केवल तीन ठीक हैं। जिस बादशाह ने जिस उद्देश्य से आक्रमण किया हो **उस बादशाह का नम्बर उस उद्देश्य के सामने लिख दो :—**

बादशाह

१. मुहमम्द ग़ोरी
२. महमूद ग़ज़नवी
३. मुहम्मद बिन क़ासिम

कारण

१. धन प्राप्त करने की लालसा 2 ( )
२. धर्म प्रचार की लालसा ( )

३. राज्य स्थापना की इच्छा ( )
४. विश्वविजयी बनने की आकांक्षा ( )
५. अपमान का बदला लेने की इच्छा ( )

अब तुमको ऐसे प्रश्न करने हैं जिसमें **एक प्रश्न के लिए** बहुत से उत्तर दिये हुये हैं। परन्तु उनमें **केवल एक ही उत्तर** ठीक है। उत्तर के सामने X का चिन्ह बनाना होगा।

उदाहरण

मुहम्मद तग़लक़ ने तांबे का सिक्का चलाया तो प्रत्येक मनुष्य अपने घर में तांबे का सिक्का बनाने लगा। इसके कुछ कारण नीचे दिये हुये हैं जिनमें केवल एक ही कारण ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने X का चिन्ह बना दो :—**

(क) तांबे के सिक्के आसानी से बन सकते थे। ( )
(ख) तांबे के सिक्के व्यापारी आसानी से ले लेते थे। ( )
(ग) लोग बादशाह को प्रसन्न करने के लिये बनाते थे। ( )
(घ) राज्य की ओर से सिक्के बनाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। (X)

अब इसी तरह नीचे लिखे प्रश्न करो :—

१८. समुद्रगुप्त ने जीते हुए प्रदेशों से केवल कर लिया, उन्हें अपने राज्य में नहीं मिलाया। नीचे कुछ कारण दिये हुये हैं जिसमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने X का चिह्न बना दो :—**

(क) वह केवल धन चाहता था। ( )
(ख) वह केवल वीरता दिखाना चाहता था। ( )
(ग) उसने सोचा कि बड़े राज्यों को सम्हालना मुश्किल होगा। ( )

१९. राजपूतों की दुर्बलता के कुछ कारण नीचे दिये हुए हैं जिनमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने X का चिह्न बना दो :—**

(क) युद्ध में हाथियों का प्रयोग करते थे। ( )
(ख) सांसारिक सुखों की ओर अधिक ध्यान देते थे। ( )
(ग) गर्म जलवायु के रहने वाले थे। ( )

(घ) आपस में झगड़ते रहते थे। (×)
(ङ) युद्ध से भाग खड़े होते थे। ( )

२०. अरबों को भारतवर्ष में अधिक सफलता नहीं मिली। इसके कुछ कारण नीचे दिये हुये हैं जिसमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने × का चिह्न बना दो :—**

(क) ख़लीफा ने उनकी मदद नहीं की। (×)
(ख) हिन्दू प्रजा ने उनके विरुद्ध विद्रोह किया। ( )
(ग) राजपूत राज्यों ने उनको हरा दिया। ( )
(घ) युद्ध कला में कुशल नहीं थे। ( )

२१. अलाउद्दीन ने बाज़ार-नियन्त्रण किया था। नीचे इसके कुछ कारण दिये हुये हैं जिनमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने × का चिन्ह बना दो :—**

(क) राज्य में अकाल पड़ गया था। ( )
(ख) बाज़ार में वस्तुयें मँहगी बिक रही थीं। ( )
(ग) शासन व्यवस्था बिगड़ रही थी। (×)
(घ) सिपाही कम वेतन से अप्रसन्न थे। ( )

२२. अलाउद्दीन ने किसानों पर ५० प्रतिशत भूमिकर लगाया। इसके कुछ कारण दिये हुये हैं। **जो एक ठीक हो उसके सामने × का चिह्न बना दो :—**

(क) ख़ज़ाना ख़ाली हो गया था। ( )
(ख) किसान अत्यन्त धनी थे। ( )
(ग) वे विद्रोह कर रहे थे। (×)
(घ) वे हिन्दू जाति के थे। ( )

२३. मुहम्मद तुग़लक़ ने ताँबे का सिक्का चलाया था। इसके कुछ कारण नीचे दिये हुए हैं जिनमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने × का चिह्न बना दो :—**

(क) वह प्रजा को धोखा देना चाहता था। ( )
(ख) सिक्के बनाने के लिए सोना नहीं था। (×)
(ग) वह नये-नये प्रयोग करना पसन्द करता था। ( )

(घ) अफ़ग़ानिस्तान में ताँबे के सिक्के पहले से ही चल रहे थे। (　)
(ङ) ताँबे के सिक्के आसानी से बन सकते थे। (　)

२४. तैमूर ने भारतवर्ष पर क्यों आक्रमण किया था ? इसके कई कारण नीचे दिये हुये हैं जिसमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने × का चिन्ह बना दो :—**

(क) वह मुहम्मद तुग़लक़ से अपने बेटे के अपमान का बदला लेना चाहता था। (　)
(ख) वह धन और इस्लाम का प्रचार चाहता था। (×)
(ग) वह राज्य बढ़ाना चाहता था। (　)

२५. दिल्ली में आरम्भ के मुसलमान काल में जल्दी जल्दी कितने ही वंश गद्दी पर बैठे। इसके कुछ कारण नीचे दिये हुये हैं जिनमें **केवल एक** ठीक है। **जो ठीक हो उसके सामने × का चिन्ह बना दो :—**

(क) शासित प्रजा हिन्दू थी। (　)
(ख) बराबर बाहरी आक्रमण होते रहे। (×)
(ग) समय समय पर भयंकर अकाल पड़े। (　)
(घ) शासन राजा की योग्यता पर निर्भर था। (　)

(इसी प्रकार और प्रश्न होते हैं।)
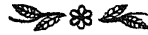
परिशिष्ट—२

(पाठशालाओं में प्रत्येक विद्यार्थी के विषय में सामूहिक अभिलेख रखने के निमित्त प्रयुक्त अभिलेखपत्र का आंशिक नमूना नीचे दिया गया है। ये अभिलेखपत्र प्रायः ६ अथवा इससे भी अधिक भाग में होते हैं। एक भाग में बालक की सामाजिक दशा का विवरण होता है, दूसरे में पाठ्यविषयों में प्रगति तथा पढ़ाई-लिखाई आदि का ब्यौरा, तीसरे में खेलकूद तथा मनोरंजन-विषयक विवरण दिया रहता है, चौथे में चारित्रिक एवम् भावनात्मक विवरण, पाँचवें में शारीरिक स्वास्थ्य के विषय में विस्तृत तथ्य तथा सूचनाएँ और छठे में व्यक्तित्व की निजी विशेषताओं, रुचियों अथवा समस्याओं का विशद उल्लेख होता है। हम यहाँ अभिलेखपत्र के केवल सामाजिक दशा का विवरण देने वाले अंश का नमूना दे रहे हैं। इसके अन्तर्गत जो बातें विस्तार के साथ वर्णित होती हैं: उन पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी प्रकार अन्य विवरण रखने वाले भागों का अनुमान किया जा सकता है। तिथि का उल्लेख करने के लिए इस नमूने में चार कोष्ठक दिए गए हैं जिनमें प्रति तीसरे महीने प्रविष्टि करनी होगी। परन्तु, वास्तविक अभिलेखपत्र एक लम्बे काग़ज़ पर रजिस्टर के रूप में होगा जिसमें बालक के विषय में पाठशाला में पूरे अध्ययनकाल की सब वर्षों की प्रविष्टियाँ एक ही स्थान पर हों। पाठशाला में भर्ती होने के समय से लेकर पाठशाला छोड़ने के समय तक का विद्यार्थी का सम्पूर्ण विकास इस सामूहिक अभिलेख से स्पष्ट हो जाता है। एक पाठशाला से दूसरे में स्थानान्तरण होने पर यह अभिलेख पत्र भी स्थानान्तरित हो जाता है और इस प्रकार नए अध्यापकों को उनकी पृष्ठभूमि से अवगत कराता है।)

सामूहिक अभिलेखपत्र

पाठशाला का नाम... ..

बालक का चित्र

पाठशाला में बालक की क्रम संख्या...कक्षा में बालक की क्रम संख्या...

बालक का नाम————————

निवास स्थान———— मोहल्ला————

पिता का नाम———— जन्म तिथि————

माता का नाम———— जन्म तिथि————

अभिभावक का नाम———— जन्म तिथि————

बालक की जन्म तिथि————————

पाठशाला में बालक की प्रवेश तिथि————————

पाठशाला में बालक को प्रवेश कराने कौन साथ आया था ?————

सामाजिक विवरण	*तिथि*		
बालक के पिता :			
उनकी शिक्षा			
उनका व्यवसाय			
उनकी रुचियाँ तथा पसन्द के मनोरंजन			
उनकी दार्शनिक विचारधारा			
उनकी राजनीतिक विचारधारा			
उनका स्वभाव			
उनका मित्र-समाज			

विवरण	तिथि		
बालक की माता :—			
उनकी शिक्षा			
उनका व्यवसाय (यदि है तो)			
उनकी रुचियाँ तथा पसंद के मनोरंजन			
उनकी दार्शनिक विचारधारा			
उनकी राजनीतिक विचारधारा			
उनका स्वभाव			
उनका मित्र-समाज			
बालक के भाई-बहिन :			
उनकी आयु			
कहाँ पढ़ रहे हैं ?			
उनकी रुचियाँ			
उनके पसन्द के खेलकूद			
पारिवारिक वातावरण :			
परिवारिक का रूप—सम्मिलित अथवा अकेला			
परिवार में कुल सदस्यों की संख्या			
परिवार में कौन-कौन सम्बन्धी हैं ?			
परिवार में सदस्यों का आपसी व्यवहार —सहयोगपूर्ण/संघर्षपूर्ण			
धनार्जन करने वालों की संख्या			
आय			
आय के साधन			
ख़र्च			

विवरण	तिथि		
बड़े ख़र्चे			
नौकरों की संख्या			
पुरुष			
स्त्री			
अतिथियों की संख्या (साधारणतया कम या अधिक)			
अतिथि-सत्कार का रूप			
मोहल्ले का वातावरण :—			
मकान की स्थिति			
मकान में स्थान/कम-अधिक			
रोशनी-हवा का प्रबन्ध			
बालक के साथी/उच्च घर के			
मध्य घर के			
निम्न घर के			
बालक के साथी/ बालक अथवा बालिकाएँ			
बालक—			
सामाजप्रिय अथवा			
एकान्तप्रिय			
खेलने के स्थान			
बालकों की संस्थाएँ			
पाठशाला का वातावरण			
बालक के मित्र/ कम या अधिक			
बालक में मित्रों का नैतिक स्तर			
सामाजिक समस्याएँ			
सामाजिक कार्य जिनके लिए उसे दंड मिला हो			

विवरण	तिथि		
सामाजिक कार्य जिनके लिए चुने पारितोषिक मिला हो			
बालक की सामाजिक विचारधारा			
बालकों की सामाजिकता पर माता का विचार			
बालक की सामाजिकता पर पिता का विचार			
बालक की सामाजिकता पर मोहल्ले के किसी माननीय व्यक्ति का विचार			
बालक की सामाजिकता पर कक्षा के मुख्य अध्यापक का विचार			

(आगे के भागों में इसी विस्तार के साथ शारीरिक स्वास्थ्य, पढ़ाई-लिखाई, परीक्षाफल आदि का व्यौरा होता है।)
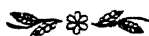
परिशिष्ट—३

(पुस्तक में स्थान-स्थान पर उल्लिखित शिक्षाशास्त्रियों का संक्षिप्त परिचय)

सुक़रात (४६९ ई० पू०—३९९ ई० पू०)

सुक़रात का जन्म एथेन्स में हुआ था। उस समय तर्कवादियों के प्रभाव के कारण धार्मिक एवम् राजनीतिक क्षेत्रों में लोग प्राचीन आदर्शों को भूलने लगे थे। उनका शारीरिक तथा मानसिक ह्रास हो रहा था। बौद्धिक विकास के हेतु तर्क-वितर्क के जाल में नैतिकता का कोई स्थान नहीं रह गया था। अपने स्वार्थ की पूर्ति ही भले-बुरे की पहिचान का माप-दंड बन गई थी। स्पार्टावासियों से पराजित हो जाने के कारण एथेन्सवासी अपना सारा आत्मविश्वास खो बैठे थे। ऐसे समय उन्हें नया जीवनदान करने का प्रयत्न सुक़रात ने किया। उन्होंने अपना शिल्पकारी व्यवसाय छोड़कर अध्यापन कार्य अपनाया और सत्य, सदाचार, सौन्दर्य आदि नैतिक आदर्शों की सार्वभौमता सिद्ध की। उन्होंने नैतिक जीवन के लिए विवेक को अत्यन्त आवश्यक बताया और इसी आधार पर 'गुण ही ज्ञान है' के कथन की सार्थकता दर्शाई। उनके अनुसार अज्ञान का नाश एवम् सत्य का ज्ञान होने पर मनुष्य कर्त्तव्य-परायण बनता है तथा वास्तविक सुख का अनुभव करता है। अतएव, बौद्धिक अन्तर्दृष्टि ही नैतिक जीवन की आधार-शिला है। तर्कविद्या के सहारे सच्चा ज्ञान अपने अनुभव से प्राप्त करना चाहिए क्योंकि दूसरों से सीखा हुआ ज्ञान चरित्र को बहुत कम प्रभावित करता है।

प्लेटो (४२७ ई० पू०—३४७ ई० पू०)

प्लेटो सुक़रात के विचारों से प्रभावित थे, परन्तु दोनों में यथेष्ट अन्तर भी है। प्लेटो में सुक़रात की अपेक्षा विचारों की गहराई अधिक है। सुक़रात निर्धन परिवार के थे और प्लेटो उच्च कुल के। सुक़रात के अनुसार कोई भी व्यक्ति सत्य का दर्शन कर सकता है, परन्तु प्लेटो के अनुसार सच्चा ज्ञान केवल कुछ उच्च वर्गीय व्यक्तियों

के लिए ही सम्भव है, शेष केवल मत निर्धारित कर सकते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य की सुव्यवस्था केवल उन्हीं के द्वारा सम्भव है जो वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं।

प्लेटो के अनुसार इस ज्ञान-प्राप्ति के तीन स्रोत हैं : (१) ज्ञानेन्द्रिय, (२) सम्मति, तथा (३) विवेक। ज्ञान का यह तीसरा स्रोत ही वास्तव में माननीय है क्योंकि उसी के द्वारा सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् चिरन्तन सत्यों की अनुभूति होती है। प्लेटो ने वाह्य अथवा स्थूल जगत को मिथ्या माना है क्योंकि वह परिवर्तनशील है। आदर्श विचारों का जगत ही वास्तव में सत्य है। विचार स्वयम् एक दैवी शक्ति द्वारा सुसम्बद्ध रहते हैं तथा ईश्वर की सत्ता पर प्रकाश डालते हैं। प्लेटो मनुष्य के विवेक को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार शिक्षा का कार्य बालक में सुप्त विवेक को जाग्रत करना है। प्लेटो ने निम्न, मध्य तथा उच्च वर्ग के लिए क्रमशः खेती-बारी तथा व्यापार, सैनिक-प्रशिक्षण, और दार्शनिक विषयों के अध्ययन का सुझाव दिया है। उनके अनुसार विभिन्न अवस्थाओं में बालक की परीक्षा करके उसे अपनी शिक्षा में अग्रसर होने का अवसर दिया जाना चाहिए। इसी कारण प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था को प्रायः नीच-ऊँच के वर्गों पर आधारित कहा जाता है।

अरस्तू (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०)

अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे परन्तु कई बातों में उनका दृष्टिकोण प्लेटो से भिन्न था। वे विचार-जगत की अपेक्षा वस्तु-जगत को मान्यता देते थे। उन्होंने यथार्थता पर बल दिया और इन्द्रियों द्वारा अनुभव तथा तर्क को ज्ञान का स्रोत स्वीकृत किया। वे प्लेटो की भाँति उच्च चरित्र-निर्माण को शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। उनके अनुसार बालक कई अवस्थाओं को पार कर अपने लक्ष्य पर पहुँचता है और इन भिन्न अवस्थाओं में उसकी आवश्यकताओं एवम् उनकी पूर्ति के लिए भी उन्होंने अपने सुझाव दिए हैं। वह शरीर की उन्नति पर ही आत्मा की उन्नति आधारित मानते हैं। प्लेटो के समान ही वे राज्य-नियन्त्रित शिक्षा-व्यवस्था के पक्षपाती थे।

उमर ख़ैयाम (११वीं शताब्दी)

उमर ख़ैयाम का जन्म ख़ुरासान में हुआ था। ये गणितज्ञ एवम् ज्योतिषी के रूप में अधिक प्रसिद्ध थे, कवि के रूप में कम। परन्तु, अपने कार्य से समय निकाल कर वे कविता लिखा करते थे और अब अपनी उन्हीं रुबाइयों के कारण प्रसिद्ध हैं। उनका विचार था कि जीवन क्षणभंगुर है, इसलिए मनुष्य को प्रत्येक क्षण का पूरा आनन्द उठाना चाहिए। उनकी समस्त विचारधारा मस्तीवाद की प्रतीक है।

मार्टिन लूथर (१४८३ ई०—१५४६ ई०)

यूरोप में मध्यकाल में धार्मिक पाखंडों का राज्य हो गया था। गिर्जाघरों में भी धर्म का वास्तविक अर्थ भुला दिया गया था और वाह्याडम्बरों पर विशेष बल दिया जाता था। ऐसी स्थिति में धार्मिक पुनरुत्थान द्वारा नैतिक एवम् धार्मिक क्षेत्रों में सुधार की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। मार्टिन लूथर ने इस आन्दोलन में अग्रणी का कार्य किया। इनके प्रभाव के कारण धार्मिक क्षेत्र में पादरियों की सत्ता क्षीण होने लगी। लूथर ने प्रत्येक व्यक्ति को बाइबिल पढ़ने तथा केवल उसी की सत्यता में विश्वास रखने का आदेश दिया। इससे जनता को इस बात का आश्वासन मिला कि पादरियों के आशीर्वादों की अपेक्षा स्वयम् अपने सत्कर्मों से ही उन्हें अपने पापों से छुटकारा मिल सकता है। लूथर ने शिक्षा को जनसाधारण का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया जिससे सामान्य लोगों में ज्ञान का प्रसार हुआ।

बेकन (१५६१ ई०—१६२६ ई०)

ये यथार्थवाद की विचारधारा के पोषक थे, और शिक्षा में अगमन पद्धति के पालन को प्रोत्साहित करने के पक्ष में थे। उन्होंने अगमन-प्रणाली को प्रयोगात्मक कार्यों के लिए उपयोगी माना है। उनके अनुसार शिक्षा में प्रयोग एवम् निरीक्षण का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि केवल विचार-क्रिया यथार्थता के अध्ययन में हानिकारक सिद्ध हो सकती है। उन्होंने शिक्षा को बालक की प्रकृति के अनुरूप ढालने की आवश्यकता पर बल दिया तथा विज्ञान को पाठ्यविषय के रूप में प्रयुक्त करने का समर्थन किया।

कोमेनियस (१५९२ ई०—१६७० ई०)

कोमेनियस सतरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध शिक्षा-सैद्धान्तिक तथा शिक्षा-सुधारक हुए हैं। वे यथार्थवादी थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ग्रेट डाइडैक्टिक' में शिक्षा में शिक्षा के सिद्धान्त एवम् उसके व्यावहारिक रूप पर विचार किया है। वह शिक्षा की व्यवस्था प्रकृति के आधार पर करना चाहते थे। धार्मिक प्रवृति होने के कारण उन्होंने आदर्श, ज्ञान, गुण तथा ईश्वर भक्ति को ही शिक्षा का उद्देश्य माना। वे सब को शिक्षा का अधिकारी मानते थे, परन्तु यह शिक्षा प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार ही मिलनी चाहिए। उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि लेटिन अथवा ग्रीक आदि भाषाओं को पढ़ने के लिए व्याकरण पढ़ना आवश्यक नहीं। उनके शिक्षा-विज्ञान के अनुसार बालक को ज्ञान प्रदान करने के लिए पहले वस्तुओं का अनुभव कराना चाहिए और

उसके पश्चात् शब्दों का ज्ञान कराया जाए। इसके निमित्त वे वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग आवश्यक मानते थे। वर्तमान समय के अनेक शैक्षिक विचारों पर कोमेनियस का प्रभाव हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

जॉन लॉक (१६३२ ई०—१७०४ ई०)

लॉक भी यथार्थवादी थे और उनका यथार्थवाद स्वानुभववाद पर आधारित था। उनके अनुसार बालक का मस्तिष्क एक स्वच्छ पट की भाँति होता है जिस पर उसके अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान की छाया पड़ती है। बालक को बिना विवेक के सत्य की पहिचान नहीं होती और प्रारम्भ में विवेक का विकास यथेष्ट रूप में नहीं होता। अतएव, आरम्भ में बालकों के स्वास्थ्य एवम् आदतों पर ही ध्यान देना आवश्यक है। ऐसा करने से विवेक के विकास में सहायता मिलती है। लॉक व्यक्तिवादी थे। वे बालकों को जीवन की कला सिखाने के पक्ष में थे, यद्यपि उनके शिक्षाक्रम में कोमल भावनाओं के विकास की चर्चा नहीं है। उनके विचारों से शिक्षा में विनय की भावना को विशेष प्रगति मिली। लॉक शिक्षणविधि पर अधिक बल देते थे। उनके अनुसार बालक को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जो भावी जीवन में उसका पथ-प्रदर्शन करे।

वाल्तेयर (१६६४ ई० — १७७८ ई०)

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में फैले हुए अंधविश्वास, अज्ञान एवम् निरंकुशता के विरोध में जन-आन्दोलन खड़ा करने में वाल्तेयर ने विशेष योग दिया। वे प्राचीन परम्पराओं को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। वे धर्म के विरोधी थे क्योंकि उनके अनुसार धार्मिक बंधन बुद्धि को क्षीण कर देते हैं तथा व्यक्ति के विचार-स्वातंत्र्य में बाधा पहुँचती है। इससे अंधविश्वास बढ़ता है और मनुष्य की उन्नति नहीं हो पाती। परन्तु, वाल्तेयर की सहानुभूति साधारण वर्ग के लोगों से नहीं थी। वह उन्हें शिक्षा एवम् विवेक-विकास के अयोग्य मानते थे। फिर भी, वाल्तेयर ने अपने युग की विचारधारा का सफल नेतृत्त्व किया।

ह्यूम (१७११ ई० — १७७६ ई०)

ह्यूम ने लॉक के विचारों का समर्थन एवम् प्रचार किया। उनके अनुसार बालक वाह्य जगत के सम्पर्क में आकर उपयुक्त भावों का संग्रह करता है। बालक के मनोवैज्ञानिक विकास में इस तथ्य के समर्थन में अनेक परवर्ती शिक्षाशास्त्रियों ने भी अपने विचार प्रगट किए।

रूसो (१७१२ ई० — १७७८ ई०)

रूसो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरकाल में जनता द्वारा अपने अधिकार-प्राप्ति की माँगों के प्रतीक समझे जाते हैं। उन्होंने बौद्धिक-वर्ग की सत्ता का विरोध किया क्योंकि विवेक से भी त्रुटि हो सकती है। मानव-स्वभाव में आस्था होने के कारण उन्होंने कार्यों का आधार चर्च को न मान कर मानव-स्वभाव को माना है और मानव-व्यवहार में आन्तरिक भावनाओं को भी स्थान दिया। रूसो के प्रकृतिवाद का प्रभाव उनकी शिक्षा-प्रणाली पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अपनी पुस्तक 'एमील' में रूसो ने एक काल्पनिक बालक की सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था प्रकृतिवाद के विचारानुसार नियोजित की है। उनका विशेष बल बालक के आन्तरिक स्वभाव एवम् नास्त्यात्मक शिक्षा-प्रणाली पर था। रूसो प्रचलित शिक्षा-प्रणाली तथा शैक्षिक सिद्धान्तों के पूर्ण विरोधी थे और आज भी उनका विरोध अनेक शिक्षाशास्त्रियों को प्रभावित कर रहा है।

पेस्तलॉत्सी (१७४६ ई० — १८२७ ई०)

रूसो की शिक्षा-प्रणाली में जो न्यूनताएँ रह गई थीं पेस्तलॉत्सी ने उन्हें पूरा किया। उन्होंने शिक्षा को समाज की सब बुराइयों को दूर करने का साधन स्वीकृत किया। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को शिक्षा का अधिकारी माना तथा यह प्रदर्शित किया कि प्रत्येक बालक के अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने से सम्पूर्ण समाज की उन्नति होती है। उन्हीं के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा में मनोविज्ञान का स्थान सुरक्षित हो गया। पेस्तलॉत्सी ने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव, निरीक्षण एवम् स्वानुभूति को शिक्षा का आधार माना। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की सभी नैसर्गिक शक्तियों का सम्यक् विकास है और उनकी नवीन शिक्षण-विधि इसी उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयत्न करती है। पेस्तलॉत्सी ने मन्द बुद्धि के बालकों की समुचित शिक्षा-व्यवस्था पर भी बल दिया और पाठशालाओं में बालकों की क्रियाशीलता का महत्त्व प्रदर्शित किया।

हरबार्ट (१७७६ ई० — १८४१ ई०)

जहाँ पेस्तलॉत्सी ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किया वहाँ हरबार्ट ने पेस्तलॉत्सी के अनुभवों से प्रेरणा प्राप्त कर अपने मौलिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा को दार्शनिक पुट दिया। उनके अनुसार बालक में

चारित्रिक गुणों का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए, क्योंकि चरित्र के अन्तर्गत समस्त व्यक्तित्व आ जाता है। शिक्षण-प्रविधि के विषय में भी उन्होंने अनेक नियम-उपनियम निर्धारित किए जिनका प्रचलन एवम् प्रभाव अध्यापन-विधि में अब भी पाया जाता है।

फ्रॉयबल (१७८३ ई० — १८५२ ई०)

फ्रॉयबल ने शैशवास्था का महत्व स्वीकृत कर बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। उन्होंने उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके ही उनकी शिक्षा की व्यवस्था करने का सुझाव दिया। वे आदर्शवादी विचारधारा के थे और बालक की प्राकृतिक उच्चता में विश्वास करते थे। उन्होंने बालक की शिक्षा में खेलकूद को प्रधानता दी और क्रियाशीलता के आधार पर अपनी नवीन शिक्षा-प्रणाली 'किंडर-गार्टेन पद्धति' का सूत्र पात किया। आज भी विश्व भर में किसी न किसी रूप में फैली हुई किंडरगार्टेन शिक्षा-संस्थाएँ फ्रॉयबल के व्यापक प्रभाव की द्योतक हैं।

हरबर्ट स्पेन्सर (१८२० ई० — १९०३ ई०).

स्पेन्सर शिक्षा में वैज्ञानिक विषयों के पठन-पाठन के समर्थक थे। उन्होंने अपने ग्रंथ 'वॉट् नॉलेज इज़ ऑव् मोस्ट वर्थ' में शिक्षा के वास्तविक ध्येय पर अपने मतानुसार प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शिक्षा का ध्येय मनुष्य को सम्पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना है। इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि शरीर व मस्तिष्क की सुरक्षा व विकास कैसे होता है, जीविकोपार्जन कैसे किया जाए, सुयोग्य नागरिक कैसे बना जा सकता है, प्रकृतिदत्त सुख-साधनों का सदुपयोग किस प्रकार हो और अपनी सारी शक्तियों को अपने तथा समाज के हित में किस प्रकार प्रयुक्त किया जाए। इन सब के लिए स्पेन्सर ने विज्ञान का सहारा लेने का आदेश दिया है। विज्ञान से उनका तात्पर्य भौतिक एवम् शारीरिक विज्ञान से ही नहीं अपितु सामाजिक, राज-नीतिक तथा नैतिक विज्ञान से भी है।

हक्सले (१८२५ ई० — १८९५ ई०)

हक्सले ने शिक्षा में विज्ञान के समावेश के लिए सर्वाधिक प्रयत्न किया। उनके विचारों में अपनी कोई नवीनता नहीं परन्तु उन्होंने बेकन तथा स्पेन्सर के विचारों को ही ऐसे सीधे तथा सरल ढंग से प्रस्तुत किया कि उनको साधारण व्यक्ति भी समझ सकें। 'ए लिबरल एडूकेशन' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने जीवन में आधु-निक वैज्ञानिक विषयों का महत्व दर्शाया और उसी ढंग से शिक्षा की व्याख्या भी की।

फ्रॉएड (१८५६ ई०—१९३९ ई०)

फ्रॉएड मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपने मनोविश्लेषणवाद के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति में एक अचेतन मन की सत्ता स्वीकृत कर उसकी ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार व्यक्ति का अचेतन मन उसके चेतन मन को प्रभावित करता रहता है। इसी कारण उसके विचार एवम् व्यवहार अस्वाभाविक हो उठते हैं और व्यक्ति अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियों में ग्रस्त हो जाता है। इनसे छुटकारा पाने के लिए एक विशिष्ट प्रणाली द्वारा व्यक्ति के मनोविश्लेषण की आवश्यकता होती है। फ्रॉएड ने काम भावना को ही मनुष्य की क्रियाओं का प्रमुख आधार माना है, यद्यपि अनेक मनोविश्लेषण-वेत्ता उनके इस विचार से सहमत नहीं।

जॉन डीवी (१८५९ ई०—१९५२ ई०)

जॉन डीवी अमरीकी शिक्षाशास्त्री हैं। आधुनिक काल में संसार के समस्त देशों की शैक्षिक विचारधारा पर डीवी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने शिक्षा में प्रयोजनवाद को एक महती शक्ति बना दिया है। उनके विचारानुसार आज की परिस्थितियों के लिए कोई भी पुराने आदर्श एवम् लक्ष्य उपयुक्त नहीं। नई परिस्थितियों के लिए नवीन आदर्शों की खोज का नाम ही शिक्षा है। और इस खोज के लिए प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाना चाहिए। इसीलिए डीवी पाठशाला को एक प्रयोगशाला के रूप में मानते हैं जहाँ अध्यापक व विद्यार्थी स्वानुभव द्वारा नवीन ज्ञान की खोज करते हैं। डीवी ने शिक्षा के सामाजिक पक्ष पर भी काफ़ी ज़ोर दिया। उनकी शिक्षा विषयक अनेक पुस्तकें अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं।

मदन मोहन मालवीय (१८६१ ई०—१९४६ ई०)

आप भारत में हिंदू धर्म की परम्परागत विचाराधारा के प्रतीक थे। वे शिक्षा को भारतीय धार्मिक भावना से ओतप्रोत कर देना चाहते थे। परन्तु इसके साथ ही नवीन विज्ञान एवम् कलाओं के उच्च ज्ञान पर भी उन्होंने बल दिया। लौकिक एवम् धार्मिक भावनाओं के समन्वयरूप का प्रतीक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय भारतीय शिक्षा को उनकी अमूल्य देन है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१ ई०—१९४१ ई०)

रवीन्द्रनाथ हमारे युग के महान् कवि हुए हैं। उनकी कविता में भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद की विचारधारा की झलक मिलती है। वे ईश्वर को प्रेम एवम्

परिशिष्ट—५

(सहायक ग्रंथों की सूची)

हिन्दी पुस्तकें

कालूलाल श्रीमाली : बच्चों को कुछ समस्याएँ; विद्याभवन सोसायटी, उदयपुर, १९४७

डा० कीर्ति देवी सेठ : भारतीय शिक्षा दार्शनिक; वैदिक प्रकाशन, प्रयाग; १९६०

देवनारायण मुकर्जी : शिक्षा-सिद्धान्त, ओरिएन्ट लांग्मैंस; १९५०

प्यारे लाल रावत : प्राचीन से आधुनिक भारतीय शिक्षा का इतिहास; नाथ पब्लिशिंग हाऊस, आगरा; १९५३

बलदेव भाटिया तथा सुबोध अदावाल : शिक्षादर्शन; ओरिएंट लांग्मैंस; १९५४

लालजी राम शुक्ल : बाल-मनोविकास; नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस; १९४८

शशधर दत्त : पाश्चात्य दर्शन का इतिहास; बुकलैन्ड, इलाहाबाद; १९५१

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व; विद्या विहार, देहरादून; १९५३

सरयूप्रसाद चौबे : पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास; नन्दनी नारायण अग्रवाल, आगरा; १९४९
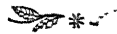
अंग्रेज़ी पुस्तकें

Adams, J. : The Evolution of Educational Theory ; 1938.

Adaval, S. B. : An Investigation into the Quality of Teachers under Training; Unpublished Thesis accepted for the D. Phil. degree of the University of Allahabad; 1952.

Altekar, A. S. : Education in Ancient India; Nand Kishore & Bros., Banaras; 1948.

Board of Education: Handbook of Suggestions for Teachers; H. M. Stationery Office, London.

Bose, N. K. : Selections from Gandhi; Navjivan Publishing House, Ahmedabad; 1948.

Crow & Crow : Introduction to Education; American Book Co., New York; 1950.

Dewey, J. : Democracy and Education; Macmillan & Co,.

Findlay, J. J. : The Foundation of Education, Vol. I; University of London Press: 1928.

Good, H. G. : A History of Western Education; Macmillan Co., New York; 1950.

Graves, F. P. : A Student's History of Education; Macmillan Co., New York; 1947.

Hambridge : New Aims in Education; Wittlesey House, London; 1940.

Henderson, S. V. P. : Introduction to Philosophy of Education; University of Chicago Press; 1948.
Jacks : Total Education; London; 1946.
Jeffreys, M. V. C. : Glaucon; 1950.
Keay, F. E. : Indian Education in Ancient and Later Times; Oxford University Press.
Lee & Lee, M. : The Child and His Curriculum; Appleton Century Crofts, New York; 1950.
Loftus, : Education and the Citizen; 1935.
Menzel, E. W. : Suggestions for the Use of New-Type Tests in India; Oxford University Press; 1952.
Moberley, W. : Plato's Conception of Education and its Meaning for Today; Oxford University Press; 1945.
Nunn, T. P. : Education—Its Data and First Principles; Arnold & Co., Ltd.
Peterson, A. D. C : A Hundred Years of Education; Gerald Duckworth & Co., Ltd., London; 1952.
Raymont, T. : The Principles of Education; Orient Longmans Ltd., Calcutta; 1949.
Report of the Indian Universites Commission; Government of India Press; 1949.
Report of the Secondary Education Commission; Government of India Press; 1954.
Report of White House Conference on Home and School Coöperation ; New York ; 1932.
Ross, J. S. : Groundwork of Educational Theory ; G. G. Harrap & Co., Ltd., London ; 1949.
Rusk, R. R. : The Doctrines of Great Educators ; MacMillan & Co., 1948.

Rusk, R. R. : The Philosophical Bases of Education ; University of London Press.

Russel, B. : Education and the Social Order : Allen & Unwin Co.

Shrimali, K. L. : Adventures in Education ; Vidya Bhawan Udaipur.

Simon & Hubback : Training for Citizenship ; Oxford University Press ; 1936.

Siqueira, T. N. : The Education of India ; Oxford University Press.

Skinner and Langfitt : An Introduction to Modern Education ; Heath & Co., 1937.

Spencer, H. : Education—Intellectual, Moral and Physical ; Watts & Co.

Swami Abhedanand : Ideal of Education ; Gita Press, Gorakhpur ; 1945.

Thorndike and Gates : Elementary Principles of Education ; Macmillan Co., 1931.

Various Headmasters : The Headmaster Speaks ; Kegan Paul ; 1936.

Whitehead, A. N. : The Aims of Education ; New American Library, 1951.

अनुक्रमणिका

ई

उ

ए

ऐ

क

च

छ

ज

ट

ड

त

थ

द

ध

न

य

र